2-282
500
A-172

भारतीय अर्थव्यवस्था
(1757 ईसवी से 1947 ईसवी तक)

Economy of India - 1757 AD-1947 AD

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

Group D :

आधुनिक भारत **(Modern India)**

प्रश्न पत्र-X

Paper-X

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

भारतीय अर्थव्यवस्था (C.1757-1947 A.D.)

Economy of India (C.1757-1947 A.D.)

Group-D

प्रश्नपत्र-X

Paper-X

एम. ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Right Reserved. No part of this pblication may be reproduced or stored in retrieval system
or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, mechanical, photocopying, recording or
otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय सूची

UNIT–I

अध्याय 1:		ब्रिटिश–राज से पूर्व का आर्थिक संगठन	5
अध्याय 2:		ब्रिटिश–पूर्व आर्थिक संगठन का विघटन	13
अध्याय 3:	a)	ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सततता	22
	b)	कृषि का वाणिज्यीकरण	29
	c)	वित्त की संस्थाओं और ग्रामीण ऋणग्रस्तता	35
	d)	अकाल और अकाल नीति	40
	e)	किसान विद्रोह	47
	f)	सिंचाई व्यवस्था का विकास	53

UNIT–II

अध्याय 1:	a)	शहरी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सततता	60
	b)	भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास	64
	c)	औद्योगिक नीति	74
	d)	आद्योगित श्रम और ट्रेड यूनियन आंदोलन	83
	e)	संचार का विकास : डाक तथा टैलिग्राम व्यवस्था	91
	f)	परिवहन का विकास–रेलवे	95

UNIT–III

अध्याय 1:	a)	भारत साम्राज्यवादी विश्व–व्यवस्था में	102
	b)	आर्थिक निकासी	120
अध्याय 2:	a)	वित्तीय–व्यवस्था सीमा शुल्क नीति	128
	b)	वित्तीय–व्यवस्था आधुनिक बैंकिंग प्रणाली	133
अध्याय 3:		मूल्यों की गति	140
अध्याय 4:		जनसंख्या का विकास, अनुमान तथा विनगरीकरण विवाद	146
अध्याय 5:		पर्यावरण और राज्य	154
अध्याय 6:		विउपनिवेशीकरण तथा अर्थव्यवस्थ	160

M.A.HISTORY (FINAL)
GROUP-D
PAPER-X
ECONOMY OF INDIA (C. 1757-1947 A.D.)

Max. Marks – 100
Time : 3 Hours

Note : 10 questions shall be set inthe paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five question, selecting at least one question from each unit. All question shall carry equal marks.

Unit–I

1. Pre-British Economic Organisation.
   a) Rural Economy
   b) Urban Economy
   c) Trade
2. Disintegration of Pre-British Economic Organisation.
   a) Causes of disintegration of Rural economy
   b) Debate over de-industrialisation.
3. Changes and Continuity in Rural Economy.
   a) Experiments in Land Revenue Settlements-aims, performance and results with special reference to permanent settlement Ryotwari settlement and Mahalwari settlement.
   b) Commercialisation of Agriculture.
   c) Institutions of Finance and Rural Indebtedness
   d) Farmines and Famine Policy
   e) Peasant Revolts
   f) Development of Irrigation System.

Unit–II

1. Change and Continuity in Urban Economy.
   a) Rise of Urban Markets and urban centers.
   b) Development of Modern Industries in India with special reference to Cotton Textile, Jute and Iron and Steel Industry.
   c) Industrial Policy.
   d) Industrial Labour and Trade Union Movement.
   e) Development of Communication Post and Telegraph
   f) Development of Transport – Railways.

Unit–III

1. India in the Imperialist World System.
   a) Foreign Trade-Stages of Mercantilism, Industrial Capitalism and Finance Capitalism.
   b) Drain of Wealth Theory
2. The Fiscal System
   a) Tariff Policy
   b) Modern Banking
   c) Meanging Agency System
3. Price Movements
4. Population : growth, estimates and De-urbanization Controversy.
5. Environment and the State
   a) Ecological Changes-settled peasent villages to control of the Colonial State on the forests.
6. De-Colonialism and Economy.
   a) Consequences of British Rule on Indian Economy

UNIT - I

अध्याय - 1

ब्रिटिश-राज से पूर्व का आर्थिक संगठन

दक्षिण एशिया विशेषकर भारत के आधुनिक अतीत का अध्ययन भारतीय आर्थिक इतिहास के बारे मे धारणाओं पर टिका हुआ है। आर्थिक संरचना और आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया ही हमें किसान–समाज, राजनैतिक गतिविधयों, सम्राज्य की नीतियों तथा जाति, वर्ग और समुदाय के सामाजिक सम्बंधों के बारे मे जानकारी देती है। इसीलिए आर्थिक संरचना और आर्थक बदलाव के स्वरूप को समझने के लिए उत्पादकों, उपभोक्ताओं औरा राज्य के सम्बंधों को समझना जरूरी हो जाता है। जैसे हमारे वर्तमान भारत को समझने में औपनिवेशिक संस्थाओं और आर्थिक नीतियों की विरासत पर नजर डालनी जरूरी हो जाती है उसी प्रकार अंग्रेजी राज के प्रभाव को समझने के लिए ब्रिटिश–राज से पहले के आर्थिक पहलुओं पर नजर डालना भी जरूरी है। प्रारंभिक ब्रिटिश प्रशासकों का विश्वास था कि ब्रिटिश राज के पहले भारत में राजनैतिक उथल–पुथल की वजह से जीवन और सम्पत्ति भी असुरक्षित थी। विशेषकर यह माना जाने लगा कि मुगल साम्राज्य के पतन और सशस्त्र संघर्ष की राह पर चलते नई क्षेत्रीय राज्य–व्यवस्थाओं के विकास ने इस असुरक्षा को बढ़ाया। मुगल सेना और बाद में मराठा सेना के बिखराव से लुटेरों के बड़े दल पैदा हुए जिन्होंने सम्पति और जान की सुरक्षा को खतरे में डाल दिया। इससे जनसंख्या में गिरावट आई और कुछ क्षेत्रों में कृषि और व्यापार बुरि तरह प्रभावित हुए। लेकिन स्पष्ट रूप से, इस प्रकार के आर्थिक घिटन, सामान्य अराजकता और आर्थिक ह्रास के बारे में ठोस और पक्के सबूत नहीं मिलते। इसके अलावा भी ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय आर्थिक जीवन और संरचना के बारे में अनेक प्रकार की भ्रांतिया मौजूद हैं। इन भ्रांतियों में ब्रिटिश पूर्व एक स्वर्ण युग (Golden Age) की कल्पना प्रमुख है जिसे राष्ट्रवादी इतिहास लेखन और लोकप्रिय किवदंतियों से खास बल प्राप्त होता रहा है जो भारत को एक 'सोने की चिड़िया' के रूप में दर्शाने की कोशिश करता है। इस प्रकार की कल्पना और आकलन समाज में व्यापत वर्ग–विभेदों, मेहनतकस तबकों की दुर्दशा, किसानों के अबाध शोषण और जाति–उत्पीड़न के साथ स्त्रियों के आर्थिक और सम्पति के अधिकारों से वंचित रखने जैसे ठोस तथ्यों को नजरअन्दाज करता है।

अठारहवीं सदी की अर्थव्यवस्था के बारे में विवाद

अठारहवीं सदी की आर्थिक व्यवस्था और समाज को लेकर इतिहासकारों में काफी मतभेद है। जदुनाथ सरकार जैसे राष्ट्रवादी इतिहास–लेखन में मुगल–साम्राज्य का पतन और उसके बाद आये अंग्रेजी राज की बुराइयाँ मुख्य केन्द्र–बिंदु रहे। मुगल–साम्राज्य का पतन ही अराजकता और अस्थिरता का प्रतीक मान लिया गया और एक तरह से यह आर्थिक ह्रास का काल भी था। यही विचार समकालीन फारसी लेखकों और बाद में अंग्रेजी विद्वानों ने भी रखे थे। आजकल सी.ए. बेली, आंद्रे विंक और मुज्फ्फर आलम जैसे कई विद्वान साबित कर रहे हैं कि अठारहवीं सदी में आर्थिक ह्रास और विघटन के कोई ठोस सबूत नहीं मिलते। इन्होंने तर्क दिया है कि केन्द्रीय शक्ति या मुगल साम्राज्य के स्थान पर क्षेत्रीय राज्य–व्यवस्थाओं का उदय अवनति और पतन नहीं माना जा सकता। इनकी मान्यता है कि दिल्ली–आगरा क्षेत्र पर अपनी नजर केन्द्रित करने और मुगल दरबार और इसकी प्रशासनिक व्यवस्था (जैसे मनसबदारी, जागीरदारी) पर सारा ध्यान केन्द्रित करने से और क्षेत्रीय इतिहास को अनदेखा करने से भ्रांति होती है कि मुगल साम्राज्य का पतन घोर आर्थिक विघटन को पैदा करता है। ये विद्वान महसूस करते हैं कि एक तरफ जहाँ दिल्ली, आगरा और लाहौर जैसे आर्थिक और व्यापारिक केन्द्रों का महत्त्व घटा तो दूसरी तरफ बनारस, पटना, लखनऊ और पूना जैसे अन्य आर्थिक केन्द्रों का विकास हुआ। सी.ए. बेली का मानना है कि मुगल परम्पराओं में एक इजारेदारी भी थी जो बढ़ते हुए कृषि के वाणिज्यीकरण (commercialisation) के कारण उत्पन्न हुई। यह प्रणाली नये क्षेत्रीय भू–सम्पतिवान वर्गों के विकास पर टिकी हुई थी और इसने कृषि–क्षेत्र के तहत मुद्रा–प्रचलन को अत्यधिक बढ़ावा दिया। शहरों में केन्द्रित नये जमींदार वर्ग और बढ़ते मुद्रा–प्रचलन में लेखा–जोखा रखने वाले व्यवसायिक सेवा देने वाले कुलीन वर्ग का विकास घनिष्ठ रूप से नये क्षेत्रीय राज्यों से जुड़ी हुई प्रक्रिया है। अतः मुगल साम्राज्य का पतन आर्थिक ह्रास के बजाये इन नये वर्गों की समृद्धि का परिचायक है जो इन क्षेत्रीय राज्य–व्यवस्थाओं के प्रमुख सामाजिक आधार–शिला का काम करते हैं। अठारहवीं सदी में उमरा वर्ग या मनसबदारों की राजनैतिक सत्ता कमज़ोर पड़ने लगी। उमरा वर्ग को जागीरों के रूप में भूमि–कर प्रदान करने के व्यवस्था भंग होने लगी। स्थानीय 'निम्न'

सामाजिक समूहों जैसे जाट, मराठा, सिख आदि ने विद्रोह करके जागीरों से प्राप्त लगान की राशि को कम कर दिया लेकिन इस प्रक्रिया ने स्थानीय भू–सम्पतिवान कुलीन वर्ग और जमींदारों की शक्ति को बढ़ावा दिया। मुगल प्रशासनिक व्यवस्था में भी इन वर्गों का इस्तेमान किया गया था और इन्हीं की मदद से राज्य का नौकरशाही ढाँचा कृषि–अधिशेष (agricultural-surplus) किसानों से वसूल करता था। लेकिन मुगल प्रशासनिक ढाँचे के विघटन के बाद इस वर्ग ने अपनी स्थिति मजबूत करनी शुरू कर दी–बढ़ती हुई मुद्रा–प्रचलन की व्यवस्था में राजस्व–कृषक (revenue-farmers) जो प्रतिवर्ष निश्चित राशि अदा करने का वायदा करके उस क्षेत्र के किसानों से भू–राजस्व वसूल करने का अधिकार राज्य से हासिल कर लेते थे–इसी समृद्ध भू–सम्पतिवान (landed magnates) वर्ग से उभरे।

भारतीय ग्रामीण व्यवस्था और ग्राम-समुदाय (Village-Community)

अंग्रेजी राज से पूर्व और अंग्रेजी राज के दौरान भी कृषि सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। इसलिए लम्बी अवधि के आर्थिक परिवर्तन समझने के लिए कृषि–व्यवस्था और कृषकों की जीवन–दशा पर नजर डालना जरूरी है। इसके कोई सबूत नहीं हैं कि अठारहवीं सदी के राजनैतिक मानचित्र में बदलाव का कृषि पर कोई बुरा असर पड़ा होगा। इसका एक कारण मैसूर, मराठा और हैदराबाद जैसे शक्तिशाली राज्यों का विकास था तो दूसरा यह कि कृषि–उत्पादन मुख्यतया किसानों और ग्रामीणों की जीवन–निर्वाह (Subsistance) की जरूरतों को ही पूरा करता था और बाहरी दुनिया में होने वाले आर्थिक–राजनैतिक परिवर्तनों से अछूता सा ही रहा।

कुछ विद्वानों ने जिनमें कार्ल मार्क्स जैसे क्रांतिकारी विचारक भी थे यह विचार दिया कि अंग्रेजी राज से पूर्व भारत एक पूर्णतया स्वायत और स्वावलम्बी ग्रामीण समुदायों का समूह मात्र था। गाँव का कृषि–उत्पादन मुख्य रूप से जीवन–निर्वाह के लिये होता था, बाजार के लिये नहीं। इस प्रकार ग्राम–समुदाय का बाहरी दुनिया से लेन–देन नहीं के बराबर था। ग्रामीण–समुदाय अपनी जरूरत की ज्यादातर वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करते थे। गाँव में लेन–देन वस्तु–विनिमय प्रणाली (Barter) के तहत होता था। कार्ल मार्क्स ने यह भी कहा–इस ग्राम–समुदाय में भूमि की नीजि सम्पत्ति की कोई धारणा नहीं थी अतः वर्ग–विभेद भी विकसित नहीं थे। भू–सम्पति के साझे की सम्पति होने से उन्होंने कहा कि "भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं था"। उनकी मान्यता थी कि जिसे हम भारत का इतिहास कहते हैं वह वास्तव में एक के बाद एक आने वाले आक्रमणकारियों का इतिहास रहा है जिन्होंने अपरिवर्तनशील ग्राम–समुदायों के उपर अपना साम्राज्य कायम किया। इस प्रकार की स्वावम्लम्बी और आत्मनिर्भर ग्राम–समुदाय की व्सवस्था को कार्ल मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई पद्धति (Asiatic mode of Production) नाम दिया। इस स्वायत और पूर्णतया आत्मनिर्भर ग्रामीण–समुदाय के अन्य लक्षण थे कि इसमें कृषि और घरेलू–उद्योग के बीच एक संतुलन और श्रम के विभाजन की बदलावरहित जजमानी व्यवस्था कायम थी। श्रम–विभाजन बहुत ही साधारण किस्म का था। जाति–प्रणाली सामाजिक और व्यवसायिक संगठन का मुख्य आधार थी। संचार और यातायात के आधुनिक साधनों के अभाव में बाहरी जगत से इस आत्मनिर्भर और स्वायत ईकाई का कोई सम्बंध नहीं था। गाँवों की जरूरतें स्थानीय स्तर पर ही पूरी कर जी जाती थी। ये गाँव अपना खाधान्न और कृषि के लिए आवश्यक औजारों का निमार्ण भली–भाँती कर सकते थे और घरेलू काम के लिए जरूरी बर्तन आदि भी गाँव में ही बना लेते थे। आत्मनिर्भर होने के साथ राजनैतिक रूप से भी गाँव पूर्णतया स्वायत ईकाई के रूप में काम करते थे गाँव के पंचायत इनके झगड़े निपटा लेती थी और शासक वर्ग गाँव से भू–राजस्व ही प्राप्त करने का काम करता था। मार्क्सवादी इतिहास–लेखन से जुड़े विद्वानों ने जीवन–निर्वाह पर आधारित कृषि और सीमित विनिमय की बातें स्वीकार करते हुए भी, आर्थिक इतिहास में सबूतों और तथ्यों पर आधारित परिवर्तन की दिशा देखते हुए, इस प्रकार की पूर्णतया इतिहास रहित, वर्ग–रहित, अपरिवर्तनशील सामाजिक–व्यवस्था के विचार को पूरी तरह छोड़ दिया है।"

वास्तव में चार्ल्स मेटकॉफ जैसे अंग्रेज प्रशासकों ने अपनी रोमांचकारी कल्पना से एक आदर्श ग्राम–समुदाय को पैदा किया और इसकी विशेषताओं को बचाये रखने की बात कही। 1830 में मेटकॉफ ने ग्राम–समुदाय को, जमींदारों या कृषकों को भूमिकर एकत्र करने का अधिकार ना देकर, यह अधिकार दिया जाने की हिमायत की। उन्होंने कहा:

"ग्राम–समुदाय एक प्रकार के छोटे गणतंत्र हैं, जिनके पास वह सब कुछ है जिसकी उन्हें जरूरत है या वे विदेशी सम्बंधों से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। जहाँ कुछ नहीं कायम रहता, वह कायम रहते हैं। वंश के बाद वंश नष्ट हो जाते हैं, क्रांति के बाद दूसरी क्रांति आती है, बारी–बारी से हिन्दु, पठान, मुगल, मराठा, सिख और अंग्रेज मालिक बनते हैं, लेकिन ग्राम–समुदाय वैसा ही रहता है।"

बाद अंग्रेज मानव–शास्त्री हेनरी मेन ने भारतीय ग्राम–समुदाय की आत्म–निर्भर तस्वीर को अपनी विकासवादी स्कीम में इस्तेमाल किया और इसे समय और परिवर्तन के थपेड़ों से अप्रभावित पुरूष–प्रधान कबीलों और सामूहिक भ–सम्पति की व्यवस्था बताया। इसके माध्यम से वह वास्तव में भारतीय समाज को विकास की प्रक्रिया में एक पिछड़ी और जड़ता की सीढ़ी पर रखना चाहते थे। अंग्रेज अधिकारियों और प्रशासकों के ग्राम–समुदाय के बारे में प्रारंभिक विचार जजमानी व्यवस्था से प्रभावित थे। इसके

अनुसार गाँव में निर्मित वस्तुओं और सेवाओं को प्रदान करने वाले कारीगरों को अन्न की एक निश्चित राशि इन वस्तुओं और सेवाओं के बदले दी जाती थी। यह वस्तु विनिमय प्रणाली (barter), एक आत्मनिर्भर गाँव–समुदाय, जिसका बाहरी दुनिया से लेन–देन नहीं के बराबर था, में ही सम्भव हो सकती थी। हाँलाकि इस प्रकार की वस्तु विनिमय प्रणाली गाँवों के एक समूह के बीच साप्ताहि मंडियों (स्थानीय) में भी काम करती थी। ब्रिटिश प्रशासकों और भारतीय राष्ट्रवादियों ने जजमानी व्यवस्था की ग्राम–समुदाय की मुख्य धुरी माना जो इस ईकाई को आत्मनिर्भर, अपरिवर्तनशील गैर–बाजारू और समानता पर टिकी व्यवस्था के रूप में पेश करते हैं। लेकिन यह पूरी तरह सच नहीं है। गाँवों में और स्थानीय स्तर पर गाँवों के समूहों के बीच भी बाजारू और मंडियों पर आधारित लेन–देन के रिश्ते मौजूद थे। इसी प्रकार जाति–विन्यास पर आधारित श्रम–विभाजन में खेतिहर मजदूरों और 'उच्च' भू–सम्पति के अधिकार रखने वाले कृषकों के बीच के सामाजिक रिश्ते असमानता पर टिक हुए थे।

कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था

ब्रिटिश राज पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्यतया कृषि पर टिकी थी। उन दिनों मनुष्य और कृषि योग्य भूमि का अनुपात भी इस प्रकार से था कि भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। जोत का आकार मिट्टि, इसके उपजाऊपन और जलवायु पर निर्भर करती थी लेकिन साथ ही साथ यह किसान परिवार के पास उपलब्ध पूँजी और श्रम की मात्रा पर भी निर्भर करता था कि किसान कितनी बड़ी जोत का स्वामी है। जोतों का आकार आमतौर पर बड़ा ही होता था क्योंकि कृषि–योग्य भूमि आसानी से काफी मात्रा में उपलब्ध थी। कृषि–उत्पादन की एक अन्य विशेषता थी कि इसमें काफी विविधता थी और बीज–और उपज का अनुपात (Seed-yield ratio) भी काफी अनुकूल था। इसके अलावा किसान–परिवारों को सामूहिक सम्पति के साधनों (Common Property resources) में भी परम्परागत चरागाह अधिकार हासिल थे विशेषकर चारागाह और जंगली भूमियों में उसे अधिकार प्राप्त थे जो उसकी आजीविका के पूरक स्रोत के रूप में काम आते थे। इसके अलावा हिन्दुस्तान एक उष्न जलवायु वाला देश होने की वजह से किसान–परिवार की जीवन–निर्वाह कि जरूरतें भी काफी कम थी जिसका मतलब था कि जीवन–निर्वाह के अतिरिक्त कृषि उत्पादन, जिसे कृषि अधिशेष (agricultural surplus) कहा जाता है, आसानी से औ।र ज्यादा मात्रा में राज्य और उसके नुमाइंदों को प्राप्त हो सकता था। इसके गैर–कृषि क्षेत्र में विकास की सम्भावनायें बन सकती थी।

कृषि–उत्पादन में खाद्यान्न प्रमुख स्थान रखते थे जिनमें गेहूँ, चावल, जौ, चना, ज्वार–बाजरा, अलसी और दालें मुख्य फसलें थी। गेहूँ अधिकतर गंगा–यमुना दोआब, पंजाब, मुल्तान, मालवा और कान्धार आदि में होता था। जौ पूर्वी भारत को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में उगाया जाता था। चावल वर्षा की अधिकता वाले क्षेत्रों बंगाल, उड़ीसा और बिहार के अलावा कश्मीर, अवध और खनदेश आदि में भी पैदा किया जाता था। ज्वार और बाजरा जैसी मोटी फसलें कम वर्षा वाले शुष्क इलाकों में होती थी। जबकि दालें अधिकतर बिहार, इलाहाबाद, अवध, मालवा, मुल्तान आदि क्षेत्रों में काफी मात्रा में पैद की जा रही थी। रेशेदार फसलों में कपास, जूट, ऊन और सिल्क की पैदावार प्रमुख थी। मालवा, खानदेश और बराड़ कपास–उत्पाद्रउन के मुख्य केन्द्र थे। हाँलाकि अन्य क्षेत्रों में भी कपास की पैदावार होती थी और प्रायः हर गाँव में सूत कातने और बुनने का काम चलता था। ऊन का उत्पादन कश्मीर, हिमाचल और राजस्थान के पश्चिमी भागों में अधिकतर केन्द्रित था। रेशम का उत्पादन बंगाल, गुजरात और बनारस में काफी फैला हुआ था। कुछ महत्त्वपूर्ण फसलों का उत्पादन किसान वाणिज्य की दृष्टि से करते थे। इनमें नील का उत्पादन एक खास स्थान रखता था। मध्य–भारत की अने जगहों के अलावा आगरा, लाहौर, मुल्तान, मालवा और अजमेर में भी इसका उत्पादन किया जा रहा था। बयान और सरखेज की नील को विशेष दर्जा हासिल था। गन्ना, पोंस्त और तम्बाकू अन्य महत्त्पूर्ण वाणिज्यी फसलें थी। पोस्त से ही अफीम निकाली जाती थी और इसका उत्पादन आगरा, अवध, इलाहाबाद, लाहौर, मुल्तान और मालवा आदि में थिा जाता था।

हिन्दुस्तान की कृषि मुख्यतया प्रकृति और मानसून पर निर्भर करती थी। सिंचाई–व्यवस्था इतनी सशक्त नहीं थी। इसमें परम्परागत तरीकों का इस्तेमाल काफी होता था। सिंचाई के लिए नीद, तालाब और कुओं का इस्तेमाल भी होता था। कहीं–कहीं नहरों द्वारा भी सिंचाई की जाती थी। कुओं से चरस या रहट के द्वारा पानी निकाल कर सिंचाई की जाती थी। खेतों में पशुओं के गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। किसना अदल–बदल पर फसन बोने की विधि, जो भूमि को उर्वरा शक्ति को बनाये रखने में मददगार वैज्ञानिक विधि थी, से भी परिचित थे। कई उपजाऊ इलाकों में किसान साल में एक से अधिक फसलें लेते थे। हाँलाकि खेती के तरीके और औजार आदि अति साधारण और परम्परागत थे। प्रकृति और मानसून पर टिकी होने की वजह से अकालों का प्रकोप बार–बार महसूस किया जाता रहा है। 18 वीं सदी में 1705-1708 (गुजरात का आकाल) 1709-1711 (मद्रास और बगाल का आकाल), 1717-1718 (गुजरात का अकाल), 1722 (पश्चिमी भारत), 1731-1734 मद्रास और 1747 पश्चिमी भारत को प्रभावित करने वाला अकाल इस प्रकार की प्राकृतिक आपदा के मुख्य उदाहरण थे।

किसानों से कर वसूल करने में जागीर प्रथा का महत्त्वपूर्ण योगदान था। अठारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ–साथ जागीरों के लिए उमरा वर्ग में होड़ बढ़ गई। जागीरदार अपनी जागीरों से राजस्व और लगान वसूल करने के लिए अपने एजेन्ट या गुमाश्ता रखते थे–इन्हें अमील और शिकदर जैसे नामों से जाना जाता था। कुछ जागीरदार जो अधिक साधन–सम्पन्न नहीं थे, इजारेदारी या एक प्रकार का भू–राजस्व और लगान को ठेके की प्रथा द्वारा वसूल करवाते थे। इजारेदार एक प्रकार के राजस्व–कृषक (revenue farmer) थे जो एक निश्चित राशि के बदले एक क्षेत्र में किसानों से राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार हासिल कर लेते थे। इसका प्रचलन मुगल–काल में ही शुरू हो चुका था लेकिन स्थानीय भू–सम्पतिवान वर्ग ने इस प्रणाली को मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उभरी क्षेत्रीय स्वायत राज्य–व्यवस्थाओं में खूब बढ़ावा दिया।

भू-राजस्व और कृषि अधिशेष की वसूली

मुगल शासक और इसके बाद में उभरी क्षेत्रीय राज्य–व्यवस्थाओं में भी शासक वर्ग मुख्य रूप से भू–राजस्व के रूप में कृषि–अधिशेष वसूल करता था। यह वह राशि या कृषि–उत्पाद की मात्रा थी जो किसान के जीवन–निर्वाह की लागत को निकाल कर शेष बचती थी। खालसा जमीनें सीधे बादशाह के दरबार और खर्चों को पूरा करने वाली जमीनें थी जबकि ज्यादातर जमीनों को जागीरों के रूप में शासक वर्ग के नुमाइन्दों के बीच वितरित किया जाता था। हाँलाकि भू–राजस्व जमीन पर वसूल किया गया लगान या किराया ना होकर फसलों पर लगाया गया एक प्रकार का कर ही था, जिसे राज्य द्वारा फसल के हिस्से के रूप में वसूल किया जाता था। इसकी वसूली का सबसे सरल और सीधा तरीका **बटाई** के नाम से जाना जाता था। सामान्य व्यवहार में एक क्षेत्र की फसलों का सर्वेक्षण करके कृषि–उत्पाद का अनुमान लगाकर भू–राजस्व निश्चित किया जाता था। इस निर्धारित भू–राजस्व को बाजार के भावों के हिसाब से या पहले से तय दरों के हिसाब से मुद्रा में दर्शाया जा सकता था। इस प्रणाली को **कानकूत** के नाम से जाना जाता था। भू–राजस्व एकत्र करने की सबसे विकसित विधि **जब्त** के नाम से जानी जाती थी और इसमें भूमि–कर को प्रतिबीधा के रूप में दर्शाया जाता था और यह दर मुद्रा के रूप में अंकित की जाती थी। इस व्यवस्था में किसान और राज्य के बीच ताकतवर बिचौलियों का आगमन हो चुका था। **मोरलैण्ड** ने इन मध्यस्थों को पाँच वर्गों में बाँटा हैं: सरदार, नुमाइन्दें, सुपुर्ददार, माफीदार और रजस्व कृषक। राजस्व कृषकों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सरदार साधारणतया पराजित हिन्दु देशी राजा थे जिन पर भू–राजस्व इकट्ठा करने की जिम्मेदारी बनाये रखी जाती थी और जो एक निश्चित राशि राज्य को देते थे। नुमाइन्दे गाँव क चौधरी, मुखिय और मुक्कदम् आदि थे जो गाँव के किसानों की ओर से सरकार को भू–राजस्व की निश्चित राशि का भुगतान करने की जिम्मेदारी ले लेते थे। सुपुर्ददार राज्य के वे सैनिक और गैर–सैनिक अधिकारी होते थे जिन्हें नकद वेतन देने की बजाय कुछ क्षेत्रों से भू–राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार दे दिया जाता था। इन मध्यस्थों को कुछ गैर–आर्थिक दबाव और बल–प्रयोग और किसानों को दण्ड देने के अधिकार भी दिये जाते थे ताकि वे अपना भू–राजस्व की वसूल का काम ठीक तरह कर सकें। माफीदार वे मध्यस्थ थे जिन्हें किसी खास राज्य की सेवा या योग्यता के बदले किसी विशेष क्षेत्र से लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार के बिचौलियों और मध्यस्थों के होने का अर्थ था कि भू–राजस्व का बोझ सब किसानों पर एक जैसा नहीं था क्योंकि भू–राजस्व का आकलन भले ही व्यक्तिगत किसान के लिए किया जाता रहा हो, उसकी वसूली ग्राम–सुदाय के जरिये ही होती थी और उसमें स्थानीय प्रभावशाली और सम्पतिवान वर्ग अपने बोझ का हिस्सा भी गरीब किसानों पर डाल देते थे।

मुगलकालीन भातर में भू–राजस्व की दर लगभग कृषि–उत्पाद का आधा हिस्सा थी। मराठा शासन में और दक्षिण के क्षेत्रों में यह दर सिंचित भूमि के लिए मोटे तौर पर फसल का 50% और शुष्क इलाकों में फसल का 1/3 वां हिस्सा बताया गया है। हॉलाकि पूर्व–औपनिवेशिक राजस्व–व्सवस्था की एक खास बात यह भी थी कि वास्तव में वसूल किया जाने वाला भू–राजस्व दर्शाये गये राजस्व से कम ही रहता था और प्राकृतिक आपदाओं आदि के समय राज्य को छूट देनी पड़ती थी। चूँकी शासक वर्ग किसान वर्ग के मात्र जीवन–यापन के योग्य हिस्सा छोड़कर अधिकांश कृष्ज्ञि–उत्पाद को भू–राजस्व के रूप में वसूल कर लेता था इसलिए यह उपभोक्ता वस्तुओं की माँग को संकुचित बना देता था। इसका एक नतीजा यह भी था कि ग्रामीण उद्योग बहुत बिखरा हुआ था और इसकी तकनीक और संगठन बहुत ही पिछड़े किस्म की थी। ग्रामीण उद्योग परिवार के श्रम और सरल स्थानीय औजारों द्वारा लोगों की जरूरतें ही पूरी करते थे।

कृषि सम्बंध

अठारहवीं सदी में ग्रामीण वर्ग–संरचना भू–सम्पति के अधिकारों के अनुसार वर्गीकृत की जा सकती है। सामन्यतया भूमि–अधिकार का राजनैतिक सत्ता, अकाल सहने की क्षमता और जाति–विन्यास से गहरा रिश्ता जान पड़ता है। अंग्रेजों के आने से पहले भूमि–अधिकारों को समझाने का एक कारगर तरीका भू–राजस्व इकट्ठा करने के अधिकार और सम्पति के अधिकारों को अलग–अलग देखने का हो सकता है। राज्य से जुड़े अधिकार मुख्यतया पहली किस्म के थे। ब्रिटिश पूर्व राज्य व्यवस्थाओं में

भू-राजस्व इकट्ठा करने क लिए पट्टे और उप-पट्टे पर देने की एक बड़ी पिरामिड जैसी संरचना काम करती थी। कई क्षेत्रों में भू-राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार सबसे ज्यादा वसूली का वायदा करने वाले लोगों को दिया जाता था। यह प्रणाली नये विजित प्रदेशों में या कमजोर पड़ती शासन-सत्ता द्वारा इस्तेमाल की गयी। दूसरे भू-राजस्व इकट्ठा करने के अधिकार हस्तान्तरणीय नहीं थे लेकिन केन्द्रीय सत्ता की बढ़ती कमजोरी में यह अधिकार धीरे-धीरे आनुवांशीक होते चले गये। अवध और बंगाल के जमींदार और ताल्लुकदार इस प्रकार के अधिकारों के वंशानुगत हो जाने के मुख्य उदाहरण थे। अठारहवीं सदी में स्थानीय भू-सम्पतिवान वर्गों से एक फलते-फूलते भू-राजस्व कृषक वर्ग का विकास और विस्तार लगातार हुआ। लगान और भूमि-कर का निर्धारण और उसको जमींदारों द्वारा वसूल किये जाने से जागीरदारों को अपनी जागीरों से लगान वसूल करने में आसानी हो गयी होगी। लेकिन साथ ही इस वर्ग के प्रतिरोध की क्षमता भी बढ़ गई क्योंकि अठारहतीं सदी में जोर तलब जमींदारों की संख्या और शक्ति बढ़ती नजर आती है। ये वे जमींदार थे जो वसूल किये गये भू-राजस्व और लगान पर अपना अधिकर समझते थे और उसे जागीरदार को नहीं देना चाहते थे। जमींदारों के भू-सम्पति अधिकार प्रायः जाति और वंशीय अधिकारों के स्वरूप पर भी निर्भर करते थे। दक्षिण भारत में ब्राह्मण वर्ग की स्थिति सम्पन्न जमींदारों जैसी ही थी। मैसूर के पोलीगरों की स्थिति अर्ध-स्वतंत्र सामंती वर्ग जैसी थी।

किसान या रैयत को दो भागों में बाँट कर देखा जा सकता है : खुदकाश्त और पाहीकाश्त। खुदकाश्त के स्थानीय रैयत थे जो स्वयं या अपने परिवार की मदद से भूमि जोतते थे और जिन्हें आनुवांशिक भूमि-अधिकार प्राप्त थे। ये स्वयं भूमि के स्वामी थे और रियायती दरों पर लगान देते थे। कृषकों का दूसरा वर्ग पाही काश्त का था जिसे महाराष्ट्र में उपारी के नाम से भी जाना जाता था। ये एक प्रकार से उस गाँव की जमीन जोतते थे जहाँ वे खुद नहीं रहते थे। इनके पास अपने बैल और हल होते थे और समृद्ध जमींदारों की जमीनों पर लगान के बदले भूमि जोतने और बंजर भूमि को खेती-योग्य बनाने में इस वर्ग की अहम भूमिका थी। इन्हें खुदकाश्त जैसे भूमि में आनुवांशिक अधिकार प्राप्त नहीं थे रैयत और किसानों के नीचे खेतिहर मजदूरों की जातियाँ भी थी जिन्हें जाति-व्यवस्था की वजह से भू-सम्पति के 'उच्च' अधिकार प्राप्त नहीं थे। आधुनिक नजरिये में सम्पति के अधिकार का अर्थ होता है--एक इस प्रकार का आनुवंशिक अधिकार जो अपनी सम्पति या भूमि को बेचने, हस्तांतरण करने, गिरवी और गहन रखने का अधिकार प्रदान करे। अंग्रेज राज से पहले भारत में इस प्रकार से परिभाषित भू-सम्पति के अधिकार 'उच्च स्तरीय' भू-सम्पति अधिकार प्रापत वर्गों को भी प्राप्त नहीं थे। भू-सम्पति अधिकारों पर स्थानीय प्रथाओं का कड़ा अंकुश था।

शहरी अर्थव्यवस्था के कुछ पहलू

हाँलाकि उपनिवेशवाद की स्थापना से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि और गाँवों पर टिकी हुई थी लेकिन शहरों और कस्बों में भी अर्थव्यवस्था को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। कृषि से प्राप्त अधिशेष (Surplus) का इस्तेमाल शासक वर्ग जिस प्रकार करता था उससे शहरी अर्थव्यवस्था और मुद्रा पर आधारित आर्थिक क्रियाकलापों का विस्तार हुआ। धार्मिक और राजदरबार की गतिविधियों से जुड़े शहरों के साथ-साथ अंग्रेजी राज से पूर्व भारत में अनेक व्यापारिक शहरी केन्द्र और उत्पादन केन्द्रों का भी तेजी से विकास और विस्तार देखने को मिलता है। जहाँ दिल्ली, कन्नौज, पटना, लखनऊ, लाहौर, पूना, आगरा, बीजापुर और गोलकुण्डा जैसे राज-सत्ता से जुड़े मुख्य शहर थे वहीं मिर्जापुर, मुर्शिदाबाद, कानपुर, अहमदाबाद और सूरत व्यापार और व्यावसायिक गतिविधियों पर आधारित मुख्य शहर थे। अंग्रेजी राज से पहले के भारतीय शहरों की तुलना जनसंख्या और उत्पादन-व्यवस्था के आधार पर आसानी से यूरोप के समकालीन शहरों से की जा सकती थी। इन शहरों की एक खास बात यह भी थी कि इनका स्वरूप औद्योगिक था अर्थात ये कारीगरी उत्पादन के केन्द्र थे। कपड़ं और शोरे जैसे औद्योगिक उत्पादनों का होना, लम्बी दूरी के व्यापार का विकास, बैंक और बीमा प्रणाली का उन्नत होना और व्यापारियों द्वारा अग्रिम पैसा या कच्चा माल आदि देकर ददनी व्यवस्था के तहत अनेक कारीगरों से उत्पादन करवाने की कोशिश इस प्रकार की शहरी-अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पहलू थे। हाँलाकि हम पूरे भारतवर्ष के बारे में कोई सामान्य धारणा नहीं बना सकते लेकिन बंगाल, गुजरात और कोरोमण्डल तट अपेक्षाकृत अत्यधिक विकसित क्षेत्र थे जहाँ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के बीज जन्म ले रहे थे।

अंग्रेजी राज के आगमन के हिन्दुस्तान के मुख्य उद्योग

हिन्दुस्तान के उद्योगों में निश्चित रूप से पहला स्थान सूती कपड़े के उत्पादन का था। इसका उत्पादन देश के अने कोनों में हो रहा था। गैर-कृषि क्षेत्र में कपड़े की बुनाई से जुड़े कारीगरों की अहम भूमिका थी। हिन्दुस्तानी बुनकर अपने सरल औजारो और हथकरघों से महीन से महीन और मोटे से मोटा कपड़ा बुनने में माहिर थे। सूती कपड़ों की माँग देशी बाजारों में भी थी और दूर-दराज के विदेशी बाजारों में भी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के दस्तावेजों में 150 से अधिक किस्त के सूती कपड़ों का जि क्र मिलता है जो भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग की विविधता को दर्शाता है। इनमें दुत्ती, मलमल, दरियाबादी, कैलिको, खैराबादी,

परकला, मुहरी आदि मुख्य किस्में थी। इनका उत्पादन गुजरात, बंगाल, बनारस, कोरोमण्डल तट आदि से बड़े पैमाने पर किया जा रहा था। प्रत्येक क्षेत्र अपनी–अपनी किस्म के लिए मशहूर था। इस उत्पादन में पहनने वाले कपड़ों के अलावा कालीन, चादर, गद्दे, रजाई से लेकर तम्बू के कपड़े का उत्पादन भी शामिल था। सूत कातने का काम कारीगरों के द्वारा स्वतंत्र रूप से एक व्यवसाय के रूप में भी किया जाता था और किसान परिवार द्वारा एक वैकल्पिक आजीविका के साधन के रूप में भी। भरूच, बालासौर और कासीमबाजार सूत कातने के मुख्य केन्द्र थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी जब हिन्दुस्तान से वयापार करने लगी तो सूती–वस्त्रों के साथ–साथ निर्मित सूत का भी खूब निर्यात करती थी। शोध कार्य अब यह साबित कर रहे हैं कि बंगाल और कोरोमण्डल तट का सूती–वस्त्र उद्योग वास्तव में एक घरेलू ग्रामीण उद्योग था जिसका हाटों और मंडियों के जरिये आगमन कासिमबाजार, मालदा, शांतिपुर, ढाका और मुर्शिदाबाद जैसे बड़े शहरों में होता था। अर्थात् यह विविधीकृत सूती कपड़े का उद्योग एक विकेन्द्रित व्यवसाय था और बड़े पैमाने पर स्त्रियाँ किसान परिवारों में इस काम को करती थी। उत्पादन की इस व्यवस्था से बड़े पैमाने पर **ददनी** का सहारा लिया जाता था जिसमें व्यापरी या उसके नुमाइन्दें जैसे दलाल, गुमस्था, पायकर आदि कारीगरों और किसानों को पैसे की अग्रिम राशि देकर उत्पादन करवाते थे। इस प्रकार के उत्पादित माल को **पतन** या **पत्नी** के नाम से जाना जाता था जबकि अगर कारीगर स्वयं कपड़ा बुनता था और व्यापारी बाद में अगर पैसा देकर उसके माल को खरीदता था तो उसे **खुश-खरीद** के नाम से जाना जाता था। यूरोप से अलग इस पद्धति की खासियत यह थी **ददनी** में व्यापारी यूरोपीय व्यापारियों की तरह कारीगर को कच्चा माल उपलब्ध नहीं कराता था।

सूती कपड़े के साथ–साथ रेशम और रेशम कपड़े का उत्पादन भी एक बड़ा व्यवसाय था सत्तरहवीं सदी के मध्य से बंगाल के रेशम का निर्यात बढ़ रहा था। रेशम का उत्पादन कासिम बाजार, ढाका और हुगली के क्षेत्र में केन्द्रित था। कपड़े के उत्पादन की तरह रेशम का उत्पादन भी कई चरणों में किया जाता था–शहतूत की खेती, रेशम के कोए बनाना, धागा कातना और कपड़े की बुनाई। बंगाल के अलावा कश्मरी, आगरा, लाहौर और गुजरात में भी रेशमी कपड़े क बुनकर कार्यरत थे। बनारस और अहमदाबाद सूती कपड़े पर रेशम से कढ़ाई करने वाले प्रमुख शहर थे। कपड़े के निर्माण से जुड़े कई स्वतंत्र व्यववाय जैसे विरंजन, कपड़े रंगने और छपाई करनेवाले व्यवसाय भी उभरकर आ रहे थे। ऊनी कपड़ा उष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में अधिक महत्त्व नहीं रखता था, लेकिन कश्मीर में ऊनी शालों के उत्पादन का विशेष महत्त्व था। बाद में ऊनी वस्त्रों के बुनकर पंजाब के शहरों विशेष कर लुधियाना और अमृतसर में भी आकर बस गये।

औद्योगित उत्पादन के क्षेत्र में भी अनेग वस्तुएँ कृषि से जुड़ी हुई थी। नील का प्रयोग कपड़े रंगने के लिए किया जाता था और नील की खेती आगरा और बयाना के अलावा गुजरात में सरखेज, कोरोमण्डल तट, खानदेश आदि में की जाती थी। नील से रंजन–सामग्री प्राप्त करना इन क्षेत्रों में एक व्यवसाय था। चीनी उद्योग और तेल का उत्पादन भी कृषि–आश्रित उद्योग थे। चीनी का उत्पादन गंगा की सम्पूर्ण घाटी के अलावा बंगाल में भी होता था। अहमदाबाद और लाहौर में मिश्री का उत्पादन होता था। सोलहवीं सदी के पुर्तगाली यात्री बारवोसा ने बंगाल में चीनी के उत्पादन का जिक्र किया है। यह चीनी दानेदार चीनी नहीं थी फिर भी साफ–सुथरी सफेद चनी का व्यापक उत्पादन गुड़ आदि के साथ–साथ भारत में बड़े पैमाने पर हो रहा था। तिलहनों से तेल उत्पादन भी अंग्रेजों के आने से पहले का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था और इसका प्रमाण हमें देशी शासकों द्वारा इस व्यवसाय पर लगाये गये कर का उल्लेख कई शिला–लेखों में मिलने से मिलता है।

धातु–उद्योग के बारे में आम धारणाओं में अनेक भ्राँतिया है। यह भ्रांति सोने–चाँदी क उत्पादन को लेकर है। सोने और चाँदी का भारत में उत्पादन नगण्य था। मैसूर की खानों में अकबरन के बाद से उत्पादन बंद था। इसलिए भारत में मुद्रा प्रणाली को ठीक ढंग से चलाने के लिए विदेश व्यापार के माध्यम से स्वर्ण–धातुओं की जरूरत पड़ती थी और इसी वजह से भारतीय शासकों ने यूरोपीय व्यापारियों की गतिविधियों को बढ़ावा दिया। ये यूरोपीय व्यापारी भारत से निर्यातित माल के बदले उसका भुगतान सोने–चाँदी के रूप में करते थे। सोने–चाँदी के इस अंतर्गमन ने भारत की मुद्रा–प्रणाली को सुदृढ़ किया और इससे अर्थव्यवस्था में मुद्रा का प्रचलन तेजी से बढ़ा। इसी प्रकार हाँलाकि भारत लोहे के गलाने–पिघलाने की विधियों से परिचित था लेकिन लौह–उत्पादन बहुत सीमित था। इसकी एक कमजोरी यह थी कि भारत में लौह–अयस्क भूमि की ऊपरी सतह से ही प्राप्त किया जाता था और गहरी खुदाई के द्वारा खानों से जिस प्रकार यूरोप में लोहा और अन्य धातुयें प्राप्त की जा रही थी–उस प्रकार की विधियों का विकास नहीं हो पाया। इसके बावजूद लोहा, तांबा, पीतल और जस्ता स्थानीय जरूरतों के अनुरूप प्रात्य कर लिये जाते थे। बनारस, नासिक, पूना, हैदराबाद, तैजूंर और विशाखापटनम् ताँबा और पीतल के बर्तन बनाने के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ताँबे के सिक्कों का भी व्यापक इस्तेमाल भारत में हो रहा था। दश्मिक, बनारस, लाहौर, सियालकोट और मुल्तान आदि में तलवारों का उत्पादन होता था।

अंग्रेजी राज के पहले भारत में जहाज–निर्माण उद्योग भी विदेश व्यापार के साथ–साथ विकसित हो रहा था। इस उद्योग के मुख्य केन्द्र थे सूरत, मछलीपटम, पुलीकट, भरोंच, चटगाँव आदि थे। हाँलाकि जिस प्रकार के व्यापक तकनीकी, परिवर्तन हम

सोलहवीं–सत्तरहवीं सदी में यूरोपीय जहाजों में देखते हैं उस प्रकार के तकनीकी विकास में भारत अछूता सा रहा। यहाँ तक कि भारत में लौहे के पेंचो (Screws) तक का अभाव था। शोरा–उद्योग (saltpetre) एक अन्य महत्त्वपूर्ण औद्योगिक उत्पाद था जिसे बारूद बनाने में प्रयोग किया जाता था और इसके उत्पादन के केन्द्र गुजरात, बिहार, हैदराबाद, मैसूर आदि के अनेक कस्बों और शहरों में किया जाता था। यह ऐसा औद्योगिक उत्पाद था जिसकी यूरोपीय व्यापारियों के निर्यात के कारण माँग तेजी से बढ़ी क्योंकि कृत्रिम विस्फोटक सामग्री जैसी टी.एन.टी के अविष्कार से पहले यूरोपीय मंडियों में भी इसकी काफी माँग थी।

उद्योगों का संगठन और स्वरूप

अंग्रेजी राज से पहले भारतीय उद्योगों का स्वरूप और ढाँचा बाजार की संरचना के साथ सामाजिक व्यवस्था से भी प्रभवित होता था। उत्पादन मुख्य रूप से दो तरह का था–एक स्थानीय उपभोग की वस्तुओं का और दूसरा दूर–दराज की मंडियों के लिये। चूँकि स्थानीय उपभोग के लिए उत्पादन करने वाले उद्योग स्थानीय कच्चे माल की आपूर्ति पर निर्भर करते थे इसलिये इनके उत्पादन करने वाले उद्योग स्थानीय कच्चे माल की आपूर्ति पर निर्भर करते थे इसलिये इनके उत्पादन में स्थानीयकरण के लक्षण नजर आते हैं। इसके विपरीत विदेश–व्यापार के उत्पादन करने वाले उद्योग कच्चा माल दूसरे क्षेत्रों से भी प्राप्त कर सकते थे। पहले किस्म का उत्पादन पिछड़े किस्म के आर्थिक संगठन, सरल औजार एवं तकनीकी पर आधारित था और श्रम के विभाजन से पूरी तरह रहित था, जबकि बड़े व्यावसायिक केन्द्रों के उत्पादन में कुछ श्रम के विभाजन के लक्षण नजर आते हैं। ज्यादातर लोग अपनी जाति के अनुसार व्यवसाय चुनते थे और विभिन्न दस्तकारी उद्योगों के जाति के आधार पर संघ बने हुए थे। यूरोप की तरह ही भारत में इन उद्योगों में घरेलू उत्पादन पद्धति शुरू हो गई थी। **ददनी** की जानी इस प्रणाली में व्यापारी दस्तकारों को रकम देते थे और अपने गुमाश्तों के माध्यम से इनके काम की निगरानी करते थे। इसके बाद इन दस्तकारों को निर्धारित मूल्य पर इन व्यापारियों के लिए उत्पादन करना पड़ता था। लेकिन बड़ी तादाद स्वतंत्र रूप से काम करने वाले दस्तकारों की ही थी। सत्तरहवीं सदी के उत्तरार्ध में **ददनी** तेजी से फैलने लगी। यह पेशगीद देने की प्रणाली कई कारणों से फैल रही थी। यूरोपीय व्यापारियों की भारतीय उद्योगों के माल की माँग विशेषकर सूती कपड़ों और शोरे की–विशेषकर लगातार बढ़ रही थी। दस्तकारों और कारीगरों में उतना उत्पादन बढ़ाने के लिए पूँजी और क्षमता का अभाव था। उत्पादन बढ़ाने के लिये वे अग्रिम राशि हासिल करके ही कच्चा माल आदि खरीद सकते थे। इस व्यवस्था में कारीगर व्यापारियों पर वहाँ अधिक निर्भर करते थे जहाँ कच्चा माल या तो महँगा था या बहुत दूर से मँगाया जाता था जैसे कि गुजरात के रेशमी कपड़े के कारीगर और बुनकर कच्चा रेशम बंगाल से प्राप्त करते थे। भारतीय उद्योग तकनीकी दृष्टि से भी पिछड़े हुये थे। वे केवल श्रम की कुशलता पर निर्भर करते थे और यूरोप या चीन जैसे देशों में जल या पवन शक्ति के इस्तेमाल करने वाले तरीकों से अनभिज्ञ थे। श्रम बचाने वाले साधनों (Labour-saving devices) के विकसित करने में वे रूचि नहीं दिखा रहे थे।

व्यापारिक गतिविधियाँ और यूरोपीय व्यापार के आर्थिक प्रभाव

अंग्रेजी राज के आने से पहले भारत औद्योगित वस्तुओं का बड़ा उत्पादक देश था। यूरोपीय व्यापारी भारत से कपड़े, रेशमी कपड़े, नील, गर्म मसाले विशेषकर काली मिर्च, शोरा आदि निर्यात करके ले जाते थे। भारत से सूती कपड़ों का निर्यात जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्निया आदि के अलावा यूरोप में भी किया जाता था। सूरत, बनारस, बंगाल और अहमदाबाद के रेशम और रेशमी कपड़ों की माँग बर्मा और मलाया में थी। लाख का निर्यात फारस को किया जाता था। भारतीय चीनी फारस, काबुल और फ्रांस तक जाती थी। इसके विपरीत भारत के आयात की संरचना में –सोना–चाँदी, ताँब, सीसा, चीनी मिट्टी के बर्तन, कागज, घोड़े और सूखे मेवे आदि मुख्यतया शामिल थे। यूरोप के साथ पूर्वी देशों और चीन, फारस, अरब, मिश्र आदि के साथ भी व्यापारिक सम्बध कायम थे। मध्य एशिया विशेषकर तुर्किस्तान भारतीय शासकों के सेना के लिए घोड़े प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण स्रोत था। यूरोप के साथ व्यापार के लिए फारस की खाड़ी होकर जाने वाले मार्ग का प्रयोग यिा जा रहा था। पुर्तगाली व्यापारिक गतिविधियाँ और व्यापारिक एकाधिकार स्थापित होने से पहले इस व्यापारिक मार्ग पर अरब व्यापारियों का वर्चस्व कायम था। पुर्तगाली व्यापारिक साम्राज्य ने इस वर्चस्व को खत्म कर दिया। भारत से होने वाले निर्यात का मूल्य आयात किये जाने वाले सामान के कुल मूल्य से अधिक ही रहते थे। अर्थात व्यापार का संतुलन हमेशा भारत के पक्ष में ही रहता था। यही कारण था कि भारत अपने निर्यात किये माल के बदले दुनिय के विभिन्न क्षेत्रों में सोना और चाँदी प्राप्त कर रहा था। धन के इस अंतर्गमन का भारतीय मुद्रा–प्रणाली और वित्तिय–व्यवस्था के लिए विशेष योगदान था।

यूरोपीय व्यापारीय भारत में पन्द्रहवीं सदी के अंत और सोलहवीं सदी के प्रारंभ में आने शुरू हुए थे। वास्को डा गामा के मई 1498 में कालीकट में कदम रखने के साथ ही यूरोपीय–एशियाई व्यापार का एक नया अध्याय शुरू होता है। प्रारंभ में पुर्तगाली व्यापारियों ने भारत और यूरोप के बीच चल रही व्यापारिक गतिविधियों पर अपना शिकंजा जमाया क्योंकि उन्होंने ही आशा अंतरीप होकर आने वाले समुद्री मार्ग की खोज की थी। चूँकि पुर्तगाल में एक शक्तिशाली व्यापारिक वर्ग का अभाव था इसलिए

इस समुद्री व्यापारिक साम्राज्य की स्थापना में पुर्तगाल के सम्राट ने पहल की और समुद्र पार व्यापारिक गतिविधियों को राजनैतिक और वित्तिय मदद उपलब्ध कराई। लेकिन जल्द ही सोलहवीं सदी के अंत तक डच और अंग्रेजी व्यापारिक कम्पनियों ने भारत में पुर्तगाली आधिपत्य को चुनौती देना शुरू कर दिया। जल्द ही फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी भी इस होड़ में शामिल हो गई। हाँलाकि इन बड़ी–बड़ी व्यापारिक कम्पनियों के द्वारा यूरोप और एशिया के मध्य के व्यापार को अपने कब्जे में ले लिया गया था लेकिन कुछ निजी व्यापारी भी इस व्यापार में हिस्सेदार थे। भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना से पहले ये व्यापारिक साम्राज्य उनके द्वारा व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश में लगे थे और इनका वर्चस्व इनके नौसैनिक सर्वोच्चता के कारण कायम था। हाँलाकि ये व्यापारिक साम्राज्य केवल बन्दरगाह–शहरों तक ही सीमित थे। इनके वित्तीय और मानवीय साधन देशी शासकों के भौगोलिक साम्राज्यों को नष्ट करने में सक्षम नहीं थे इसीलिए उन्होंने मौजूदा देशी व्यापारियों के माल प्राप्त करने और आंतरिक व्यापार के जाल का सहारा लिया। अपने इस व्यापार में ये भारतीय निर्यात की गई वस्तुओं के बदले यूरोप से मुख्यतया स्वर्ण–धातुओं को लेकर आते थे। इस प्रकार यह विदेशी व्यापार भारत में आर्थिक विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था और यही वजह थी भारतीय देशी शासक इन यूरोपीय कम्पनियों की गतिविधियों को सहन कर रहे थे। हाँलाकि कई बार व्यापार और मंडियों के नियंत्रण के सवाल को लेकर झगड़े भी हो जाते थे लेकिन सामान्यतया हथियारबंध संघर्ष को टाला गया।

भारत के पूर्वी और पश्चिमी तट पर अनेक बंदरगाह–शहरों का विकास यूरोपीय कम्पनियों की गतिविधियों का ही नतीजा था। पहले बंदरगाह समुद्र पार व्यापारिक गतिविधियों और स्थल भीतरी प्रदेश की बीच सम्बंध स्थापित करने वाले केन्द्र थे लेकिन अब ये यूरोपिय शक्तियों और प्रशासन की सत्ता के केन्द्र–बिन्दु बन कर उभरे। शत्रु–भूमि में काम कर रहे इन्हें सुरक्षा का डर भी सताता था इसलिये यूरोपीय कम्पनियों ने तत्काल इनके किलेबंदी की कोशिश की। इस प्रकार की किलेबंदी ने ही बाद में भौगोलिक साम्राज्य (territorial empire) स्थापित करने का दरवाजा खोल दिया। छोटे से यूरोपीय समुदाय का इन बंदरगाह शहरों के समाज और ढाँचे पर कोई क्रांतिकारी प्रभाव नहीं पड़ा और यूरोपीय व्यापारी उत्पादन और वस्तुओं के संग्रहण (*Procurement*) के मौजूदा तौर तरीकों का ही इस्तेमाल करते रहे। इन्हें निर्यात के लिए जिन वस्तुओं की अहम जरूरत थी, वे उसे भारतीय सहायकों की मदद से ही प्राप्त कर सकते थे। इन कम्पनियों के द्वारा लाये गये सोने–चाँदी से भारत में मुद्रा का प्रचलन काफी बढ़ गया। मुद्रा के बढ़ते प्रचलन की जानकारी हमें तथ्य से भी हासिल होती है कि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उभरी लगभग सभी राज्य व्यवस्थाओं ने भू–राजस्व का आकलन मुद्रा के रूप में करना शुरू कर दिया जिसने और अधिक बाजारू विनिमय और व्यापार को बढ़ाया। इसने भारत में जगत सेठ जैसे बैंकिय घरानों को उभरने में भी मदद की।

व्यापार में बैंकिय व्यवस्था के माध्यम से, भुगतान के विभिन्न साधनों का महत्त्वपूर्ण और सीधा रिश्ता था। यह व्यवस्था मुगल–काल से ही भारत में विकसित हो चुकी थी। मंडियों में हुंडियों (एक प्रकार के वाणिज्य या विनिमय पत्र) (bills of exchange) का प्रचलन ही नहीं बढ़ा रहा था बल्कि बीमा–व्यवस्था भी संगठित रूप धारण कर चुकी थी। बंगाल, गुजरात, दक्षिण भारत और बनारस जैसे क्षेत्रों में सराफ, साहूकार और बैंकरों की भूमिका बढ़ रही थी। ये निश्चित दर पर रुपये, पगोदा आदि की अदल–बदल करते थे। विदेशी व्यापारिक कम्पनियाँ भी कमीशन देकर इससे अपनी यूरोपीय मुद्रा का भारतीय मुद्रा में अदल–बदल करवाती थी। इनकी गतिविधियों ने आंतरिक व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया। इसके साथ–साथ इस वर्ग ने किसानों और राज्य की बीच व्यापारी और साहूकार–सूदखोरों की एक जमात पैदा करने में मदद की। इस स्थिति में कृषि क्षेत्र का प्रशासनिक केन्द्रों के साथ आर्थिक सम्बंध जुड़ता गया और इस कड़ी पर विबिाय व्यापारियों का नियंत्रण भी बढ़ता चला गया। अनेक उदाहरण हैं जिनमें भू–राजस्व और लगान का भुगतान साहूकार–महाजनों के द्वारा हुंडियों के माध्यम से किया जा रहा था। आंद्रे विंक की मान्यता है कि मराठा राज्य में 1/4 वां राजस्व का भाग नकद प्राप्त किया जाता था जो **हवाला** (हुंडी जैसे साधन) के रूप में पूना के साहूकारों द्वारा अदा किया जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विदेशी व्यापार के उत्पादन–व्यवस्था और कृषि पर भी दूरगामी प्रभाव पड़ रहे थे।

भारत के अनेक क्षेत्रों में एक समृद्ध वित्त देने वाला वर्ग (financier class) उभरकर सामने आ रहा था। बंगाल के जगत सेठ, गुजरात के नथजी और दक्षिण के चेटिट्यो का मुद्रा बाजारों, व्यापार और प्रशासन पर काफी ताकतवर प्रभाव था। ये सोने–चाँदी से मुद्रा और सिक्के बनाने से लेकर रुपये–पैसे की अदला–बदली के काम के अलावा शासकों और यूरोपीय कम्पनियों को पैसा उधार देने का काम भी कर रहे थे। ऐसा उल्लेख है कि 1757 में बंगाल के जगत सेठों ने नवाब के लिए सिक्के (रुपये) ढालने में ही साढ़े तीन लाख रुपये कमीशन के रूप में प्राप्त किये। जगत सेठ ही नवाब क सरकारी खजाने का प्रबंधन भी देख रहे थे। आयात–निर्यात व्यापार के अलावा वे बड़े पर नवाब और कम्पनियों को पैसा उधार देकर काफी भारी मुनाफे अर्जित कर रहे थे। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी राज से पहले की भारतीय आर्थिक परिस्थितियाँ जटिल थी और इनमें विविध ता थी और इनमें जड़क की बजाय गतिशीलता के लक्षण ज्यादा नजर आते हैं।

अध्याय - 2

ब्रिटिश-पूर्व आर्थिक संगठन का विघटन

ब्रिटिश राज द्वारा शुरू किये गये आर्थिक–राजनैतिक बदलावों ने कुछ आर्थिक गतिविधियों पर बुरा असर छोड़ा तो कुछ क्षेत्रों में यह महत्त्वपूर्ण विकास का कारण भी बना। मुख्यतया वामपक्षी विद्वान और राष्ट्रीयवादी इतिहास लेखन ब्रिटिश राज के प्रभाव के बारे में दो बिन्दुओं पर एक जैसा मत प्रस्तुत करते हैं। पहला यह है कि अर्थव्यवसथा के विनाशकारी प्रभाव विकासकारी प्रभावों की अपेक्षा ज्यादा क्रियाशील थे और दूसरा यह कि विनाशकारी और विकासशील दोनों पक्ष ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के परिणाम थे।

मोटे तौर पर इस प्रक्रिया को इस प्रकार दर्शाया गया है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने मुद्रा के रूप में भूमि–कर या भू–राजस्व की माँग को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया। इसका एक महत्त्वपूर्ण नतीजा यह हुआ कि किसान निर्वाक के लिए खाद्यानों की बजाय वाणिज्य फसलें पैदा करने को विवश हो गये। हाँलाकि नगदी फसलों का उत्पादन भी किसानों के लिए फायदे और मुनाफे का सौदा नहीं साबित हुआ और किसान व्यापक पैमाने पर ऋणग्रस्ता के शिकार बन गये। बहुत से किसान साहूकार–महाजनों को जमीनें बेचने को मजबूर हो गये और काश्तकार या मजदूर बन गये। महाजन–साहूकार किसानों के विपरित ऐसा वर्ग था जो जमीन से कमाये गये अपने मुनाफों को भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहता था। ब्रिटिश राज की नीतियों के नतीजे के रूप में उभरा शक्तिशाली साहूकार–महाजनों का वर्ग एक प्रकार से कृषि की जड़ता का प्रतीक बन गया। दूसरी ओर बड़े पैमाने पर ब्रिटिश उद्योगों के माल के आयात किये जाने से भारत के परम्परागत शिल्प उद्योग पूरी तरह तबाह हो गये और इनमें काम करने वाले कारीगर भी मजदूर बन गये। इसने जनसंख्या की भूमि पर निर्भरता और अधिक बढ़ा दी। इससे भूमि का तेजी से विखण्डीकरण (fragmentation) हुआ और जातों का आकार छोटा होता चला गया। बहुत से किसान गैर–आर्थिक जोतों (non-economic holding) पर खेती कर रहे थे अर्थात् वे ऐसी जोतों पर खेती करने को मजबूर थे जो आर्थिक रूप से मुनाफे देने की बजाये उन्हें घाटा सहने पर विवश कर रही थी।

हाँलाकि कई आधुनिक मशीनी उद्योग–धंधे और आधारभूत ढाँचे के रूप में सार्वजनिक भवन निर्माण और रेलवे आदि भी अंग्रेजी राज के ही परिणाम थे जिसने कुछ हद तक परम्परागत ग्रामीण शिल्प उद्योगों के विनाश के नुकसान की पूर्ति की। लेकिन ये नये विकास भी भारतीय हितों की बजाय औपनिवेशिक स्वार्थों की पूर्ति ज्यादा कर रहे थे। बड़े उद्योगों के क्षेत्र में भी ब्रिटिश राज ने भारतीय पूँजीपतियों पर गैर–बराबरी वाली प्रतियोगिता थोप दी। स्वयं अंग्रेजी सरकार ने भारत से इग्लैण्ड को एकतरफा धन और संसाधनों की निकासी में मदद दी। इस धन की निकासी (drain of wealth) में विदेशी पूँजी द्वारा अर्जित मुनाफों के साथ अनेक सरकारी खर्चे भी शामिल थे जैसे सरकार द्वारा निजी रेलवे कम्पनियों को दिये जाने वाले गारंटीशुदा ब्याज की रकम और अंग्रेज अधिकारियों के वेतन, पेंशन, भत्ते आदि। विदेशी पूँजी ने भारत में आय के सीमित साधनों का ही विकास किया और इसके द्वारा स्थापित उद्योग–धंधों का देशी अर्थव्यवस्था से कोई तालमेल नही था। इसी प्रकार अंग्रेजी धंधों के माल को देश के अंदर की मंडियों तक पहुँचाने और भारतीय संसाधनों की निकासी करने का ही था।

प्रारंभिक वामपक्षी इतिहास लेखन में विशेषकर ए.आर. देसाई और रजनी पाम दत्त ने ब्रिटिश राज से पहले की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को एक पूर्णतः आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय के रूप में चित्रित किया। ये किसानों और कारीगरों की जीवन–निर्वाह के लिए किये जाने वाले उत्पादन की अर्थव्यवस्था थी जिसमें ज्यादा खेतिहर मजदूर नहीं थे। उनके विचार में अंग्रेजी राज ने इस अर्थव्यवस्था को तबाह कर दिया। हाँलाकि अब विद्धान मानते हैं कि इस प्रकार की आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय की व्यवस्था कल्पना मात्र थी और ग्रामीण अंचलों में भी काफी मात्रा में व्यापार और लेन–देन चलता था। पहले की अपेक्षा अब माना जाने लगा है कि अंग्रेजी–राज से पूर्व के आर्थिक संगठन में व्यापार, उद्योग और शहरीकरण के गतिशील और सक्रिय पहलू अहम भूमिक रखते थे। उदाहरण के लिए अंग्रेजी राज से पहले यूरोप को भारतीय सूती कपड़ों का निर्यात तेजी से फैला। इस व्यापार ने भारत में लम्बी दूरी के खाद्यानों के व्यापार और कपास के व्यापार के दरवाजे खोल दिये। इस नये वामपक्षी–राष्ट्रीयवादी नजरिये से यह साबित करना और आसान है कि वास्तव में अंग्रेजी राज ने भारत के मौजूदा आर्थिक संगठन को तबाह किया क्योंकि यह तर्क दिया जा सकता है कि भारतीय आर्थिक ढांचा जडता का शिकार नहीं था बल्कि यह व्यापारिक और औद्योगिक क्रांति की लगभग दहलीज पर खड़ा था और उपनिवेशवाद और उसकी आर्थिक नीतियों ने भारत के स्वतंत्र आर्थिक विकास के रास्ते में रोड़े अटकाये।

इसके बारे में दो मत नहीं हो सकते कि कुछ क्षेत्रों में अठारहवीं सदी में आर्थिक जीवन का तेजी से वाणिज्यीकरण हुआ लेकिन यह कहना मुश्किल है कि अगर उपनिवेशवाद नहीं होता तो कितनी तेजी से आर्थिक विकास होता। पहले तो यह खाली अटकल–बाजी वाला सवाल है ऐतिहासिक वास्तविकता से दूर। दूसरा यह अंदाजा लगाना काफी कठिन है कि परम्परागत अर्थव्यवस्था के मुकाबले में वाणिज्य से प्रेरित अर्थव्यवस्था कितनी बड़ी और दमदार थी क्योंकि हमारे पास इस समय के लिए संख्यात्मक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जहाँ तक उन्नीसवीं सदी का सवाल है तो अनुभवजन्य आँकड़े दर्शाते हैं कि विघटन की बजाय सकारात्मक आर्थिक विकास ज्यादा इलाकों में भी फैलता नजर आता है। अंतराष्ट्रीय व्यापार का विकास, ताकतवर राज्य और आधुनिक यातायात और संचार खासकर रेलवे का तेजी से विकास अंग्रेजी राज की भारत को मुख्य देन थी।

इसी प्रकार यह तर्क की अंग्रेजी राज के ग्रामीण असमानता को बढ़ावा दिया और रजनी पाम दत्त और एस.जे. पटेल का यह अनुमान कि अंग्रेजी राज के कारण ही किसान बड़े पैमाने पर भूमिहीन होकर खेतिहर मजदूर के रूप में तबदील हो गये–विवद के मुद्दे हैं। अंग्रेजी राज से पहले भी ग्रामीण भारत में परम्परा से भूमि और भू–स्वामी वर्गों से बंधे हुए काफी तादाद में खेतिहर मजदूर पाये जाते थे। अंग्रेजी राज का एक नतीजा इस वर्ग की परम्परागत–दासता से कुछ हद तक मुक्ति दिलाने का था। धर्मा कुमार ने दक्षिण भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अपने अध्ययन में इस पहलू को उजागर किया है। इसी प्रकार इस बात पर भी विवाद है कि किसानों ने नकदी फसलों का उत्पादन भू–राजस्व और ऋणों के बोझ के दबाव में आकर विवश होकर करना पड़ा। यह लगता है कि अलग–अलग नकदी फसलों और इलाकों में नकदी फसलों के उत्पादन की बढ़ोतरी का बढ़ती उत्पादकता और किसानों द्वारा अर्जित मुनाफों में काफी गहरा अंतर्सम्बंध था। इसी कारण पंजाब में जाट, गुजरात में पत्तीदार, कर्नाटक में लिंगायत, आंध्र में रैडी और कम्मा जैसे समृद्ध किसानों का वर्ग पैदा हुआ यह समृद्ध भू–स्वामियों का वर्ग बड़ी पैमाने पर साहूकारों जैसे ही पैसा उधार देकर सूद बटोर रहा था। यह सही है कि ग्रामीण ऋणग्रस्ता बढ़ी लेकिन उतने बड़े पैमाने पर शहरी साहूकारों और महाजनों के हाथों में भूमि का हस्तांतरण नहीं हुआ होगा।

अंग्रेजी राज को आर्थिक जड़ता और ह्रास से जोड़कर देखने वाले विद्वान क्षेत्रीय विभेदों को नजरअंदाज कर जाते हैं। आर्थिक विकास और जड़ता का असल में कोई सर्वव्यापी मापदण्ड नहीं हो सकता क्योंकि भारत जैसे विशाल देश में अलग–अलग क्षेत्र विकास की दृष्टि से अलग–अलग सीढ़ियों पर खड़े थे। इसके अलावा कई बार इस पहलू को भी अनदेखा कर दिया जाता है कि अंग्रेजी राज से पहले भी देशी आर्थिक संगठन में ऐसे तत्त्व मौजूद थे जो विकास के रास्ते में रोड़े अटकाते थे।

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटन के कारण

अंग्रेजी राज के दौरान कृषि–व्यवसाय और अर्थव्यवस्था से जुड़े सभी पहलुओं में महत्त्वपूर्ण बदलाव के लक्षण नजर आते हैं। कृषि में इस्तेमाल भूमि, फसलों का ढ़ाँचा, जोतों का आकार, उत्पादकता आदि में विविध प्रकार के परिवर्तन आये। यह जरूरी नहीं है कि इन बदलावों का एक जैसा असर कृषि पर निर्भर सभी सामाजिक वर्गों पर पड़ा हो। कृषि और उस पर निर्भर बहुसंख्यक छोटे किसान और मजदूरों के नजरिये से देखकर इस सवाल के नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि किस हद तक अंग्रेजी राज ने भारतीय कृषि के विभिन्न पहलुओं को तबाह किया और इसके आम किसान के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़े।

(i) भूमि में नीति सम्पति (Private Property) की शुरूआत

अंग्रेजी राज के आने से पहले भारत में निरपेक्ष और असीमित अधिकार नहीं थे। अगर राज्य की भू–राजस्व इकट्ठा करने की व्यवस्था से जुड़े वर्गों जैसे जमींदार और जागीरदारों को अगर भू–उत्पाद में कुछ अधिकार प्राप्त थे तो किसानों और काश्तकारों को भी इसमें कुछ खास परम्परा के अनुरूप अधिकार हासिल थे। वीना ओल्डनवर्ग को मानना है कि यहाँ तक कि किसान–परिवार में स्त्रियों को भी कृषि–उत्पाद में उपभोग के निश्चित अधिकार हासिल थे। अंग्रेजी राज में भू–राजस्व निर्धारण की जो विधियाँ लागू की गई उन सभी में मुख्य बात यह थी कि उन्होंने अपनी उदारवादी धारणा के अनुरूप भूमि में निजी सम्पति का निरपेक्ष और असीमित अधिकार मान लिया अर्थात् भूमि एक ऐसी वस्तु बन गई जिसकी खरीद–फरोख्त की जा सकती थी और जिसकी सुरक्षा की गारंटी के आधार पर किसान उसे गहन रख सकता था और साहूकार से पैसा उधार ले सकता था। जैसे स्थायी बंदोवस्त की जो व्यवस्था लार्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल में लागू की उसमें जमींदारियों के तहत आने वाली तमाम जमीनों का मालिकाना हक आनुवांशिक तौर पर उन्हें दिया गया। इस प्रकार के मालिकाना हक रैयतवाड़ी व्यवस्था में रैयत या किसानों को भी दिये गये। इस व्यवस्था के कारण भूमि का लेन–देन बढ़ा और भूमि की मंडियां विकसित हुई। सम्पूर्ण कानून और न्यायिक व्यवस्था को भी भूमि के नीजि सम्पति अधिकार के अनुसार बनाने की कोशिश की गई। अंग्रेजी कानूनों का ढाँचा अनुबंध की पवित्रता (Sanctity of contract) का पालन करता था और ब्रिटिश अदालतों में किसान और भू–स्वामी के सम्बंध, किसान और साहूकार के रिश्ते और अन्य कृषि सम्बंधों को एक प्रकार का समझौता (agreement) मानकर सम्पतिवान वर्ग के पक्ष में फैसले देने शुरू कर दिये। अर्थात् अगर किसी किसान ने अगर

अपनी जमीन की गारंटी पर साहूकार से रुपये–पैसे उधार ले लिये थे तो अदालत के आदेश पर उस किसान की जमीन पर साहूकार आसानी से कब्जा जमा सकता था।

(ii) भारतीय कृषि का अंतर्राष्ट्रीय मंडियों से जुड़ना

अंग्रेजी राज के दौरान भारतीय कृषि अनेक कारणों से अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के साथ जुड़ती चली गई। अंग्रेजी राज से पहले भी हिन्दुस्तान में कृषि–उत्पाद की माँग बढ़ रही थी और कृषि–उत्पाद के लिए मंडियों का उभरना शुरू हो चुका था। पूर्व–औपनिवेशिक समय में माँग मुख्यतया भू–राजस्व में बढौतरी होने से और विकसित हो रहे शहरी केन्द्रों से जन्म ले रही थी। अंग्रेजी राज ने इन दबावों के साथ–साथ अन्य परिवर्तनों के द्वारा इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। नये यातायात के साधनों, सड़कों के निर्माण और रेलवे के आगमन ने किसान के खेत और अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के बीच पुल का काम किया। इस पुल की कई और भी कड़ियाँ थी जैसे–आधुनिक बंदरगाह, शहरों का विकास, आयात–निर्यात व्यापार में लगी कम्पनियाँ, आधुनिक विनिमय बैंक तथा किसान और मंडियों के बीच में खड़ी बिचौलियों की कतार। स्टीम के जहाजों के आने और 1869 में स्वेज नहर के निर्माण ने इस प्रक्रिया को और ज्यादा प्रोत्साहन दिया। देश के अंदर बढ़ते हुए आंतरिक व्यापार ने अलग–अलग क्षेत्रों और भूमियां पर एक खास किस्म की फसल उगाने की प्रक्रिया जिसे अर्थशास्त्री आंचलिक विशिष्टीकरण (Regional Specialization) कहते हैं–को जन्म दिया। इसके तहत पश्चिम भारत के दक्कन में किसानों ने मिश्रित खेती छोड़कर बड़े पैमाने पर कपास की खेती शुरू कर दी और इस तरह किसान अपने परिवार की खाद्यानों की जरूरत के लिए भी दूसरे क्षेत्र से आने वाले अन्न पर आश्रित हो गया। दूसरे शब्दों में, किसान कृषि–उत्पाद का क्रेता और विक्रेता दोनों ही एक साथ बन गया। उन्नीसवीं सदी में यूरोप के देशों में जनसंख्या का विस्थापन कृषि से होकर शहरों के उद्योगों की तरफ हो रहा था। हाँलाकि कृषि क्रांति के बाद यूरोप में खाद्यानों का उत्पादन बढ़ा लेकिन बढ़ती जनसंख्या और शहरीकरण के कारण उसे खाद्यानों के लिए दूसरे देशों पर निर्भर होना पड़ा। भारत से गेहूँ और चावल का निर्यात अंग्रेज व्यापारियों ने शुरू किया और भारत में अकालों की संख्या और भीषणता के बावजूद 19 वीं सदी में भारत से अन्न का निर्यात बिना किसी रूकावट के हाता रहा।

भारतीय कृषि के अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के इस गहरे सम्बंध के भारतीय किसान के जीवन पर सीधे प्रभाव पड़े। अब अंतर्राष्ट्रीय मंडियों की तमाम उथल–पुथल का असर भारतीय कृषि पर पड़ने लगा। इसका एक उदाहरण 1860 के बाद अमरीका में गृह–युद्ध की वजह से अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में कपास के मूल्यों में वृद्धि का है। बढ़ते मूल्यों के लालच में किसानों ने पश्चिम भारत के दक्कन क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कपास की खेती की और अपना रूख किया और अनेक बार साहूकारों से उधार लेकर कपास की खेती में वह पूँजी लगाई। 1864-65 में अमेरिका का गृह–युद्ध बंद होने पर मंडियों में अमेरिका के बड़े–बड़े फॉर्मों की कपास आने लगी और इसके मूल्य तेजी से गिरे। दक्कन के किसानों को भारी नुकसान इसके कारण उठाना पड़ा। 1929 के महान विश्व की आर्थिक मंदी के समय भी भारतीय किसान बुरी तरह प्रभावित हुए।

(iii) कृषि पर जनसंख्या का बढ़ता दबाव

कृषि पर जनसंख्या का दबाव भी लगातार बढ़ता गया। ए.आर. देसाई ने इसे बढ़ते जनसंख्या के दबाव को देशी हस्त और शिल्प उद्योगों की तबाही का नतीजा माना है। इस अनुऔद्योगिकरण (de-industrialization) के कारण ही कृषि पर जनसंख्या का दबाव जरूरत से ज्यादा बढ़ गया। इसका नतीजा भूमि के विभाजन, विखण्डन, गैर–आर्थिक जोतों के विकस और अल्प रोजगार जैसी कृषि की समस्याओं के रूप में हुआ। चूँकि खाद्यानों के उत्पादन में नये बीजों का प्रयोग और अन्य उत्पादकता बढ़ाने के तरीकों का प्रयोग कम से कम किया गया इसलिए जैसे जॉर्ज ब्लीन ने अपने अध्ययन (Agricultural Trends in India) में दर्शाया है–खाद्यानों के उत्पादन में गिरावट और ठहराव दिखने को मिलता है। 19 वीं सदी में कृषि योग्य बंजर भूमियों को कृषि योग्य बनाकर और कृषि के तहत आने वाली भूमि का विस्तार करके कुछ हद तक इस समस्या से निपटा जा सकता था लेकिन 20 वीं सदी में लगातार बढ़ती जनसंख्या क कारण प्रति व्यक्ति कृषि–योग्य भूमि और खाद्यान्नों की उपलब्धता पर काफी बुरा असर पड़ा।

(iv) सामुहिक सम्पति के संसाधन और कृषि-व्यवस्था

अंग्रेजी राज से पहले भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था मात्र चिर–स्थायी और टिकाऊ कृषि (settled agriculture) पर आधारित नहीं थी। स्थायी कृषि पर निर्भर किसानों के अलावा ग्रामीण जनता को बड़े हिस्से में शिकारी और जंगलों से खाद्य–सामग्री एकत्र करने वाले, पशुपालक और जंगलों में एक जगह छोड़कर दूसरी जगह खेती करने वाले (shifting

cultivation) आदिवासी शामिल थे। किसान भी अपनी जरूरतों के लिए जंगलों और चरागाहों के रूप में सामूहिक सम्पदा के संसाधनों पर चारे, लकड़ी आदि के लिए निर्भर रहते थे। अंग्रेजी राज से पहले ये सभी सामाजिक समुदाय सामूहिक सम्पदा के साधनों (common property resources) पर परम्परा के अनुसार उपभोग के अधिकारों से लैस थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इन सामूहिक समपदा के संसाधनों का लुप्त होना शुरू हो गया। जंगलों को व्यापारिक मुनाफे के लिए काटने और बंजर जमीनों पर कृषि के विसतार होने से सामूहिक भूमियाँ सिकुड़नी शुरू हो गयी। ब्रिटिश राज्य ने भी वन–सम्पदा पर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया और विभिन्न समुदायों के परम्परागत अधिकारों को या तो समझा नहीं गया या उन्हें पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया गया। सरकार ने 1865 के जंगलात कानून और 1878 के कानून के तहत जंगलों को अपने संरक्षण में ले लिया। इमारती लकड़ी की बढ़ती व्यापारिक जरूरतों और वनों से कर आदि के द्वारा आय के स्रोत बढ़ाने के लिए सरकार ने ये कदम उठाये लेकिन मंडियों, कानूनों, जनसंख्या वृद्धि के साथ राज्य के नियंत्रण ने वन–सम्पदा का मात्रात्मक और गुणात्मक विनाश शुरू कर दिया। इसने एक कृषि और सामाजिक संकट को जन्म दिया क्योंकि हाशिये पर मौजूद पशुपालक, जंगल–निवासी आदिवासी कृषकों को इस प्रक्रिया ने बहुत ही बुरी तरह प्रभावित किया।

(v) भू-राजस्व प्रणाली में परिवर्तन

ब्रिटिश राज की एक विशेष बात भू–राजस्व की दरों में खासकर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में तेजी से वृद्धि करने की रही हाँलाकि भू–राजस्व निर्धारण की अलग–अलग प्रणालियाँ जैसे जमींदारी, महलवाड़ी और रैयतवाड़ी का स्वरूप भिन्न–भिन्न था लेकिन सभी क्षेत्रों और प्रणालियों में अबाध रूप से भू–राजस्व में बढ़ौतरी देखने को मिलती है। इसके विपरीत 19 वीं सदी के पूर्वार्ध में हम पाते हैं कि कृषि–उत्पाद के मूल्यों में गिरावट हो रही थी इससे किसानों पर भू–राजस्व का सापेक्ष बोझ और अधिक बढ़ गया होगा। अंग्रेजी राज से पहले की भारतीय राज्य–व्यवस्थाओं में भू–राजस्व फसल का एक निर्धारित भाग हाता था और उगाई गई फसल के अनुसार बदलता रहता था लेकिन ब्रिटिश आकलन की कठोर विधि में यह लचीलापन खत्म कर दिया गया और भू–राजस्व का अनुमान इस आधार पर किया गा कि जमीन का कुल उत्पाद कितना हो सकता था। ब्रिटिश राज ने ज्यादा कुशलता से और माप की वैज्ञानिक विधियों का इस्तेमान करके भूमि की पैमाइश और सर्वेक्षण का काम किया और साथ ही साथ अनेक प्रकार की कर–रहित भूमियों के अधिकार खत्म कर दिये। इसका अर्थ था कि भू–राजस्व की दरों में अंकित दरों से भी ज्यादा बढ़ोतरी की गई थी। कम्पनी शासन क शुरू में वसूल किया जाने लगा। यह लागत है कि कुछ हद तक भू–राजस्व की बढ़ाई गई दरों के दबाव में आकर ही किसानों ने नकदी फसलों की तरफ रूझान किया। भूमि–कर समय पर न दिये जाने के कारण भू–सम्पतियों की बिक्री और निलामी भी बढ़नी शुरू हुई। साहूकार और व्यापारियों ने इस प्रकार के हस्तांतरण के दौरान भू–सम्पतियों के अपने अधिकार बढ़ाने शूरू किये। विशेषकर छोटे किसान और पशुपालक और अस्थायी खेती करने वाले आदिवासी इस बढ़े हुए भू–राजस्व और मुद्रा के रूप में इसकी वसूल से सबसे ज्यादा प्रभावित हुए।

(vi) जोतों का आकार (Size of land-holdings)

खेती पर जनसंख्या के लगातार बढ़ते दबाव के कारण जोत का औसत आकार घटता चला गया और कृषि में विभाजन, विखण्डन और गैर–आर्थिक जोतों की समस्या विकराल रूप में उभरी। प्रारंभ में भूमि और जनसंख्या का अनुपात कृषि के पक्ष में था और किसान की भू–जोत का आकार उसके पास उपलब्ध परिवार के श्रम और पूँजी पर निर्भर करता था। कृषि के क्षेत्र में श्रम ही उत्पादन का दुर्लभ साधन था। लेकिन धीरे–धीरे जनसंख्या में वृद्धि, हस्तशिल्पों के पतन और भू–राजस्व प्रणाली में लागू किये परिवर्तनों के कारण हालात बदलते चले गये। कृषि में छिपी हुई या प्रच्छन्न बेरोजगारी (disguised unemployment) की समस्या सामने आयी अर्थात् ऐसे किसान–परिवार के व्यक्ति जिनकी उत्पादकता शून्य या उससे भी कम थी, वे भी कृषि पर ही निर्भर रहे क्योंकि उनके लिए कृषि के क्षेत्र के बाहर वैकल्पिक रोजगार के अवसर नहीं थे। चूँकि कृषि–योग्य भूमि की मात्रा सीमित थी अतः इसके परिवार के व्यस्क सदस्यों के बीच बँटवारी होने से भू–जोत का औसत आकार घटता गया। संयुक्त परिवार के टूटने और भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियम ने, जिसके मुताबिक परिवार के सब बेटों को बाप की भू–सम्पति में बराबर का हिस्सा मिलता था, इस प्रक्रिया को और अधिक तेज किया। 1917 में बम्बई के कृषि विभाग के निर्देशक डॉ. हेरालड एच. मान ने पूना जिले के एक गाँव के अध्ययन में पाया कि 1771 में वहाँ औसत जोत 40 एकड़ थी जो 1818 में 17.5 एकड़, 1840 में 14 एकड़ और 1914-15 में घट कर केवल 7 एकड़ ही रह गई थी। इसी प्रकार के सबूत अन्य जिलों और सूबों के बारे में भी उपलब्ध हैं। खेतों के इस प्रकार के छोटे–छोटे जोतों में बँटवारा होने से जोतों का आकार इतना छोटा हो गया कि एक सामान्य किसान–परिवार का भी इस खेत के टुकड़े में गुजारा नहीं चल सकता था। खेत के इतने छोटे आकार को ही अनार्थिक या गैर–आर्थिक जोत (uneconomic holding) कहा जाता है। ऐसे काश्तकारों की संख्या भी बढ़ी जिनका अपना कोई खेत नहीं था और जो दूसरों के खेतों पर काम करके गुजारा करते थे।

(vii) कृषि उत्पादकता की जड़ता और ठहराव की स्थिति

कृषि उत्पादकता का स्तर कम होना भारतीय कृषि की अंग्रेजी राज के दौरान मुख्य समस्या बन गई। ग्रामीण कृषि व्यवस्था और सहायक गतिविधियाँ जैसे पशु–पालन, वन–सम्पदा आदि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की मुख्य धुरी थी। इसमें श्रम–शक्ति का लगभग 3/4 वां भाग काम कर रहा था और राष्ट्रीय आय में इसका योगदान 1860-1940 के बीच लगभग 50% था लेकिन इसमें पिछड़ेपन और ठहराव की स्थिति बनी हुई थी क्योंकि कृषि में श्रम की उत्पादकता बहुत ही कम थी और पूँजी का अभाव और सिंचाई में पूँजी–निवेश की कमी आदि इसके उपर असर डालते थे जिसके कारण उत्पादक भूमि का भी अभाव था। हाँलाकि कुछ क्षेत्रों में कृषि–उत्पादन में तेजी से बढ़ौतरी देखने को मिलती है लेकिन 20 वीं सदी में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ रही थी और इसने प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता और विनिमय अधिकारों के वितरण को भी प्रभावित किया। जार्ज ब्लन ने अपने अध्ययन में औपनिवेशिक प्रशासनिक अधिकारियों के कृषि–उत्पाद में कुछ इजाफा जरूर हुआ लेकिन अस दशक में जनसंख्या बहुत ही कम बढ़ी थी लेकिन 20 वीं सदी में प्रति एकड़ उपज में वृद्धि के बावजूद उन्होंने पाया कि 1901-47 के बीच प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता में प्रतिवर्ष 1% की कमी आती गई। उपज और खाद्यान्नों की उपलब्धता मं कमी का यह अर्थ नहीं था कि कृषि–उत्पादन हर जगह जड़ता का शिकार था लेकिन समृद्धि के इलाकों का प्रभाव पिछड़ेपन के इलाके खत्म कर देते थे। कुछ नकदी फसलों के उत्पादन में तेजी से बढ़ोतरी हुई खासकर कपास और गन्ने के उत्पादन में। लेकिन बाकी फसलों की उत्पादकता दयनीय हालत में थी। कुछ खास इलाकों जैसे पंजाब के दोआब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, नर्मदा की घाटी और महाराष्ट्र और मद्रास के कुछ क्षेत्रों में काफी समृद्धि और गतिशीलता नजर आती है लेकिन इससे कृषि–उत्पादकता में दूरगामी परिवर्तन हुआ हो–ऐसा नहीं लगता। क्रिस्टोफर बेकर के शब्दों में "खून से लथपथ विकास पर जौंको की तर कई परजीवी–जैसे लगान भोगी वर्ग, साहूकार–महाजन, राज्य और बाज़ार और मंडियों के बिचौलिये चिपके हुए थे"। वास्तव में भारतीय कृषि के पिछड़ेपन और ठहराव का सवाल इस बात से जुड़ा हुआ है– कि ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था में मुनाफे कैसे अर्जित किये जा रहे थे और सम्पतिवान समृद्ध वर्ग उनका उपयोग कैसे कर रहा था। कृषि विकास का मुद्दा और कृषि–उत्पाद में श्रम का हिस्सा कितना हो–ये दोनों इसी मूलभूत सवाल से जुड़े हुए हैं। समृद्ध अर्धसामंती और समृद्ध धनी किसानों के वर्ग के द्वारा अर्जित मुनाफों का उपयोग कृषि में पूँजी का निवेश करके और उत्पादन की प्रक्रिया में तकनीकी आधुनिकरण करने के लिए नहीं किया गया। इसके विपरीत इस कुलीन समृद्ध वर्ग ने इन मुनाफों का उपयोग और ज्यादा श्रम पर नियंत्रण स्थापित करके कम उत्पादकता के बावजूद इसक अबाध शोषण से अपने सामाजिक नियंत्रण को और मजबूत करने के लिए किया।

निरौधीकरण या अनऔद्योगिकरण का विवाद
(Debate on De-industrialization)

निरौधीकरण का सीधा–साधा अर्थ है औद्योगिकरण की उल्टी प्रक्रिया। जब किसी देश का औद्योगिकरण हो रहा होता है तो इसके संकेत हमं उस अर्थव्यवस्था में होने वाले बदलावों से मिलते हैं। किसी देश या अर्थव्यवस्था के विकास के स्तर की जानकार हमें उसके व्यावसायिक ढाँचे (Occupational Structure) से मिलती है। व्यवसायिक ढाँचे से मतलब है कि देश की अर्थव्यवस्था में कृषि और खनन जैसे प्राथमिक क्रिया कलापों में उस देश की श्रम–शक्ति का कितना भाग काम कर रहा है और उद्योग–व्यापार में कितना और विभिन्न किस्म कि सेवाओं (services) में कितनी श्रम–शक्ति लगी हुई है। जैसे–जैसे किसी देख में औद्योगिकरण की गति तेज होती है वैसे–वैसे श्रम–शक्ति का विस्थापन कृषि और प्राथमिक क्रिया–कलापों से उद्योगों और व्यापार की दिशा में होने लगता है। अर्थात् औद्योगीकरण का लक्षण है कि कृषि और प्राथमिक क्रियाओं के मुकाबले में उद्योगों में कार्यरत श्रम–शक्ति का अनुपात बढ़ने लगता है। दूसरा लक्षण है कि कृषि की बजाये राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान बढ़ जाता है। निरौद्यीकरण की प्रक्रिया में इसका ठीक उल्टा होता है अर्थातफ उद्योगों पर आश्रित और रोजगार पाने वाली श्रम–शक्ति का अनुपात घटने लगना या राष्ट्रीय आय में उद्योगों का योगदान कम हो जाना निरौद्यीकरण को दर्शाता है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि 18 वीं सदी के मध्य तक हिन्दुस्तान के हस्त शिल्प उद्योग काफी उन्नत अवस्था में थे और वे अपनी गुणवत्ता के लिए मशहूर थे। घरेलू उपभोग के अलावा इनकी काफी माल निर्यात भी किया जाता था ईस्ट इंडिया कम्पनी भी भारत से सूती कपड़े, चीनी, शोरा, नील, रेशमी कपड़े और मसाले आदि निर्यात कर रही थी। ब्रिटिश राज के स्थापना के साथ भारत के ये हस्त शिल्प उद्योग विनाश के कगार पर पहुँचने लगे और कई तो विलुप्त होने शुरू हो गये। इनके पतन के लिए अनेक कारण जिम्मेदार थे। इनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:

(i) देशी राज दरबारों का खत्म होना

डी. आर. गाड़गिल के मुताबित भारत में उच्च कलात्मक वस्तुओं के शहरी शिल्प उद्योग देशी राजाओं, नवाबों और शासक वर्ग के प्रोत्साहन और संरक्षण में ही पनपते रहे थे। शाही कारखाने भी अच्छे शिल्पकार और कारीगरों को रोजगार और संरक्षण प्रदान करते थे। राजा, दरबारी और उनकी स्त्रियाँ अपने–अपने पद और प्रतिष्ठा के अनुरूप जीवन–शैल अपनाये हुए थे। जैसे–जैसे ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हुआ–एक के बाद एक देशी राजाओं और दरबारों का पतन शुरू हो गया। शिल्पकारों को इनके द्वारा दिया गया संरक्षण भी खत्म हो गया और इन कारीगरों की माँग का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत खत्म हो गया।

(ii) ब्रिटिश सरकार की इग्लैण्ड में वाणिज्य और सीमा शुल्क नीति

17 वीं सदी में और 18 वीं सदी के शुरू में भारतीय उद्योगों का माल बड़े पैमाने पर इग्लैण्ड की मंडियों में पहुँच रहा था। इग्लैण्ड को इस आयात किये माल के बदले इसका भुगतान सोने–चाँदी की बहुमूल्य धातुओं के रूप में करना पड़ता था। पश्चिमी यूरोप में उस समय वाणिज्यवादी (mercantilist) विचारधारा का अर्थनीति पर गहरा प्रभाव था। वाणिज्यवादी अपने देश के अंदर बहुमूल्य धातुओं के अधिक से अधिक संचय पर बल दे रहे थे लेकिन इसके लिए व्यापार का संतुलन उनके देश के पक्ष में होना जरूरी था। इग्लैण्ड के निर्माताओं ने इसकी माँग करनी शुरू की कि भारत से आयात किये गये माल पर प्रतिबंध लगे या उस पर इतनी ऊँची दर से सीमा–शुल्क (import-duty) लगाई जाये कि वह बाजारों में घरेलू माल के साथ प्रतियोगिता न कर सके। 18 वीं सदी में अंग्रेज सरकार ने कई प्रतिबंध लगाने वाले अधिनियम भारतीय वस्त्र उद्योग के खिलाफ इग्लैण्ड में जारी किये। 1757 के बाद कम्पनी की सत्ता भारत के पूर्वी क्षेत्र में कायम हो गयी 18 वीं सदी के उत्तरार्ध में इग्लैण्ड में सूती कपड़े का उद्योग नयी मशीनी तकनीकी का उपयोग करते हुए उभरना शुरू हो गया। इस नये उभरते हुए सूती वस्त्र–उद्योग ने ब्रिटिश संसद को निषेधात्मक शुल्क लगाकर भारतीय माल के आयात को रोकने पर मजबूर कर दिया। एक तरफा भेदभाव–पूर्ण सीमा शुल्क नीति का अनुसरण करते हुए जहाँ इग्लैण्ड में भारतीय उद्योगों पर भारी आयात शुल्क लगाया गया वहीं इग्लैण्ड के उद्योगें का माल करमुक्त रूप से उपनिवेशें की मंडियों में प्रवेश पाता रहा। इस प्रकार भारतीय मंडी में ब्रिटिश उद्योगों के लिए रास्ता साफ करने और भारतीय उद्योगों क माल पर प्रतिबंध लगाकर उसका सर्वनाश करने में इस वाणिज्य नीति का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। इसका सीधा नतीजा यह निकला कि भारतीय उद्योगें से निर्यात किये जाने वाले माल की मात्रा और मूल्य कम हो गया और इग्लैण्ड की भारत में आयतित औद्योगिक माल की मात्रा और मूल्य बढ़े।

(iii) राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग

ईस्ट इंडिया कम्पनी एक एकाधिकार व्यापारिक कम्पनी थी जिसका उद्देश्य अपना माल महंगे से महंगा बेचकर दूसरों से माल सस्ते–से–सस्ता खरीदकर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना था। पूर्वी भारत में प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल की राज्य व्यवस्था पर इस कम्पनी का कब्जा हो गया। अपनी राज सत्ता का प्रयोग कम्पनी के एजेन्टों ने शिल्पकारों से सस्ता से सस्ते दर पर खरीदने के लिए करना शुरु कर दिया। कम्पनी के गुमश्ते कारीगर और भारतीय बुनकरों से उनका माल विशेषकर सूती कपड़े उनकी उत्पादन की लागत से भी कम दाम पर खरीदने लगे ताकि उन्हें यूरोप की मंडियों में ऊँचे दाम पर बेचकर कम्पनी अपना मुनाफा बढ़ा सके। ददनी व्यवस्था के भारतीय व्यापारी की जगह अब कम्पनी के गुमाश्तों ने ले ली जो कारीगरों को अग्रिम राशि देकर कम कीमत पर गैर–आर्थिक दबाव और बल का प्रयोग करके उनका माल वसूल करने लगे। इस प्रकार बुनकर और कारीगरों ने स्वतंत्र रूप से बाजार में अपना माल बेचने का अधिकार खो दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल के शुरू के वर्षों में हस्तशिल्प उद्योग की तबाही की यह एक अहम वजह थी।

(iv) इग्लैण्ड के मशीनी उद्योगों से प्रतियोगिता

18 वीं सदी के उत्तरार्ध में इग्लैण्ड के उत्पादन के लिए उर्जा के नये स्रोत भाप का ईंजन इस्तेमाल किया जाने लगा और कताई और बुनाई के क्षेत्र में कपड़ा उद्योग में स्पीनिंग जैनी, म्यूल और पॉवर लूम जैसे आविष्कारों से श्रम की उत्पादकता तेजी से बढ़ी। इससे उत्पादन की लागत में भी भारी गिरावट आयी। इन मशीनी उद्योगों का माल हाथ से बनाये गये भारतीय बुनकरों के माल से बहुत सस्ता साबित हुआ। विविधता और गुणवत्ता का लाभ होने से शुरू में भारतीय उद्योग होड़ में इनके साथ रहा लेकिन कीमत की दृष्टि से वह इस होड़ में लगातार पिछड़ता चला गया। जैसे सूती वस्त्र उद्योग जैसे तकनीकी परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में फैले वैसे–वैसे उन उद्योगों की भी इस प्रक्रिया ने प्रभावित किया

निरौद्योगीकरण विवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण आयाम

ब्रिटिश राज द्वारा हिन्दुस्तान में लाये गये आर्थिक और राजैनेतिक बदलावों का घरेलू उद्योगों पर 19 वीं सदी में काफी गहरा प्रभाव पड़ा ब्रिटिश राज ने कृषि के वाणिज्यीकरण को बढ़ावा देकर, इग्लैण्ड के उद्योगों के माल को भारत में बड़े पैमाने पर आयात करके और भारतीय सूती कपड़ों के निर्यात को प्रतिबन्धित करके 19 वीं सदी में हिन्दुस्तान के शिल्प हस्त उद्योगों को तबाह किया और उसमें रोजगार पा रहे कारीगरों के विनाश का रास्ता खोल दिया। अंग्रेजी राज की शुरूआत में भारत का हस्त शिल्प उद्योग निरपेक्ष रूप में काफी बड़ा था और 1750 में दुनिया के औद्योगिक उत्पादन का लगभग 1/4 वां भाग की आपूर्ति यह कर रहा था। भारत के इन उद्योगों की उत्पादन की तकनीकी पिछड़ी हुई थी क्योंकि यहाँ प्रचुर मात्रा में श्रम की उपलब्धता होने से श्रम को बचाने वाली मशीनों और साधनों की जरूरत ही नहीं थी। हिन्दुस्तान में 18 वीं सदी में श्रम की उत्पादकता जड़ बनी रही और कोई तकनीकी परिवर्तन नहीं अपनाया गया। इग्लैण्ड में इसके विपरीत लंकाशायर और मैनचेस्टर में 19 वीं सदी के पूर्वार्ध में तेजी से मशीनी तकनीकी पर आधारित सूती–वस्त्र उद्योग पनपने लगा। 1800 तक इग्लैण्ड ने दुनिया के दूसरे भागों हिन्दुस्तान के मुकाबले सूती कपड़े की आपूर्ति में पहल हासिल कर ली थी और तत्काल ही हिन्दुस्तान का सूत कपड़ा उद्योग और घरेलू सूती कपड़े की माँग इग्लैण्ड के उद्योग के दबाव में आ गयी। 1820 के दशक तक भारत इग्लैण्ड से सूत का आयात करने लगा था लेकिन इसका इस्तेमाल कुछ खास इलाकों में खास किस्म के कपडे बुनने में ही किया जा रहा था। इग्लैण्ड से आयात किया सूती कपड़ा भारतीय उत्पाद के साथ सीधे होड़ में लगा था। इन इायातों का असर भी सब क्षेत्रों में एक जैसा नहीं था–खासकर मध्य भारत और राजस्थान कुछ हद तक इस प्रकार के आयात से उतनी बुरी तरह प्रभावित नहीं हुआ। लंकाशायर क भारतीय मंडियों में बढ़ते असर को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि 19 वीं सदी के अंत में हिन्दुस्तान में प्रति व्यक्ति सूती कपड़े की खपत 11-15 गज थी और भारत में सूती कपड़े का प्रति–व्यक्ति आयात 1840 में 1 गज से बढ़कर 1880 में 7 गज प्रति गज प्रति व्यक्ति हो गया। लंकाशयर से आने वाले सूती कपड़े ने 1850 के बाद भारतीय बुनकरों को अपने कपड़े की कीमतें कम करने पर मजबूर कर दिया या उन्हें कम–गुणवत्ता वाले क्षेत्र में धकेल दिया। चूँकि बुनकरों की उत्पादन की लागत कम नहीं हुई थी और वे अब भी पुरानी तकनीकी का ही इस्तेमाल कर रहे थे इसलिए इसका अर्थ था कि बुनकरों और कारीगरों को अपनी जीवन–निर्वाह की लागत से कटौत करनी पड़ रही थी या यह नुकसान वे साहूकारों से पैसा उधार लेकर उठा रहे थे। लंकाशायर की सफलता का राज उसके द्वारा बुने सूती कपड़े की कीमतों में लगातार होने वाली कमी और उसके पक्ष में अच्छा मंडी का संगठन था। अंग्रेजी सूती कपड़े की कीमतों में लगातार हो रही गिरावट का मुख्य कारण तकनीकी के साथ–साथ एक मुख्य निवेश के रूप में कपास की कीमतों में होने वाली गिरावट भी थी। ब्रिटिश आर्थिक नीति का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू जो प्रतियोगिता के इस युद्ध में ब्रिटिश उद्योगों की मदद कर रहा था–वह था मुक्त व्यापार के प्रति साम्राज्य की प्रतिबद्धता। निरौद्योकरण का प्रभाव कम हो सकता था अगर हस्त शिल्प उद्योगों के पतन के साथ–साथ भारत में तेजी से आधुनिक मशीनी तकनीकी पर आधारित उद्योगों का तेजी से विकास हुआ होता। ये नये उद्योग पुराने हस्त शिल्प उद्योगों की तबाही और नुकसान की क्षतिपूर्ती कर सकते थे। हिन्दुस्तान में इस तरह का मशीनी उद्योग 1856 के बाद उभरना शुरू होता है। इस नये फैक्टरी–उत्पादन के तेजी से विकास के रास्त में अनेक संस्थामूलक (institutional) और नीतिगत अड़चनें थी–परिणामस्वरूप 1901 में भी हिन्दुस्तान में आधुनिक फैक्टरी उत्पादन में श्रम–शक्ति का केवल 5% ही रोजगा पा रहा था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निरौद्योकरण का अर्थ था छोटे हस्तशिल्प और परम्परागत उद्योगों का विनाश जो तकनीकी पिछड़ेपन के कारण शुरू होता है और ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों और मुक्त व्यापार द्वारा गतिशील होता है और जिसको आधुनिक उद्योगों का विकास भी क्षतिपूर्ति नहीं कर पाया। इसका अर्थ है कि व्यापार और तकनीकी परिवर्तन ने उसी समय जहाँ इग्लैण्ड के औद्योगिकरण में मदद की, वहीं इन्हीं कारणों से भारत की अर्थव्यवस्था का तेजी से निरौद्योकरण हुआ। अर्थात् भारत का उपनिवेश होना इस प्रक्रिया में अहम भूमिका निभा रहा था।

निरौद्योकरण की धारणा, ब्रिटिश उपनिवेशवाद की अर्थिक आलोचना करने वाले प्रारंभिक राष्ट्रीयवादी नेताओं जैसे दादा भाई नौरोजी, रमेश चन्द्र दत्त आदि के लेखन में स्पष्ट रूप से झलकती है। इसका दूसरा वैचारिक मूल हम मार्क्सवादी चिंतन में साम्राज्यवाद और उसके आर्थिक प्रभाव में ढूँढ सकते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया और इसके आर्थिक प्रभावोंकं को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। निरौद्योकरण का मुख्य संकेत जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं–हमें व्यावसायिक ढाँचे और उससे जुड़े आँकड़ों से मिल सकता है। निरौद्योकरण की जाँच–पड़ताल काफी मुश्किल मसला है क्योंकि निरौद्योकरण का अर्थ केवल एक उद्योग का विनाश–मात्र नहीं है। निरौद्योकरण विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों और क्रिया–कलापों के सम्पूर्ण प्रभाव से ही आँका जा सकता है और इस सम्पूर्ण प्रभाव को दिखाने वाले आँकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। यह सम्पूर्ण प्रभाव और इसकी जाँच बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि तकनीकी पिछड़ेपन के कारण अगर किसी उद्योग का पतन होता है तो उसके कुछ लाभकारी प्रभाव भी होते हैं। जब अधिक कुशल और उत्पादक कम उत्पादक या पिछड़ी तकनीकी वाले उद्योग को

पछाड़कर उसकी जगह लेते हैं तो उस उद्योग में उत्पादित वस्तुओं या सेवाओं के मूल्य कम हो जाते हैं जिसका फायदा उपभोक्ताओं को होता है। ऐसी अवस्था में निरौद्यीकरण बुरा है अगर ये फायदे पुराने उद्योग में रोजगार का स्तर गिरने से हाने वाले नुकसान से कम हों। आमतौर पर, इस पक्ष में बोलने वाले विद्वान कि हिन्दुस्तान में अंग्रजी राज और माल ने निरौद्यीकरण को जन्म दिया, सम्पूर्ण प्रभाव की जाँच किये बगैर केवल छोटे हस्त शिल्प उद्योग के ब्रिटिश माल की प्रतियोगिता के कारण हुए विनाश और पतन के आँकड़े ही प्रस्तुत करते हैं।

राष्ट्रीयवादी मतः

राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने अंग्रेज अधिकारियों की रिर्पोटों, यात्रियों के वृतांत और सरकारी कमेटियो की जाँच रिपोर्ट के आधार पर यह दिखाया कि 19 वीं सदी में तेजी से उद्योगों की अवनति हुई। चूँकि इस विश्लेषण में आँकड़ों का सहारा नहीं लिया जाता इसलिए यह कहना मुश्किल है कि पूरे भारत भर में देशी उद्योगों की कितनी अवनति हुई। रमेश चन्द्र दत्त ने हाँलाकि देशी हस्त शिल्प उद्योगों के पतन के लिए इग्लैण्ड के औद्योगिक उत्पादों के बढ़ते आयात को जिम्मेदार ठहराया। खासकर सूती कपड़े के आयात में तेजी से बढ़ोतरी हुई और इसके विपरीत भारतीय सूती कपड़े के निर्यात में तेजी से गिरावट आई। 1860 में 96 लाख पौंड स्टर्लिंग मूल्य के सूती वस्त्र भारत में आयात किये गये जबकि 1880 में 1 करोड़ 70 लाख पौंड स्टर्लि और 1900 में 27 करोड़ पौंड स्टर्लिंग मूल्य के सूती कपड़े आयात हुए। डी.आर. गाडगिल ने इस निरौद्यीकरण की प्रक्रिया में विलायती फैशन और इसकी नकल करने वाल बाबूओं को भी उत्तरदायी ठहराया है। औद्योगिक क्रांति के कारण इग्लैण्ड और भारत के बीच के व्यापारिक सम्बंध में गहरा बदलाव आया और आयात–निर्यात व्यापार की संरचना इस तरह की हो गयी कि इग्लैण्ड भारत से कच्चा माल निर्यात करने लगा और अपने उद्योगों का माल हमारी मंडियों में भेजने लगा। इसी बदलाव का नतीजा था कि जैसे अमिया कुमार बागची ने दिखया है कि गंगा–घाटी मात्र 8% ही रह गया। ज्यादातर यह गिरावट सूत कातने के व्यवसाय में हुई। सम्भवतः इसी प्रकार की गिरावट का असर भाप के जहाज आने से देशी जहाजरानी उद्योग पर पड़ा होगा।

डैनियल थार्नर का मतः

डैनियल थार्नर का मानना है कि संभवतः 19 वीं सदी में प्रारंभ में निरौद्यीकरण हुआ होगा लेकिन बाद में आधुनिक कल–कारखाने खुलने से 19 वीं सदी के उत्तरार्ध और 20 वीं सदी में औद्योगित अवनति के संकेत नहीं मिलते। अपने मत को साबित करने के लिए उन्होंने 1881 से 1931 के बीच के जनसंख्या आँकड़ों के आधार पर भारत के व्यवायिक ढाँचे की जाँच की। उनके अनुसार, सतही तौर पर देखने से यह लगता है कि 1881 से 1931 के बीच कृषि–व्यवसाय में रोजगार पा रहे लोगों की संख्या और अनुपात में बढ़ौतरी हो रही है औद्योगित क्षेत्र में रोजगार का अनुपात सिकुड़ रहा है। लेकिन डैनियल थार्नर इसे निरौद्यीकरण का सबूत नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार जनसंख्या के आँकड़ों में कई किस्म की खामियाँ हैं। एक स्त्रियों द्वारा व्यवसाय के बारे में जनसंख्या अधिकारियों को दी गई जानकारी विश्वास योग्य नहीं है– वे हाँलाकि घरेलू–अर्थव्यवस्था और श्रम–व्यवस्था का हिस्सा थी लेकिन ज्यादातर ने अपना वही व्यवसाय बताया जो कि उनके पतियों का था। दूसरे जनसंख्या के आँकड़ों में 'कृषि–मजदूर' और 'साधारण मजदूर' (general labour) पेशे के हिसाब से अलग–अलग श्रेणियों में रखा गया है जबकि सामान्यतया अक्सर सभी साधारण मजदूर कृषि–व्यवसाय से ही जुड़े हुए थे। इसलिए 'कृषि–श्रमिक' और 'सामान्य मजदूर' को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है। तीसरे, डैनियल थार्नर का मानना है कि मर्दुमशुमारी या जनसंख्या ने उद्योग और व्यापार का जो विभेद किया वह भी किसी काम का नहीं था। इस प्रकार इन्हें भी वे एक ही श्रेणी में रखते हैं। उनके अनुसार इस आधार पर जो व्यावसायिक ढाँचे की तस्वीर उभरती है वह निरौद्यीकरण दर्शाने की बजाए एक जड़ व्यावसायिक ढाँचे की तरफ संकेत करती है। नीचे दिये आँकडे इस विश्लेषण को साफ कर देते हैं।

Table No. 1 व्यवसायिक ढाँचा (% में) जनगणना के आँकड़ों के आधार पर

	1881	1901	1931
	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री
साधारण मजदूरी	9/15	6/9	4/8
उद्योग	16/24	11/12	9/9
व्यापार	2/1	5/5	6/5
परिवहन	8/3	10/6	9/8
कृषि	65/57	68/68	72/70

Table No. 2 व्यवसायिक ढाँचा (% में) डैनियल थार्नर के हिसाब से

	1881	1901	1931
	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री	पुरूष/स्त्री
कृषि + साधारण मजदूरी	65 + 9 = 74	68 + 6 = 74	72 + 4 = 76
उद्योग + व्यापार	16 + 2 = 18	11 + 15 = 16	9 + 6 = 15
परिवहन	8	10	9

(केवल पुरूषों के आंकड़ों पर)

मौरिस डी. मौरिस के मत की समीक्षा

डेविड मौरिस का तर्क है कि निरौद्योकरण का कोई असर भारतीय उद्योगों पर नहीं हुआ। उनके अनुसार राष्ट्रीयवादी इतिहासकारों ने औद्योगित माल के आयात की वृद्धि को ही इसका सूचक मान लिया है लेकिन ऐसा भी सम्भव है कि अंग्रेजी राज में विदेश व्यापार की मात्रा, राष्ट्रीय आय और जनसंख्या सभी में वृदिद्ध हो रही थी और देशी उद्योग भी नष्ट नहीं हुए। फिर वे तर्क देते हैं कि औद्योगित उत्पाद के आयात से एक देशी उद्योग को नुकसान हो सकता है लेकिन किसी दूसरे उद्योग की तरक्की हो सकती है। जैसे लोहे के आयात से लौह–उद्योग को नुकसान हुआ लेकिन लोहे से मशीने, पुर्जे और बर्तन बनाने के उद्योगों को फायदा हुआ क्योंकि प्रचुर मात्रा में लौहा मंडियों में मिलने लगा। इसी प्रकार इग्लैण्ड की मिलों द्वारा सूत के आयात से सूत कातने वाले मजदूरों को धक्का लगा लेकिन बुनकरों को सस्ते दर पर सूत मिलने से वे कम लागत पर कपड़ा बुनने लगे और विदेशी आयतित कपड़े से प्रतियोगिता कर पाये। इसको उन्होंने औद्योगिक आयात का क्षतिपूरक प्रभाव (compenstory effect) कहा। इसके अलावा मौरिस का तर्क है कि देशी हस्तशिल्प उद्योगों की अपनी जगह थी–उनका अपना एक नीजि बाजार था जो इग्लैण्ड से आने वाले आयातित माल के बावजूद बचा रहा। इसके साथ उनके अनुसार 19 वीं सदी में भारत में कपड़े की मंडियों का विस्तार इतनी तेजी से हुआ कि इसमें घरेलू और आयात किये गये कपड़े दानों के लिए जगह थी।

इस बात सबूत बहुत कमजोर हैं कि 19 वीं सदी में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय बढ़ने से सूती कपड़े के बाजार का आयतन (volume) बढ़ गया और देशी उद्योगों को कोई भी नुकसान नहीं हुआ। प्रतियोगिता और विदेशी कपड़े के आयात के बावजूद अगर बुनकर और कारीगर अपने जातिगत व्यवसाय में बने रहते हैं तो यह जाति–विन्यास के कारण भी था और इस कारण भी कि उन्हें आजीविका और रोजगार के और रास्ते उपलब्ध नहीं थे। अगर आयात किये सूत मंडियों में आने से बुनकरों की उत्पादन की लागत कम हुई तो इससे सूत कातने वाले कारीगरों की आजीविका तो छीनी ही–साथ ही साथ भारतीय बुनकर के उत्पाद की लागत एक ही स्तर–सूत की कताई के स्तर पर कम हुई जबकि इग्लैण्ड के उद्योगों के लिए उत्पादन की लागत–कताई और बुनाई दोनों स्तरों पर–कम हुई और तब भी वे विदेशी उद्योगों के माल की अपेक्षा अपना माल सस्ता बेच सकते थे। देशी उद्योगों के बचे रहने का कारण–बड़े मशीनी उद्योग और छोटे घरेलू हस्त शिल्प उद्योग के बीच मंडियों की अलग–अलग फाँकों का होना (segmented markets) ना होकर उसका साहूकार–महाजनों पर आश्रित हो जाना था।

तुलनात्मक लाभ का सिद्धांत और निरौद्योकरण

19 वीं सदी में रिचर्ड कॉबडेन, जॉन ब्राइट ने और बाद में थियोडोर मॉरिसन ने तर्क दिया कि आर्थिक विकास का रास्ता है : श्रम–विभाजन। और जैसे इग्लैण्ड में अगर दक्षिण में खेती अहौर पशु–पालन लाभप्रद व्यवसाय थे तो उत्तर में कल–कारखानों का उत्पादन। इनका मानना है कि अगर श्रम–विभाजन स्थानीय स्तर पर लाभप्रद है तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम–विभाजन भी इसके अनुरूप ही लाभदायक होगा। अर्थात् जिन–जिन देशों और प्रदेशों के राष्ट्रीय उत्पादन में जिस क्षेत्र (कृषि या उद्योग) को स्वाभाविक सुअवसर प्राप्त है, वह उसी में पूँजी, श्रम आदि का निवेश करके और अपने माल को अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में बेचकर ज्यादा मुनाफा वसूल कर सकता है। अर्थात् अगर भारत एक कृषि–प्रधान देश बनकर कच्चे माल का निर्यात इग्लैण्ड के उद्योगों के लिए कर रहा था तो यह इस तुलनात्मक लाभ (comperative advantage) के सिद्धांत के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय श्रम–विभाजन का ही एक नमूना था। और अगर भारतीय हस्तशिल्प नष्ट हो रहे थे तो उस पर आँसू बहाने का क्या फायदा? यहाँ यह सवाल बुनियादी महत्त्व का है कि एक पराधीन और प्रभुत्त्वशील देश के बीच का श्रम–विभाजन, किसान और लाहैर के बीच का श्रम–विभाजन या इग्लैण्ड के लंकाशायर और एसेक्स प्रदेश के बीच का श्रम–विभाजन को एक जैसा कैसे माना जा सकता है? अगर यह भी मान लिया जाये कि यह श्रम–विभाजन स्वभाविक था तब भी कृषि–प्रधान उपनिवेश आर्थिक विकास और औद्योगिकरण के बहुत से प्रत्यक्ष और अनदेखे लाभों से वंचित रह रहा था।

अध्याय - 3 (a)

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सततताः

भू-राजस्व बंदोबस्त में प्रयोग

अंग्रेजी राज के दौरान भू–राजस्व वसूल करने के लिये मुख्यतया तीन प्रकार की प्रणालियाँ शुरू की गई–स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी और महलवाड़ी। कहीं कहीं इनके संसोधित रूप भी इस्तेमाल में लाये गये। अंग्रेज शासकों ने जानबूझ कर इस जटिलता को नहीं पैदा किया। अनेक वर्षों से तरह–तरह के निरीक्षण करके, गलती करने के बाद उसमें सुधार करक और कम कोशिश से कैसे अधिक से अधिक भू–राजस्व वसूल किया जाये, हर इलाके के प्रभुत्वशाली भू–सम्पतिवान वर्गो से कैसे तालमेल किया जाये और कैसे कृषि का विस्तार हो–इन सब बातों ने भू–राजस्व प्रणालियों के ढ़ांचे को प्रभावित किया। अंग्रेजी नीति पर बौद्धिक विचारधाराओं का अलग–अलग तरीके से प्रभाव तो पड़ा ही लेकिन साथ ही साथ स्थानीय हालातों ने भी अंग्रेज प्रशासकों पर असर छोड़ा। मूलतः तीन महत्वपूर्ण सवालों के जवाब अंग्रज शासक वर्ग को तलाशने पड़े – एक भूमि पर मालिकाना हक या स्वामीत्व किसका माना जाये, दूसरा भू–राजस्व वसूलने की जिम्मेदारी किसकी हो और राज्य को कृषि उत्पाद में कितना हिस्सा मिले। इन सवालों का जवाब अलग–अलग बंदोबस्तों में अलग–अलग प्रकार से दिया गया। इनके माध्यम से भू–राजस्व की वसूली और भूमि के मालिकाना हकों में बदलाव आया और ग्रामीण वर्ग संरचना में काफी उलट–फेर दिखने में आया। अंग्रेज प्रशासकों ने भारत के मौजूदा व्यवहार खासकर मुगल राज्य की प्रथाओं और कानूनों की नये सिरे से व्याख्या की। ब्रिटिश राज ने स्थानीय स्तर की कृषि की परिस्थितियों को भी बदल दिया। यह इस बात पर निर्भर करता था कि नई सत्ता ने मौजूदा भू–सम्पति वान वर्गों के साथ किस प्रकार क सम्बंध बनाये – उनका दामन किया या उनके साथ सहयोगी जैसा बर्ताव किया। मौलिक रूप से ईस्ट इंडिया कम्पनी की नयी सत्ता ने अपने आपको सबसे ऊपर का भू–स्वामी (Landlord) मान लिया और कहा कि राज्य हिन्दुस्तान में सर्वोच्च भू–स्वामी (Supreme Landlord) के रूप में ही स्थापित रहा है। चूँकि ईस्ट इंडिया कम्पनी का मकसद कुशलता से अधिक से अधिक भू–राजस्व वसूल करना था, इसीलिये 'कृषि की दशा सुधारने' के लिए ताकि ज्यादा भू–राजस्व वसूल किया जा सके, अंग्रेजी प्रशासकों ने भूमि के स्वामित्त्व के अधिकारों को परिभाषित करना शुरू किया और ऐसे वर्गों को तलाशना शुरू किया जिनको ये हक दे दिया जा सके। उनका मूल विचार था कि भू–राजस्व की वसूली मालिकाना हक के साथ मिला दिया जाये अर्थात् बिचौलियों की बजाय भू–स्वामियों से इस काम के लिए सम्बंध जोड़ा जाये। ये विचार प्रारंभिक वर्षों में हमेशा व्यवहारिक नहीं था। पुराने सामाजिक–आर्थिक ढ़ाँचे के बहुत से पहलू इसमें बनाये रखे गये। ब्रिटिश राज्य ने पूराने कुलीन वर्ग, जिसके पास भू–राजस्व की वसूली के हक भी थे, को निरशस्त्र करना शुरू किया। गाँव के स्तर के पद और अधिकारों को, उनकी शक्ति और महत्त्व को कम करके, बरकरार रखा गया। भू–सम्पति में पुराने शासकों द्वारा दिये गये **इनाम** के अधिकारों को भी पूरी तरह खत्म नहीं किया गया। लेकिन सभी इलाकों में भू–राजस्व की दरें 1830-1840 तक समान रूप से ऊँची रखी गयी। भू–राजस्व की वसूली मुद्रा के रूप में की गई।

स्वामित्त्व का हक स्थानीय परिस्थितयों पर निर्भर करता था। बंगाल और मध्य गंगा के दोआब में मालिकाना हक जमीदारों को दिये गये। इस वर्ग में ब्रिटिश पूर्व जमीदार थे और भू–राजस्व कृषक (Revenue farmers) की जमात भी शामिल थी। यह निर्णय इसलिये भी लिया गया कि जमींदार इन इलाकों में एक ताकतवर वर्ग था और कुछ इसलिए भी बंगाल के जमींदारों में ब्रिटिश अधिकारियों को इंग्लैण्ड के भू–स्वामी (Landlord) की छवि नजर आयी। जमींदारी बंदोबस्त का मशहूर उदाहरण 1793 में बंगाल में लागू किया गया स्थायी बंदोबस्त था जिसे बाद में तटीय मद्रास और उत्तर–पश्चिमी प्रांत में भी लागू किया गया। जमींदारी व्यवस्था के इलाके काफी मात्रा में लगान (rent) देने वाले वे उपजाऊ इलाके थे जो भू–स्वामी–काश्तकार–मजदूर–इस श्रेणीबद्ध संग ठन को बरदाश्त कर सकते थे। जमींदारी बंदोबस्त में राज्य ने जमींदारों को मालिकाना हक इस शर्त पर दिया कि वे भू–राजस्व की एक निश्चित राशि सरकार को देते रहेंगे। पश्चिमी भारत में अंग्रेजी शासन ने विरासत के रूप में मराठा राज्य द्वारा स्थापित भू–राजस्व वसूली की नौकरशाही मिली और अंग्रेजी राज का मुख्य लक्ष्य इसे बनाये रखने का था। इन इलाकों में **मिरासदारों** को भूमि का मालिकाना हक दिया गया। मिरासदार गाँव के भूमि में हिस्सेदार थे। 1799-1800 में दक्षिण क्षेत्र के पोलीगरों का दमन जो उत्तर भारत के जमींदारों जैसा वर्ग था, इस प्रक्रिया का राजनैतिक मंगलाचरण था। पोलीगरों का दमन करके यहाँ कृषकों को जमीन का मालिकाना हक नीजि तौर पर दिया गया। कम्पनी प्रशासकों ने जमींदारी बंदोबस्त में जमीदारों को राज्य और किसान के बीच में जो बिचौलिये के रूप में खड़ा किया था, उसकी तीखी आलोचना की और रैयत या कृषक को भू–राजस्व की आकलन करने की पुरानी विधि जिसमें भू–राजस्व का आकलन (assessment) पूरे गाँव के लिए किया जाता था– उसको जारी रखा गया। इसमें किसानों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने हिस्से आपस में बाँट लेंगे। लेकिन धीरे–धीरे किसानों के व्यक्तिगत हिस्से को

मापने और आकलन करने का काम अंग्रेजी प्रशासन ने शुरू किया। पंजाब के दोआब और रोहिलखण्ड में ताल्लुकदारों का दमन करके 'ग्राम–समुदाय' (Village-community) को एक इकाई मान कर उसे भू–सम्पति का स्वामी मान लिया गया। साझा रूप से गाँव की जमीन के भू–स्वामी इस व्यवस्था में भू–राजस्व की वसूली के लिए जिम्मेदार मान लिये गये। इस क्षेत्रों के कृषि असुरक्षित थी और जनसंख्या कम– इसलिए यहाँ भूमियाँ ज्यादा लगान का राशि का निर्माण नहीं कर सकती थी। इन इलाकों में कबीले या भाईचारे के आधार पर साझा– अधिकार कायम हो सकते थे। 1830 के दशक से इन इलाकों में भी गाँव की जमीनों से भू–राजस्व के नीजि हिस्सों का आकलन अंग्रेजी प्रशासन ने शुरू कर दिया। इस प्रकार परिभाषित करने से से हिस्से और हक बाजार में ब्रिकी लायक हक बन गये और इनका वाणिज्यीकरण शुरू हो गया।

बंगाल की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था में भू–राजस्व का निर्धारण स्थायी रूप से निश्चित (fixed, permanent) कर दिया गया था जबकि महलवाड़ी और रैयकबाड़ी भू–राजस्व में भू–राजस्व के आकलन को 20 या 30 वर्षों की अवधि पर संसोधित किया जा सकता था। भू–राजस्व के आकलन में अलग–अलग तौर तरीकों का इस्तेमाल किया जाता था। कहीं पर फसल के दाम का अनुमान लगा कर, उसमें से उत्पादन की लागत कम करके, जो शुद्ध उपज (net produce) बचती थी– उसका एक हिस्सा भू–राजस्व के रूप मं लिया जाता था। कई बार इन उलझनों में ना पड़कर पहले से आंक गये भू–राजस्व की राशि को उपज के दाम के अनुसार कम या ज्यादा करके नये सिरे से निधारिकत किया जा सकता था।

बंगाल का स्थाई बंदोबस्त : विचार और पृष्ठभूमि

ब्रिटिश राज का भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सीध असर भू–राजस्व प्रणाली में परिवर्तन लाने का था। कृषि करों से प्राप्त आय की अतिरिक्त राशि से ही ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत से किये जाने निर्यातित माल का भुगतान करती थी। कम्पनी के प्रशासकों का यह आभास भी था कि भू–राजस्व को वसूल करने की व्यवस्था ही ब्रिटिश राज्य और हिन्दुस्तानी समाज का केन्द्र थी और उनका मानना था कि हिन्दुस्तान की प्रजा उनका मूल्यांकन इस आधार पर करेगी कि क्या उनका राज सुरक्षा और सततता (security and continuity) देने में समर्थ था कि नहीं। इस भू–राजस्व प्रशासन में उनक सामने सबसे बड़ी समस्था थी कि कम्पनी का जमींदारों से रिश्ता कैसा हो? जमींदार बंगाल के नवाबों के समय के वे ग्रामीण प्रभुत्वशाली और सम्पतिवान लोग थे जो नवाबों के एजेन्ट और भू–राजस्व कृषक के रूप में काम करते हुए पीढ़ी–दर–पीढ़ी कई प्रकार की वित्तय शक्तियाफ प्राप्त कर चुके थे। जैसा कि रंजीत गुहा ने अपनी पुस्तक, A Rule of Property of Bengal (1963) में दिखाया है कि युरोपीय अर्थशास्त्र के आधुनिक युग का एक घराना, जिसे फिजियोक्रेट (Physiocrats) कहा जाता था, उन दिनों प्रभावशाली था और इस वाद–विवद में कि भू–राजस्व का बंदोबस्त किनके साथ किया जाये, भू–राजस्व का निर्धारण कैसे हो? अपनी वैचारिक भूमिका निभा रहा था। ब्रिटिश अधिकारियों की इस बात पर आम सहमति थी कि उन्हें नये स्थापित साम्राज्य में जमींदारों की स्थिति को बना कर रखना पड़ेगा क्यों कि बंगाल में यही वह सामाजिक वर्ग था जो सामाजिक ढ़ाचें को सततता और स्थायित्त्व दे सकता था। जमींदार वर्ग के साथ बंदोबस्त इसलिए भी मजबूरी थी कि अंग्रेज राज नया–नया स्थापित हुआ था और उनके पास भू–राजस्व के आकलन और वसूली करने के लिए कोई मजबूत नौकर–शाही नहीं थी। इसीलिये ब्रिटिश दीवानी प्रशासन को कृषि उत्पाद की गहन जानकारी के अभाव में स्थाई बंदोबस्त में भू–राजस्व की माँग बढ़ा–चढ़ा कर रखी गई। एक अनुमान है कि यह 1757 से पहले के आकलनों 20% ज्यादा थी। यह माना गया कि जमींदारों को भू–सम्पति के स्थाई स्वामित्व के अधिकार देने से उन्हें कृषि की दशा सुधारने की प्रेरणा मिलेगी क्योंकि सदा–सदा के लिए भू–सम्पति के अधिकार देने से और भू–राजस्व की राशि निश्चित कर देने से वे अपना लगान बढ़ा कर मुनाफा बढ़ा सकते थे।

पूर्वी भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा जैसे ही साम्राज्य की स्थापना की शुरूआत की गई वैसे ही उनके सामने भू–राजस्व प्रणाली को सगठित करने के जिम्मेदारी भी आ गई। 1759-60 में कम्पनी को 24 परगना, मिदनापुर और चटगाँव की जमींदारी हासिल हुई थी लेकिन 1765 में बॅक्सर की जीत के बाद कम्पनी को पूरे बंगाल की दीवानी का अधिकार या राजस्व और कर प्राप्त करने का अधिकार भी मिल गया। कम्पनी के प्रशासक यह तय नहीं कर पा रहे थे कि भू–राजस्व वसूल का कौन सा तरीका ज्यादा कारगर रहेगा। 1764-72 तक भू–राजस्व की वसूली का अधिकार सबसे ऊँची बोली लगाने वाले व्यक्तियों को दिया गया। इसका अन्जाम 1769-70 में बंगाल में एक भयंकर आकाल के रूप में आया। इस अवधि मे भू–राजस्व के मसलों को निर्देश और दिशा देने के लिए जिलों में रिवन्यु सुपरवाइजरों की नियुक्तियाँ की गई और पटना और मुर्शिदाबाद में रिवन्यु काउसिलों की स्थापना भी की गई। 1772-77 के बीच वारेन हेंस्टिंग्स ने नई इजारेदारी प्रणाली लागू की जिसमें भू–राजस्व की वसूली बोली लगाकर ही की जाती थी लेकिन इजारेदारों को एक तरह से 5 साल का पट्टा दे दिया जाता था। वारेन हेस्टिंग्स ने ईजारेदारी की नीलामी में पुराने जमींदार और भू–राजस्व कृषकों को तरजीह दी। जमा या वसूल किये जाने वाले भू–राजस्व की राशि इसमें बढ़ा दी गई। 1777 के बाद पाँच वर्षीय बंदोबस्त की बजाये दुबारा वार्षिक बंदोबस्त को अपनाया गया। ऐसा नहीं है कि भू–रजस्व का यह बोली लगाकर ऊँची बोली वाले को निलाम करने की विधि कम्पनी प्रशासन की खोज थी। पहले की भारतीय व्यवस्थाओं में इस प्रकार की भू–राजसव कृषि की प्रणालियाँ मौजूद थी।

अंग्रेजी प्रशासन उन्हीं तरीकों का इस्तेमाल कर रहा था। कम्पनी प्रशासन ने इसमें एक नया पहलू जोड़ दिया कि भू–राजस्व अधिक से अधिक कैसे वसूल किया जाये इसलिए वास्तव में एकत्र किया गया भू–राजस्व नीलामी में तय राशि से अक्सर कम रहने लगा – 1777 में लगभग 2.30 करोड़ रूपये का भू–राजस्व बकाया था। इसमें अनेकों सट्टेबाजों ने भी दखलन्दाजी शुरू कर दी जिसमें कम्पनी के नौकर और भारतीय व्यापारी दोनों ही शामिल थे। इजारा पाने के लिये **दरबार खर्च** के नाम पर रिश्वत का चलन भी बढ़ा। नजर, रिश्वत आदि के रूप में वारेन हेस्टिंग्स ने काफी दौलत **बटौरी**। इसका एक सामाजिस पहलू यह भी था कि नवाबी काल के जमींदारों को कानून–व्यवस्था; सड़क और पुलों की व्यवस्था और न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे लेकिन कम्पनी प्रशासन ने जमींदारों को इन प्रशासनिक और सामाजिक जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया।

वारेन हेस्टिंग्स के काल में ही भू–राजस्व बंदोबस्तों से जुड़े महत्वपूर्ण सवाल चर्चा का विष बन गये। मसलन भूमि का मालिकाना हक किसका है? राज्य को भू–राजस्व देने की अंतिम जिम्मेदारी किसकी है? भूमि का उपज में राज्य का हिस्सा कितना होना चाहिए? क्या मुगलकालीन जमींदारों के पास भूमि का मालिकाना हक था या वे केवल राज्य और काश्तकार के बीच में बिचौलिये मात्र थे? हेस्टिंग्स का मानना थ कि सम्पूर्ण भूमि का मालिक राज्य ही है और जमींदार राज्य और किसानों के बीच भू–राजस्व वसूल करने वाले बिचौलिये या एजेन्ट ही थे इसीलिए उनका यह भी मानना था कि पुराने नवाबी काल के जमींदारों को तभी भू–राजस्व वसूली का हक दिया जाना चाहिए जब वे कम्पनी को उतना भू–राजस्व देने की गारन्टी दे जितना खुले बाजार में दूसरे लोग निलामी के आधार पर देने को तैयार थें। भू–राजस्व प्रणाली के बारे में ये जो प्रारंभिक प्रयोग चल रहे थे, वे कम्पनी को एक स्थाई और निश्चित आय देने में असफल रहे क्योंकि हर साल भू–राजस्व की वसूली से आय में उतार–चढ़ाव देखने को मिल रहा था। ये प्रयोग कृषि की दशा भी बिगाड़ रहे थे और काश्तकारों ने स्थायी बंदोबस्त की नींव रखी।

स्थायी बंदोबस्त का संचालन और परिणाम

लार्ड कॉनवालिस ने जमींदारों के साथ 1789 में एक दस सालाना बंदोबस्त किया जिसे बादउ में 1793 में स्थायी करने की घोषणा की गई। 1765-93 के बीच के प्रयोगों से ही कंम्पनी प्रशासन को अनेक जानकारियाँ हासिल हुई–मसलन् उन्हें पता लगा कि कृषि–उत्पादन की मात्रा और दाम कितना है और कृषि–व्यवस्था को चौपट किये बिना कितना भू–राजस्व वसूल किया जा सकता है, और भू–राजस्व निर्धारण और वसूली में होने वाले खर्च को कैसे कम किया जा सकता है। वित्त और आय का स्थायित्त्व देने के लिये 1793 में कॉर्नवालिस ने तय किया कि भू–राजस्व की वसूली जमींदारों के हाथों में हो और वे काश्तकारों से कितना वसूल करें, इसके बारे में वे पूरा स्वतंत्र रहेंगें। लेकिन अगर जमींदार समय पर भू–राजस्व न दे सकें तो उसकी जमींदारी खत्म करके उसकी जगह दूसरा नया जमींदार बिठा दिया जाये। बार–बार भू–राजस्व निर्धारण से बचने के लिए यह भी सिफारिश की गई कि 1789-90 में जो देय भू–राजस्व था वह मोटे तौर पर काश्तकारों द्वारा जमींदारों के दिये जा रहे लगान का 9/10 वां अंश था, उसे स्थायी रूप से भू–राजस्व मान लिया जाये।

इस स्थायी बंदोबस्त के माध्यम से जमींदार और भू–राजस्व कृषकों को सरकार का एजेन्ट ही नहीं बल्कि उनकी जमींदारी में मालिकाना हक भी दे दिया गया। जॉन शोर ने घोषणा की कि "जमींदार को जमीन में स्वामीत्त्व का हक भी होगा और यह हक आनुवांशिक आधार पर होगा और अपनी जमींदारी को बेचने या गहन रखने का अधिकार उन्हें इसी मूल–अधिकार के कारण मिला था"। सामान्यता: ब्रिटिश पूर्व कृषि–व्यवस्था में खुद–काश्त और पाय–काश्त दो तरह के काश्तकार थे खुद–काश्त काश्तकारों को जब तक वे भू–राजस्व समय पर देते रहे, अपनी जमीन पर बने रहने का अधिकार (occupancy right) भी राज्य के द्वारा या प्रथा के अनुसार प्राप्त था। स्थायी बंदोबस्त ने इन काश्तकारों के अनेक प्रकार के भू–सम्पतियों में अधिकारों को, जो उन्हें प्रथा के अनुरूप (customary right) प्राप्त थे पूरी तरह ध्वस्त कर दिया जैसे उनके चरागाह और जंगली भूमियों के सामुहिक सम्पदा के अधिकार, लगान में बढ़ौतरी से सुरक्षा देने वाले अधिकार और तालाब से मछली आदि पकड़ने का अधिकार आदि को खत्म कर दिया गया। निश्चित रूप से कम्पनी प्रशासन की रूमि काश्कारों के अधिकारों से ज्यादा इस बात में थी कि उसे प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम प्राप्त होने की गारन्टी रहे। उन्हें यह भी पता था कि भू–राजस्व की मात्रा निश्चित (fixed) कर देने से राज्य को भविष्य में होने वाली कृषि–आय में बढ़ोतरी का हिस्सा नहीं मिल पायेगा लेकिन उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि यदि कृषि का सुधार और विस्तार होता है तो उससे व्यापार और उद्योगों को भी फायदा मिलेगा और उनसे प्राप्त बढ़े हुए करों और शुल्कों से यह हानि पूरी कर ली जायेगी। वे कृषि योग्य भूमि का अकुशल और अनुत्पादक वर्ग से समृद्ध और सुधार पर ध्यान देने वाले भू–स्वामियों के हाथों में हस्तांतरण चाहते थे।

चूंकि राज्य द्वारा भू–राजस्व स्थायी रूप से सदा–सदा के लिए निश्चित कर दिया गया था इसलिये अगर भविष्य में अगर कृषि से सुधार या विस्तार से भी अगर जमींदार क खेतों या जमींदारी से प्राप्त लगान में बढ़ौतरी होती या बगैर सुधार के भी अगर जमींदार अपने काश्तकारों से अधिक लगान वसूल कर सकता है तो राज्य के बजाय जमींदार ही इस राशि का हकदार बन बैठा। उसे हम अनुपार्जित आय वृद्धि (unearned increment of income) कह सकते हैं। जमींदारों की आय बढ़ौतरी का कृषि को उत्पादकता में वृद्धि या कृषि सुधार से कोई सम्बंध नहीं था। जमीदार लगान वसूल करने में हमशा तत्पर रहते थे। वे

ज्यादातर प्रवासी (absentee landlord) थे। राष्ट्रवादी नेता रमेश चन्द्र दत्त ने सथायी बंदोबस्त का काफी गुणगान किया। क्योंकि वे स्वयं इसी सामाजिक वर्ग में पैदा हुए इसलिए उन्होंने इसे अंग्रेजी राज का बेहद कल्याणकारी कदम बताया उन्हीं के अनुसार जहाँ जमींदार द्वारा देय भू–राजस्व उसके द्वारा वसूले गये लगान मूल्य का 1790 में 90% भाग था वहीं 19 वीं सदी के अंत में जमींदार राज्य को किसानों और काश्तकारों से वसूल किये गये लगान–मूल्य का 28% ही दे रहे थे। अर्थात् जमींदारों की अनुपार्जित आय में तेजी से बढ़ोतरी हुई।

स्थायी बंदोबस्त लागू करने के पीछे कॉर्नकालिस का उद्देश्य कम्पनी–शासन की राजनैतिक, वित्तिय और प्रशासनिक जरूरतें थी। राजनैतिक रूप से जमींदार वर्ग एक सहयोगी और मित्र वर्ग के रूप में काम करेगा–ऐसी अपेक्षा ब्रिटिश प्रशासन की थी और इस कसौटी पर जमींदार वर्ग हमेशा से खरा भी उतरा। चूँकि ब्रिटिश शासन ने इस वर्ग की जड़े मजबूत की इसलिए लोकप्रिय किसान और काश्तकारों के प्रतिरोध के समय जमींदारों ने ब्रिटिश राज की मदद की। इसके माध्यम से कम्पनी के उतार–चढ़ाव से ग्रस्त वित्तिय स्थिति में भी स्थायीत्व आया। इसके माध्यम से अधिकतर भू–राजस्व कम्पनी बिना ज्यादा बोझ और जिम्मेदारी उठाये आसानी से प्राप्त कर सकती थी। स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था में जमींदारों पर एकमात्र नियन्त्रण यह था कि उन्हें निश्चित दिन सूर्यास्त से पहले भू–राजस्व की पूरी रकम सरकारी खजाने में जमा करनी पड़ती थी। कम्पनी चाहती थी कि केवल योग्य और कुशल व्यक्ति ही जमींदार रहें और जो जमींदार अपनी जमींदारी से मुनाफा नहीं कमा सकें वे अपने भू–राजस्व की बकाया रकम जमा करने के लिए अपनी जमींदारी बेचने पर मजबूर हो जायें। कई बार जमींदारों द्वारा वसूल लगान की राशि में बढ़ौतरी होने पर भी उनकी महाजन–साहूकारों पर निर्भरता बढ़ गई। क्योंकि, ज्यादातर जमींदार शहरों में रहते थे और अनाप–शनाप खर्च कर रहे थे। 1769-70 के आकाल के बाद बंगाल की कृषि की दशा भी मंदी से जूझ रही थी। 1794 और 1807 के बीच सरकार को भू–राजस्व का 41% राशि उपलब्ध कराने वाली जमींदारियाँ अपने मूल जमींदारों के हाथों में नहीं थी। ये जमींदारियाँ मुख्यतया व्यवसायिक और साहूकार–महाजन वर्ग के हाथों बेची गयी। इस प्रक्रिया की वजह से किसान/काश्तकार और राज्य के बीच बिचौलियों की कतार और भी लम्बी होने लगी।

कृषि के सुधार करने के साधन के रूप में स्थायी बंदोबस्त पूरी तरह ना कामयाब रहा। पुरानी जागीरों और जमींदारियों के बिखराव से जमीन और सत्ता एसे नये छोटे भू–स्वामियों के हाथों में जाने लगी जो प्रशासनिक सेवाओं, व्यापार और व्यवसायिक सेवाओं के क्षेत्र से उभरा कुलीन वर्ग था। हॉलाकि इस तरह के कुछ जमींदारों ने कृषि–सुधार करने की कोशिश की और नील की खेती आदि में पूँजी का निवेश किया लेकिन अधिकांश लगानभोगी परजीवी जौंकों जैसी ही थे। कुछ हद तक जमींदारों के नीचे समृद्ध धनी किसान और कम अधिकारों वाले भू–स्वामी (under-proprietors) भी कृषि उत्पाद पर नियंत्रण बना कर और सामाजिक सत्ता का प्रयोग अपने फायदे के लिए करके स्थाय–बंदोबस्त से लाभ पाने में समर्थ रहे। ज्यादा मूल्य वाली नकदी फसलों के उत्पादन खासकर जैसे गन्ना, शहतूत, नील और अफीम से इन कुलीन जनों को फायदा हुआ जो भू–सम्पति, पूँजी और श्रम पर नियतंत्र बनाये हुए थे। हाँलाकि स्थायी बंदोबस्त का बंगाल के कृषि सम्बंधों पर क्या प्रभाव पड़ा इसके बारे में विद्वान अलग–अलग राय देते हैं। रत्नालेखारे का तर्क है कि जमींदारों की भू–सम्पति से दूरी होने और उथल–पुथल वाली आर्थिक परिस्थितियों का लाभ उठा कर धनी किसान और उच्च काश्तकारी अधिकार प्राप्त वर्ग ने अपनी भू–सम्पतियों का विस्तार किया जबकि रजत दत्ता का मानना है बंगाल के ज्यादातर इलाकों में 18 वीं सदी में छोटे किसान और काश्तकार ही मुख्य भूमिका अदा कर रहे थे।

स्थायी बंदोबस्त में कॉर्नवालिस ने जमींदारो द्वारा सरकार को दिया जाने वाला भू–राजस्व या कुल जमा (भू–राजस्व की रकम) ही निर्धारित की। जमींदार अपने काश्तकारों से कितना लगान वसूल करेंगे इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की। कॉर्नवालिस ने अपेक्षा की थी कि अगले चरण में जमींदार और ताल्लुकदार अपने काश्तकारों को सुरक्षा देंगे और विधिवत् अनुबंध (legal contract) के रूप में पट्टे लिख कर देंगे। उनका मानना था कि अगर जरूरत होगी तो राज्य काश्तकारों और अधीनस्थ जमींदारों के हकों के पक्ष में खड़ा होगा लेकिन वास्तविक व्यवहार में जमींदारों ने काश्तकारों को इस प्रकार के लिखित पट्टे नहीं दिये और जहाँ दिये भी गये तो जमींदारों और इजारेदारों के गुमास्तों के द्वारा दिये गये। भू–राजस्व वसूली और प्रथा द्वारा निर्धारित लगान के पुराने तौर–तरीकों को स्थायी बंदोबस्त में पूरी तरह नजरअन्दाज कर दिया गया। काश्तकारों के अधिकार और सुरक्षा पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा। बहुत से भूमिहीन या छोटे किसान अधियार काश्तकार या **बटाईदारों** में बदल गये जो जमींदारों की जमीनों पर 50% फसल के लिए काम करते थे। ज्यादातर काश्तकारों की स्थिति ऐसी बन गई कि जमींदार मनमाने ढ़ग से उनका लगान बढ़ा सकते थे, उनको जमीन से बेदखल कर सकते थे या जिन्हें उत्पादन–सम्बंधी निर्णय लेने को कोई अधिकार नहीं था। जमींदारों ने लगान के अलावा भी तरह–तरह के गैर–कानूनी सामती कर जिन्हें **अबवाव** कहा गया, काश्तकारों से लेने शूरू कर दिये। 1799 में कम्पनी प्रशासन ने जमींदारों की लगान वसूल करने की क्षमता बढ़ाने के लिए उन्हें काश्तकारों की कैद करने जैसा अधिकार भी दिया और लगान की बकाया रकम वसूल करने के लिए उनके पशुओं की नीलामी का हक भी उन्हें दिया। हाँलाकि 1812 के रेगुलेशन V में इस प्रकार के

अधिकारों को सीमित कर दिया गया लेकिन काश्तकार असुरक्षित ही बने रहे और गैर–आर्थिक शोषण और उत्पीड़न इस व्यवस्था का अभिन्न अंग बन चुका था।

रैयतवाड़ी व्यवस्था का वैचारिक आधार और लक्ष्य

स्थायी बंदोबस्त की कमियाँ ब्रिटिश प्रशासकों की नजर में भी जल्द ही आने लगी। उसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि भले ही कम्पनी को निश्चित रूप से भू–राजस्व मिलने लगा लेकिन इसमें बढ़ोतरी का रास्ता बंद हो गया। अगर बंदोबस्त के बाद किसान उत्पादकता बढ़ाते या अधिक जमीन पर खेती करते तो उसका फायदा न तो किसान को मिलना था ना ही सरकार को। इसे जमींदार और उनके एजेन्ट या इजारेदार परजीवी की तरह हज्म करते रहे। राज्य और किसान क बीच इन बिचौलियों की जमात और इस जमात की आमदनी दोनों ही में तेजी से बढ़ौतरी हुई। स्थायी बंदोबस्त के आधार पर निश्चित भू–राजस्व और जमींदार को काश्तकारों द्वारा दिये जाने वाले लगान में लगातार वृद्धि के बीच बढ़ते अंतर ने जमींदार वर्ग की ताकत बढ़ाई और इसकी स्थिति को सुदृढ़ किया। इसी संदर्भ में हम 19 वीं सदी में कम्पनी के अधिकारियों की जमींदारी या स्थायी बंदोबस्त की तीखी आलोचना को समझ सकते हैं। उन्होंने जमींदार जैसे बिचौलियों के शोषण और उतपीड़न से रैयत को आजाद कराने का एक अभियान का रूप दे डाला। लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य किसानों को इस परजीवी वर्ग के शिकंजे से आजाद करने की बजाय कुछ और ही था। वे सीधे किसान या रैयत के साथ भू–राजस्व का निर्धारण और इकरारनामा (agreememt) करना चाहते थे। और स्थायी बंदोबस्त की तरह भू–राजस्व की रकत निश्चित करने की बजाय 20-30 साल के बाद भू–राजस्व का दुबारा से निर्धारण करना चाहते थे। जिससे कृषि के विस्तार और प्रगति और कृषि मंडियों के फैलाव के साथ–साथ सरकार भी इस बढ़ी आय का हिस्सा प्राप्त कर सके। बंगाल के बंदोबस्त की कमजोरियों के खिलाफ प्रतिक्रिया के अलावा इस नीति में बदलाव के पीछे एक बौद्धिक विचार भी जिम्मेदार माना जा सकता है – वह था इंग्लैण्ड की उपयोगितावादी (uilitarian) अर्थनीति और विचारधारा का असर। खासकर जैरमी बैन्थम और डेविड रिकार्डो के विचारों का प्रभाव। बैन्थम का प्रभाव मुख्यतया कानूनी ढाँचे और प्रशासनिक क्षेत्र में देखने में आया और रिकार्डो का असर रैयतवाड़ी व्यवस्था के विकास में। रिकार्डो 19 वीं सदी के प्रारम्भ का इंग्लैण्ड का शायद सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री था। भारतीय प्रशासकों पर उपयोगितावादी दर्शन का प्रभाव हैलीबरी कॉजेज, जहाँ कम्पनी के सिविल–अधिकारियों को प्राशीक्षण दिया जाता था, के माध्यम से पहुँचा। टॉमस मालेथस जो वहाँ अर्थशास्त्र के अध्यापक थे, उन्होंने रिकार्डो के विचार और सिद्धांतों से एलिफन्स्टन और एडवर्ड स्ट्रेची जैसे अधिकारियों को अवगत कराया। रिकार्डो ने अपनी मशहूर किताब, प्रिंसिप्लस ऑफ पोलिटिकल इकानामि (1821) में कहा कि जमींदार लोग जमीन के लिए जो लगान काश्तकारों से पाते हैं वह कुदरत की देन भूमि पर उनके एकाधिकार (monopoly) की वजह से उन्हें मिलता है। उनका उतपादन–प्रक्रिया में खुद का कोई भी योगदान नहीं रहता। मजदूर अपना श्रम लगाता है, पूँजीपति अपनी पूँजी, उद्यमी–व्यवसायी उद्योग संगठन में सक्रिय हिस्सेदारी निभाता है जबकि जमींदार कुछ भी नहीं करता और परजीवी जैसे केवल भूमि के स्वामित्व के कारण अनर्जित आय (unearned income) का उपयोग करता है। जमींदार का लगान, इस सिद्धांत के अनुसार, अधिक उपजाऊ भूमियों की उत्पादकता का अंतर मात्र है। इसीलिये जमींदारों की आमदनी पर कर लगाने से उत्पादन और आर्थिक प्रगति में कोई भी बाधा नहीं आयेगी। इसलिये सरकार को भू–राजस्व के रूप में लगान का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा स्वंय वसूल कर लेना चाहिए। और अगर हो सके तो जमींदार वर्ग को एक बिचौलिये के रूप में खत्म कर देना चाहिए। इंग्लैण्ड की सामाजिक व्यवस्था में कुलीन भू–स्वामी वर्ग का अभी भी काफी वर्चस्व कायम था और इस तरह के विचार को वहाँ लागू करना असम्भव सा ही था लेकिन हिन्दुस्तान में उपयोगितावादी विचार से प्रभावित अधिकारियों ने यह प्रयाग करने की ठान ली। लेकिन अगर जमींदारी–व्यवस्था खत्म कर दी जाये तो किसान से लगान की वसूली किस हिसाब से की जाये। इसके लिए अंग्रेज अधिकारियों ने शुद्ध उपज (net produce) का धारण अपनाई अर्थात् कृषि–उत्पाद के कुल मूल्य में से किसान की मजदूरी और उत्पादउन में होने वाले अन्य खर्चों को निकाल कर जो बचे, उसका एक अंश लगान के रूप में लिया जा सकता है। यह अंश कितना हो – इस बारे में अंग्रज अधिकारियों के अलग–अलग मत थे।

रैयतवाड़ी-व्यवस्था का विकास और संचालन

मद्रास प्रांत में रैयतवाड़ी व्यवस्था को जन्म देने में टॉम्स मुनरों की अहम भूमिका रही। बाद में एलफिन्सटन और अलेक्जैन्डर रीड़ जैसे अधिकारियों ने बम्बई प्रांत में इसी व्यवस्था को अपनाया। सैद्धान्तिक रूप से यह मान लेने से रैयत या किसान के साथ भू–राजस्व वसूली का सीधा–सीधा रिश्ता कायम करना है और यही सही रहेगा क्योंकि इन इलाकों में ऐसे बड़े जमींदार वर्ग का अभाव था जिससे बंदोबस्त किया जा सके– सब समस्याओं का निदान नहीं था। मद्रास के उत्तरी सरकार के क्षेत्र में जमींदारी–व्यवस्था को ही आधार बनाया गया था। कैप्टन एल्कजैन्डर रीड़ और टॉमस मुनरों ने कुछ अपवाद के रूप में इलाके छोडकर शुरू से रैयतवाडी बंदोबस्त लागू करने की कोशिश की। प्रयोग के तौर पर परम्परागत गाँव के स्तर के पटेल और अमीलदार जैसे नुमाइन्दो को बरकरार रखते हुए कन्नड़ प्रदेश, कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के बीच के दोआब आदि क्षेत्रों में किसानों के साथ भू–राजस्व की सीधी वसूली करने की कोशिश की गई। कम्पनी प्रशासन ने शुरू में कर्नाटक के पोलीगरों के अधिकार

खत्म करने की कोशिश की लेकिन उनके विद्रोह के बाद 1803 में दक्षिण कर्नाटक में उनके जमींदारी हक कायम रखे गये। 1807-1820 के बीच मद्रास के रिवन्यु अधिकारियों के बीच जबरदस्त बहस चली कि बंदोबस्त का स्वरूप कैसा हो? क्या बंगाल के स्थायी बंदोबस्त का यहाँ विस्तार किया जाये या किसान के साथ स्थायी सीधा बंदोबस्त हो या मद्रास बोर्ड ऑफ रिवन्यु के अनुसार गाँव को एक इकाई मानकर स्थायी महलवाड़ी व्यवस्था लागू की जाये। मुनरों का मत था कि यह स्थायी रैयतवाड़ी व्यवस्था होनी चाहिए। मुनरों ने मौजूदा कुल फसल के मूल्य के 45% भाग की बजाय 33.75% हिस्सा भू–राजस्व के रूप में रखने की सिफारिश की। वे भू–राजस्व की वसूली में गाँव के स्तर के मौजूदा अधिकारी जैसे पटेल, कारनुम वगैरह को भी बनाये रखने के पक्षधर थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों (Court of Directors) ने मद्रास प्रांत में अस्थायी रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करने का निर्देश दिया यानि किसान या रैयत की भू–स्वामी मानते हुए 20-30 साल के लिए भू–राजस्व का अस्थायी निर्धारण दिया जाये और हर 20-30 साल मे नया भूमि–कर निर्धारण हो। मुनरों ने 1820-27 के बीच मद्रास के गर्वनर के रूप में काम करते हुए इस बंदोबस्त को लागू किया इसमें भू–राजस्व की देय राशि फसल के कुल मूल्य का मोटे तौर पर 1/3 वां हिस्सा मुद्रा के रूप में एकमुश्त वसूल करने की बात कही गई। यह रकम ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त कलैक्टरों के माध्यम से सीधे किसानों से वसूल की जानी थी। यह काम व्यवहार में इतना आसान नहीं था। इसमें कम्पनी के प्रशासनिक ढाँचे पर काफी दबाव बढ़ा दिया क्योंकि भू–राजस्व के सीधे आकलन का मतलब था कि व्यक्तिगत रैयत के खेतों का सर्वे करके उसके 'लगान' का वैज्ञानिक निर्धारण और साथ ही साथ भूमि के लगान मूल्य के बाजार भाव का ज्ञान होना, वहाँ भी जहाँ इस तरह के बाजार मौजूद ही नहीं थे। सर्वे और बंदोबस्त के माध्यम से रिकार्डो के लगान–सिद्धान्त को लागू करने में सब तरह की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक कठिनाई सामने आई। फिर सर्वे और बंदोबस्त के काम में लगे भारतीय अधीनस्त कर्मचारियों के अपने सम्बंध और प्रभाव भी इस पर अपना असर छोड़ते हैं। इसलिए बाद में 1840 के बाद जब बम्बई में रैयतवाड़ी बंदोबस्त की नीति को सैद्धान्तिक आधार पर न रखकर पहले मौजूद दृष्टांत के आधार पर रखा गया। बंदोबस्त को और अधिक 'वैज्ञानिक' आधार देने के लिए कुल फसल के हिस्से को भू–राजस्व के रूप में लेने की बजाये, 1850 के बाद चार्ल्स बुड ने 'नेट' उपज का 50% रखने की बात कही गई। लेकिन यह इतना आसान नहीं था। इसके लिए अनेक अलग–अलग गणनाओं और आकलनों की जरूरत पड़ती थी मसलन किसी इलाके में कृषि–उत्पाद कितना है, विभिन्न उत्पादों का मूल्य बाज़ार–दर से कितना है, किसान का बीज, जुताई–बुवाई और पशु–पालन में खर्चा कितना है, मजदूरी के रूप में किसान–परिवार के कितने लोगों का कितने दिनों का उत्पादन श्रम माना जाये, किसान का बैल आदि का मूल्य ह्रास कितना आँका जाये। एक बात और तय है कि रैयतवाड़ी व्यवस्था में भी भू–राजस्व का निर्धारण खास कर 19 वीं सदी के पूर्वार्ध में काफी ऊँची दरों पर किया गया।

बम्बई प्रांत में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करने में इलफिंस्टन ने अपनी छाप इस पर छोड़ी। उन्होंने ग्राम–समुदाय के पुरानी कार्य–पद्धति को भू–राजस्व वसूल करने के लिए इस्तेमाल करने पर बल दिया। पटेल और कुलकर्णी जो मराठा भू–राजस्व प्रशासन के ग्रामीण आधार थे उन्हें ब्रिटिश मामलतदार और कलैक्टरों की मदद के लिए बनाये रखा गया। 1824-28 के बीच लागू किये प्रिंग्ले के बंदोबस्त में कृषि उत्पाद और उत्पादन के खर्चों के अनुमान बहुत ही त्रुटिपूर्ण थे और उन्होंने भू–राजस्व की दर शुद्ध उपज (net produce) का 55% रखी जो बहुत ही ज्यादा साबित हुई। और इसीलिए 1835 के बाद जब विन्गेट नामक अधिकारी ने दुबारा इस क्षेत्र का बंदोबस्त किया तो वह उत्पादन और खर्च के आधार पर न होकर, अलग–अलग जमीनों की उत्पादन–क्षमता (productivity) और पुराने बंदोबस्त में राजस्व की दर पर आधारित किया गया। उन्होंने किसानों की जमीनों का उत्पादकता के आधार पर सापेख मूल्यांकन (relative valuation) करके भूमियों का आनों के रूप में वर्गीकरण किया जिसे आने वारी मूल्यांकन (Annewari assessment) कहा जाता था। किसी इलाके की सबसे ज्यादा उपजाऊ जमीन को सोलह आना की भूमि कहा गया और इसी तरह बाकी के सापेक्ष मूल्यांकन भी तय किये गये। राजस्व वसूली और कीमतों के पुराने आंकड़ों के अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्र का भू–राजस्व आँका जाता था। इसके बाद भू–राजस्व की कुल मात्रा को विभिन्न किसानों के बीच उनके पास किस वर्ग की कितनी भूमि है – इसके आधार पर बाँट दिया जाता था। 1840 के दशक के बाद अत्यधिक भू–राजस्व की दरों को नरम बनाया गया लेकिन इस 'उदार' भू–राजस्व के बावजूद कृषि–व्यवस्था के लिए रैयतवाड़ी भी विनाशकारी व्यवस्था साबित हुई। ब्रिटिश प्रशासन ने गाँव के स्तर के रैयत को खेती करने वाले किसानों की बजाय भू–स्वामी मान कर बंदोबस्त किया था। इनमें बहुत से पहले के मौजूद स्थानीय प्रभुत्वशाली कुलीन थे जिनके ब्रिटिश पूर्व शासको से भू–राजस्व वसूली के इकरारनामें थे। स्थानीय प्रशासनिक तंत्र में ये पटेल और कुलकर्णी के रूप में काम करने वाले क्रमशः कानून–व्यवस्था की देख–रेख करने वाले ग्राम–प्रमुख और भूमि–अधिकारों का लेखा–जोखा रखने वाले अधिकारी के रूप में काम करते थे। वेतन के अलावा इन्हें कर रहित **इनाम** जमीनें भी प्राप्त थी। ब्रिटिश–राज के आने से इनके सामाजिक–आर्थिक अधिकारों को ठेस पहुँची – कम्पनी प्रशासन द्वारा लादा गया भारी मात्रा में भू–राजस्व बहुत बड़ा बोझ था खास कर 1820 और 1830 के दशकों में जब कृषि–उपज के दाम गिरावट पर थे। भू–स्वामी रैयत और उच्च अधिकारों से सम्पन्न रैयत का भी बाजार–तंत्र और मुद्रा के बाजारों पर कोई नियतंत्र नहीं था।

बढ़ती जनसंख्या ने जहाँ रैयत की भूमियों का विखण्डन करना शुरू किया वहीं साहूकार–महाजन पूँजी के कृषि–क्षेत्र में दखलन्दाजी बढ़ाने से बड़े पैमाने पर रैयतों की जमीनों का हस्तांतरण होना शुरू हो गया।

महालवाड़ी भूमि-बंदोबस्त

उत्तर–प्रदेश के अधिकांश हिस्सों में और पंजाब एवं मध्य प्रदेश के कुछ इलाकों में भू–राजस्व की नयी पद्धति इस्तेमान की गई। इन क्षेत्रों में काम कर रहे अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास था कि इन इलाकों में ग्राम–समुदाय की आर्थिक–राजनैतिक जीवन में एक खास भूमिका रही थी। यहाँ कलीबाई अधार पर या भाईचारे के आधार पर गाँव की जमीनों का अधिकार व्यक्तिगत ना हो कर सामूहिक था और कबीले के लागों को अलग–अलग जमीनों का अंशभाग या हिस्सेदारी मिली हुई थी। इसलिए महालवाड़ी व्यवस्था में भू–राजस्व के लिए समझौता या इकरारनामा जमींदारों ने नहीं बल्कि पूरे गाँव के साथ किया जाता था। सारा 'महल' (फारसी में भू–राजस्व आकलन की इकाई) या गाँव सामूहिक तौर पर और गाँव का हर जमींनदार और काश्तकार अलग–अलग तौर पर भी भू–राजस्व की अदायगी के लिए जिम्मेदार माना जाता था। इस बंदोबस्त को सुचारू ढंग से चलाने के लिए गाँव के प्रभावशाली जमींदार को **नम्बरदार** बना कर समझौता का आधार बनाया गया। गाँव के लिए निर्धातिर पूरी भू–राजस्व की रकम को प्रत्येक निसान में उसकी जोत के आकार के हिसाब से बाँट दिया जाता था। किसान और जमींदार अपनी जमीन का भू–स्वामी तब तक बना रहता था जब तक वह समय पर निर्धारित भू–राजस्व की रकम अदा करता रहे। इस बंदोबस्त में भी भू–राजस्व का आकलन स्थायी रूप से न करके कुछ इलाकों में 20 साल और कुछ इलाकों में 30 साल के लिए किया जाता था। इस अवधि के बाद नयी राजस्व की दरें निश्चित की जाती थी।

महालवाड़ी प्रणाली में भी भू–राजस्व की राशि के निर्धारण का काम अंग्रेज सर्वे और बंदोबस्त अधिकार गाँव के नम्बरदार और पंचायत की मदद से करते थे। इस प्रकार हाँलाकि इसमें जमींदार वर्ग जैसा कोई मध्यस्थ वर्ग नहीं था लेकिन धीरे–धीरे गाँव के नम्बरदार और मुखिये ही बिचौलिये जैसी भूमिका निभाने लगे। इनको कुछ सरकारी विशेष अधिकार भी इन्हें प्राप्त थे जिनका नाजायज फायदा उठाकर ये गाँव की बहुत सी जमीनों पर कब्जा जमा लेते थे। उत्तर भारत में होल्ट मैकन्जी की सिफारिसों के अधार पर बंदोबस्त ग्राम समुदाय के साथ करने की कोशिश की गई। ऐसा माना लिया गया ये ग्राम–समुदाय 'सामूहिक काश्कारी (common tenancy) का एक नमूना पेश करते थे। 1822 के रैगुलेशन VII के तहत भू–राजस्व के रूप में वसूल किये जा रही रकम को भूमि के लगान मूल्य (rental value of land) का 80% से भी ज्यादा रखा गया बाद में लार्ड बैन्टिक के समय में इसको कम करके लगभग 65-66% तक सीमित कर दिया। 1855 में डलहौजी के काल में जमींदारों के मुनाफे बढ़ाते हुए भू–राजस्व को लगान–मूल्य का 50% निर्धारित करने के सिफारिश की गई। यह सहारनपुर नियमों के नाम से किया गया। व्यापक पैमाने पर भूमि का सर्वेक्षण करके, फसलों की उत्पादकता, कृषि योग्य भूमि के नक्शे बनाकर और पैमाईश करके 1833-49 के बीच रॉबर्ट मर्टीनस् बर्ड और जेम्स थॉमसन नामक अधिकारियों ने महालवाड़ी बंदोबस्त की व्यवहारिक रूप रेखा तैयार की और जिलेवार सर्वे एवं बंदोबस्त का काम किया। महालवाड़ी में भी भू–राजस्व की दरें प्रारम्भ में काफी अधिक थी और काश्तकारों को भू–स्वामी का अनुवांशिक अधिकार दिया गया।

यह एक अहम् मुद्दा है कि किस प्रकार तकनीकी बदलाव के बिना भी कैसे बंदोबस्त व्यवस्था के वित्तिय और कानूनी तंत्र ने भारतीय कृषि में एक संरचनात्मक परिवर्तन लाने में मदद की। सह–भागिता पर आधारित भूमि–प्रणाली लागू करने में अंग्रेज अधिकारियों को यह समस्था नहीं थी कि उनको ग्राम समुदाय में सामूहिक काश्तकारी के स्वरूप के बारे में कोई गलतफहमी थी बल्कि मुख्य समस्या यह थी कि इस सामूहिक प्रणाली को, कैसे भूमि के स्वामीत्व और हस्तांतरण के हक और दावों के नये मापदंडों जिनको उन्होंने लागू किया था, के साथ जोड़ कर देखा जाये। कुछ हद तक इस समस्या से निपटारा भू–राजस्व के लिये वचनबद्ध होने के अधिकार (मालगुजारी) और स्वामित्व या मालिकाना हक को अलग–अलग किस्म के हक मान कर किया गया। हाँलाकि व्यवहार में, ब्रिटिश प्रशासन की कोशिश थी कि दोनों किस्म के हक सामान्यतया एक ही व्यक्ति में विलय समझे जाये। यह अचरज की बात है कि ग्राम समुदाय को बचाये रखने के लिए ब्रिटिश प्रशासन द्वारा उठाये गये कदमों से ही इसका विघटन शुरू होता है। 1830 के बाद विस्तृत जानकारी हासिल करने वाले सर्वेक्षण और अधिकारों के रिकार्ड तैयार करने का जो अभियान महालवाडी क्षेत्रों में चलाया गया उससे भूमि के हस्तांतरण की प्रक्रिया और संयुक्त जोतों के बिखराव की प्रक्रिया को ही बल मिला। जमीन के व्यक्तिगत हिस्सों या अंशों को भी इससे गहन (mortgage) किया जा सकता था। इस नयी भू–राजस्व व्यवस्था में पहले ही ब्रिटिश–पूर्व बंदोबस्तों के लचीलेपन को खत्म करके काश्तकारों को पैसे के रूप में निर्धारित भू–राजस्व की रकम निश्चित समय पर देने के लिए वचनबद्ध कर लिया था। इसी बढ़े हुए भू–राजस्व के दबाव में काश्तकार ने नील, गन्नन जैसी फसलों का उत्पादन शुरू किया जिससे स्थानीय अन्न का व्यापार करने वाले व्यापारियों और सूद पर पैसा उधार देने वाले महाजन–साहूकारों की स्थिति सुदृढ़ होती चली गयी। बहुत से काश्तकारों ने फलस्वरूप अपनी उत्पादन–निर्णय लेने की क्षमता और अन्ततः भूमियों के स्वामित्व के हकों से भी हाथ धोना पड़ा।

अध्याय - 3 (b)

कृषि का वाणिज्यीकरण
(Commercialisation of Agriculture)

19वीं सदी के शुरू से ही भारतीय कृषि में एक नयी प्रवृति उभर कर सामने आई लेकिन 19वीं सदी के मध्य से यह प्रक्रिया और अधिक तेज होती है। इसे हम कृषि के वाणिज्यीकरण के नाम से जानते हैं। 19वीं सदी के प्रारम्भ में भारत नील, अफीम, कपास और रेख आदि कृषि–उत्पादों का निर्यात करता था। ये प्रारम्भिक नकदी फसले ऐसी थी जो कम मात्रा में दी निर्यात करके अधिक मुनाफा अर्जित करने में मददगार साबित हुई। हाँलाकि ये ज्यादातर कृषि–उत्पाद परम्परागत कृषि उत्पाद थे लेकिन निर्यात की तरफ रूझान रखने वाले इन नकदी फसलों का उत्पादन यूरोपीय उद्यम और राज्य के द्वारा हासिल समर्थन से ही सम्भव था। इन फसलों ने किसान–उत्पादक को बहुत सीमित मुनाफे के अवसर प्रदान किये। यह बाद नील और अफीम के बारे में पूरी तरह सच थी जहाँ इसके खरीददार कुछ हद तक किसानों के उपर दबाव डालकर बलपूर्वक उनके उत्पाद को खरीद कर मंडियों में एक प्रकार का एकाधिकार नियंतत्र कायत कर चुके थे। इसके विपरीत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में फैलते हुए विदेशी निर्यात बाजार की वजह से जिन मोटे कृषि के उत्पादों को बढ़ावा दिया उनकी जड़े कृषक–अर्थव्यवस्था में ही निहित थी। धीरे–धीरे नील और अफीम मे निर्यात में गिरावट आई और उसकी जगह जूट, खाद्यान फसलों (गेहूँ और चावल), तिलहन, मूँगफली, चाय आदि ने ली। इनमें चाय, का उत्पादन यूरोपीय पूँजी द्वारा विकसित वर्गों पर निर्भर करता था लेकिन बाकी नकदी फसलों का किसान अपने फसल चक्रक के जरिये पैदा की गई। 1880 तक आते–आते बंगाल का कच्चा जूट, बम्बई प्रेंजीडैन्सी की कपास और मद्रास की मूँगफलियाँ कृषि–उत्पादन की मुख्य नकदी फसलें थी।

कृषि के वाणिज्यीकरण का सीधा अर्थ उस स्थिति से लिया जाता है जिसमें किसान–परिवार स्वंय अपने परिवार के उपयोग की बजाय फसलों का उत्पादन बाजार और मंडियों के लिए करता है। किसान उस फसल का उत्पादन ज्यादा करेगा जिसे बेच कर वह नकद रकम और मुद्रा अर्जित कर सके। इसमें किसान यह भी देखेगा कि बाजार में अलग–अलग फसलों के दाम कितने हैं और कौन सी जमीन किस फसल के उत्पादन के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस तरह कृषि का वाणिज्यीकरण फसलों के विशिष्टीकरण को भी जन्म देता है। अब अलग–अलग इलाकों में अलग–अलग फसलें उगाई जाने लगती है और किसान खाद्यानों और स्व–उपभोग के लिए फसलों का उत्पादन न करके नकदी फसलों (जैसे कपास, जूट, मूँगफली, गन्ना, सरसों आदि) का उत्पादन अधिक करने लगता है। अंग्रजी–शासन भू–राजस्व में भारी बढ़ौतरी के कारण हिन्दुस्तान में कृषि का लक्ष्य ही बदल गया और किसान फसल उगाने का निर्णय उपभोग की नीति जरूरतों के बजाय बाजार की जरूरतों के अनुसार ज्यादा करने लगा। इसी के अनुसार अलग–अलग नकदी फसलों का उत्पादन बढ़ गया। निर्यात–बाजार में कृषि–उत्पादन का आना इस वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया को दर्शाता है उदाहरण के लिये निर्वाह के लिए खेती की जगह 'व्यवसायी' फसलों को अपनाने का काम उन इलाकों में ज्यादा हुआ जहाँ निर्यात क लिए फसलें उगाई जाती थी जैसे बर्मा का चावल–क्षेत्र, पंजाब का गेहूँ क्षेत्र, पूर्वी बंगाल का जूट क्षेत्र और दक्कन का कपास क्षेत्र। इससे फसलों के ढाँचे में भी बदलाव आना शुरू हो गया। खाद्यान्नों की बजाय नकदी क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाले कृषि क क्षेत्रफल में वृद्धि होती है। 1913-14 में हिन्दुस्तान उत्पादित कपास का 56%, अलसी का 73%, कच्चे जूट का 51%, मूँगफली का 35%, और गेहूँ की उपज का 14% भाग निर्यात कर रहा था। लेकिन कृषि के वाणिज्यीकरण का अर्थ केवल कृषि–उत्पाद का बाजार में बेचने से नहीं बल्कि कृषि के में निवेश के तमाम घटक जैसे भूमि, श्रम, बीज, ऋण और उधार पर लिया जाने वाला पैसा (Credit) सभी बाजार में बिक्री के लिए आने लगे और उत्पादन के इन घटकों की गतिशीलता बढ़ती है।

वाणिज्यकरण का विस्ता

हाँलाकि हमारे पास ऐसे आँकड़ें नहीं है जिनसे यह पता चले कि खाद्यान्नों का कितना हिस्सा मंडियों में पहुँचता था। सरकारी आँकड़ों के अनुसार, नकदी फसलों के उत्पादन का अन्दाजा लगया जा सकता है। ब्रिटिश, भारत में (बर्मा को छोड़कर) 1901-37 के बीच खाद्यान्नों का उत्पादन (यानि चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि) करने वाले खेती के इलाकों को क्षेत्रफल केवल 16% बढ़ा जबकि इसकी तुलना में नकदी फसलों की खेती के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रफल का तेजी से विकास हुआ – ईख (69%), रूई (59%) और सरसों (36%) वृद्धि दर्ज करती हैं। पटसन की खेती का क्षेत्रफल नहीं बढ़ा–यह 19000-37 के बीच केवल 14% ही बढ़ा। इसका कारण यह था कि पटसन की खेती के लिए बंगाल के कुछ जिलों की जमीन और जलवायु ही ज्यादा उपयुक्त थे। जार्ज ब्लिन द्वारा दिये गये आँकड़ें (नकदी फसलों के कुल उत्पादन वृद्धि और प्रति एकड़ उत्पादन में बढ़ौतरी) इस विस्तार की कहानी दिखाते हैं।

ब्रिटिश भारत में औसत वार्षिक वृद्धि दर (% के अनुसार) : 1891-1946

जनसंख्या	0.67
कुल फसलों का क्षेत्रफल	0.40
कुल फसलों का उत्पादन	0.37
खाद्यान्नों का उत्पादन	0.11
नकदी फसलों का उत्पादन	1.31
खाद्यान्नों का प्रति एकड़ उत्पादन	0.18
नकदी फसलों का प्रति एकड़ उत्पादन	0.86

(स्रोत : जार्ज ब्लिन, Agricultural Trends in India, 1891-1946)

इस प्रकार वाणिज्यीकरण का विस्तार भारतीय किसानों और कृषि–उत्पादकों को विश्व की बड़ी–बड़ी मंडियों से जोड़ रहा था और इसमें किसानों के उद्यम और परिस्थितियों के अनुकूल अपने आर्थिक–जवन को ढाँलने का महत्वपूर्ण हाथ था। 1850 से पहले भारतीय किसान छोटे रेशे की कपास का उत्पादन चीन की मंडियों के लिए कर रहे थे लेकिन यह कपास इंग्लैण्ड की लंकाशायर की मिलों के लिए ज्यादा उपयुक्त नहीं थी। 1840-60 के बीच अंग्रेजी सरकार ने अमरीकी कृषि–विशेषज्ञ बुलाकर किसानों को बड़े–रेशे की कपास उगाने का प्रोत्साहन दिया लेकिन इसका कोई खास असर नहीं हुआ। लेकिन 1861-65 के बीच जब अमरीकी गृह–युद्ध की वजह से अमरीकी कपास जब लंकाशायर की मिलों में आनी बंद हो गयी और मंडियों में कपास के दाम तेजी से बढ़े तो दक्कन के किसानों ने बड़े व्यापक पैमाने पर नये संकर बीजों खासकर धारवाड़–अमेरीकरन किस्म को अपनाकर बड़े रेशे की रूई का उत्पादन अपनाया। हाँलाकि 1860-65 का यह समृद्धि का काल अस्थायी और छोटी अवधि के लिए ही था लेकिन इसने 1870 के दशक में महाद्विपीय यूरोप में भारत की रूई के लिए एक स्थायी बाजार तैयार करने में मदद की क्योंकि यहाँ मंडियों का संरचना और मिलों की तकनीकी लंकाशायर मुकाबले भारतीय किसान उत्पादों के पक्ष में ज्यादा थी। 1900 के बाद जापान का कपड़ा उद्योग भारतीय कपास की माँग का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत बन गया।

19वीं सदी के उत्तरार्ध में कई अन्य नकदी फसलों का निर्यात के लिए उत्पादन तेजी से बढ़ा खास तौर से जूट, गेहूँ, तिलहन और चाय भू–मण्डल में सुधर रहे संचार और यातायात के कारण अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में अपेक्षाकृत आसीन से जगह बनाने में कामयाब रहे। इस समय बर्मा के चावल के निर्यात में तेजी से बढ़ोतरी होती है। यह एक दम अलहदा विषय है कि बर्मा के इस चावल उत्पादन में भारतीय–व्यापारियों की पूँजी और हिन्दुस्तानी श्रम की ही अहम भूमिका रही थी। 1869 में स्वेज नहर के निर्माण से एशिशा और यूरोप के बीच का भारी खाद्यान्नों और कृषि–उत्पाद का निर्यात और ज्यादा आसान हो गया। भारतीय गेहूँ और तिलहनों के निर्यात को इससे काफी फायदा पहुँचा। 1870-1900 के बीच यूरोप की स्वर्ण–मुद्रा की तुलना में भारतीय चाँदी की मुद्रा का अवमूल्यन भी हो रहा था और इससे भारतीय कृषि–उत्पाद को निर्यात की मंडियों में प्रतियोगिता करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो रही थी। 1900 से 1920 के बीच अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में भारतीय कच्चे जूट की माँग भी काफी रही और यह निर्यात की जाने वाली एक महत्वपूर्ण फसल थी। भारतीय के गेहूँ की माँग में अकसर उतार–चढ़ाव देखने को मिलता है क्योंकि आंतरिक यातायात की समस्याओं और अन्य लागतों के कारण भारतीय गेहूँ के दाम अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में अपेक्षाकृत अधिक ही रहते थे लेकिन जब दूसरे गेहूँ–उत्पादकों की फसल ठीक नहीं होती थी तब भारत के गेहूँ की माँग बढ़ जाती थी। 1902 और 1913 के बीच इंग्लैण्ड के कुल गेहूँ के आयात में भारतीय गेहूँ का हिस्सा करीब 18% था। अंग्रेजी सरकार ने प्रथम विश्व युद्ध में अन्न की उपलब्धता से चिंतित होकर भारत से अन्न के निर्यात पर पूरा प्रतिबंध लगा दिया। बाद में 1920-1914 के दशक में अर्तराष्ट्रीय बाजार अन्न से भरे पड़े थे और अन्न के निर्यात–व्यापार को जिंदा नहीं किया जा सका। तिलहन के निर्यात में परिस्थितियाँ भारत के ज्यादा अनुकूल थी और 1914 तक आते–आते भारत रेपसीड और मूँगफल के सबसे बड़ा निर्यातक देश बन चुका था। घरेलू आंतरिक बाजार के विस्तार और यातायात के साधनों के विकास ने खासकर रेलवे निर्माण की 1850 के बाद विस्तार की प्रक्रिया ने भी भारतीय निर्यात–व्यापार को प्रोत्साहन दिया। रेलवे के माध्यम से भाड़े पर 1871 में 3.6 मिलियन टन सामान ढ़ोया गया, 1901 में 42.6 मिलियन टन, 1929-30 में 116 मिलियन टन माल और 1945-46 में 143.6 मिलियन टन। इन सभी कारणों से हम पाते हैं कि घरेलू और अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में बेचने के लिए फसलों के उत्पादन का तेजी से विस्तार होता है और यह वाणिज्यीकरण ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं–जैस कृषि–सम्बंधों, ग्रामीण वर्ग–संरचना, मंडियों की संरचना आदि पर गहारा असर छोड़ता है।

वाणिज्यीकरण के प्रभाव

भारत की कृषि व्यवस्था पर वाणिज्यीकरण के बहुआयामी प्रभाव पड़े। इसने कृषि के क्षेत्र में क्षेत्रीय विशिष्टकरण को जन्म दिया। जो किसान अपने अपने जीवन–यापन के लिए सभी के कृषि–उत्पाद पैदा करता था। अब उसी फसल का अधिक उत्पादन करने लगा जिसे मंडियों में बेचकर वह नकद रकम हासिल कर सकता था। इस प्रकार से किसान कृषि–उत्पादों का खरीददार और विक्रेता दोनो ही बन चुका था। इस प्रक्रिया में किसान को लाभ मिलने की बजाय साहूकार–महाजनों को अधिक लाभ प्राप्त हुआ। निर्यात–व्यापार में व्यापारियों में व्यापारियों को ही ज्यादा लाभ मिला। किसान के भू–राजस्व की भारी माँग, साहूकार–महाजन की ब्याज की रकम और मंडियों के आढ़त्तियों–बिचौलियों को फसल का एक हिस्सा देने के बाद इतने पर्याप्त साधन नहीं थे कि वे कृषि में कोई बड़ा तकनीकी सुधार आदि करके उत्पादकता बढ़ा पाते। ज्यादातर किसान छोटे काश्तकार थे और पूरी तरह असुरक्षित थे। ज्यादातर छोटे किसानों के पास अपनी जरूरतों को पूरा करने के बाद बाजार में बिक्री के लिए कोई अतिरिक्त कृषि उत्पाद नहीं बचता था। इसलिए एक तरफ तेजी से कृषि–उत्पाद की मंडियों में माँग बढ़ रही थी तो दूसरी ओर कृषि–उत्पादकता में जड़ता की स्थिति बनी हुई थी।

कृषि के वाणिज्यकरण के चूँकि खाद्यान्नों की अपेक्षा नकदी फसलों के उत्पादन का चलन बढ़ा दिया इसलिए देश में खाद्यान्नों की आपूर्ति पर बुरा असर पड़ा। खाद्यान्नों का उत्पादन जनसंख्या के अनुपात में नहीं बढ़ पा रहा था और दूसरी तरफ खाद्यान्नों का निर्यात भी तेजी से किया जा रहा था। इस सबसे प्रति–व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वाणिज्यीकरण की तरफ बढ़ते रूझान ने खाद्यान्न के संग्रहण (storage) की देशी पद्धतियों को भी तहस नहस कर दिया और अकालों की भीषणता के रूप में इसका असर देखने को मिला। खाद्यान्नों की जगह नकदी फसलों क उत्पादन के कारण भारतीय किसान अंर्तराष्ट्रीय मंडियों से जुड़ चुका था। इसमें यातायात और संचार के साधनों के अलावा, आधुनिक बंदरगाह–शहरों के विकास, विनिमय बैंकों और आयात–निर्यात कम्पनियों और उनक दलाल भारतीय साहूकार–महाजनों ने पुल का काम किया। इसका सीधा अर्थ था कि अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में होने वाली उथल–पुथल का सीधा असर भारतीय किसानों पर पड़ने लगा। 1929 की महान विश्व–स्तर की आर्थिक मंदी ने भारतीय कृषि–व्यवस्था को काफी कमजोर किया और निर्यात–आधारित कृषि उत्पादन जो 1860 के बाद से ही पनप रहा था– उसने पूँजी और श्रम के बाजारों को भी ध्वस्त कर दिया। मंदी के दौरान बहुत से छोटे किसान और काश्तकारों को अपने घरों के गहने आदि बेचकर गुजारा करना पड़ा। समृद्ध धनी किसानों ने नगदी–फसलों का उत्पादन पूरी तरह बंद नहीं किया लेकिन वे कम श्रम का इस्तेमाल करने वाली फसलों की तरफ रूख कर रहे थे। इसके साथ–साथ वे बाहर के मजदूरों की बजाय परिवार के श्रम का उत्पादन में ज्यादा इस्तेमाल करने लगे। परिणामस्वरूप, 1929-31 के बीच खेतीहर मजदूरों की आर्थिक दशा दयनीय बना दी वहीं कुछ इलाकों विशेषकर बंगाल में इनसे बटाईदारों की संख्या में भारी वृद्धि की।

हॉलाकि वाणिज्यीकरण का असर नकारात्मक ही रा हो ऐसा नहीं था लेकिन एक बाद साफ है कि इसका असर सभी वर्गों के किसानों के लिए एक जैसा नहीं रहा। नयी नकदी फसलों के उत्पादन के में किसानों को नये बीज, ज्यादा सिंचाई और श्रम तथा खाद आदि के रूप में ज्यादा लागत लगानी पड़ती थी। ज्यादातर छोटे–छोटे किसानों के पास संसाधनों की भारी कमी थी और ये उत्पादन के लिए महाजन–साहूकारों पर निर्भर होते जा रहे थे। धनी और समृद्ध किसानों के पास अपने साधन भी उप्लब्ध थे और अगर उन्हें साहूकार–महाजनों से उधार लेना पड़ता तब भी प्रति एकड़ कर्ज का बोझ उन पर कम ही पड़ता था और ब्याज की दरें भी गरीब और छोटे काश्तकारों की बजाय कम ही होती थी। चूँकि धनी और समृद्ध किसानों की जोतों का आकार बड़ा होता था इसलिये वे मंडियों में बेचने–योग्य कृषि–उत्पाद की ज्यादा मात्रा लाकर अधिक लाभ कमा सकते थे। बढ़ते हुए वाणिज्यीकरण का असर मंडियों और बाजारों की संरचना पर भी पड़ा। ज्यादातर इलाकों इलाकों में किसान और मंडी के बीच आढ़तियों और दूसरे बिचौलियों एजेन्टों की एक कतार खडी हो चुकी थी। इस बिचौलियों की कतार ही लाभ के अवसरों का फायता उठा रही थी। किसान को अगर वाणिज्यीकरण से जो संभावित लाभ हासिल हो सकता था, उसे या तो सरकार बढ़े हुए भू–राजस्व के रूप में हड़प लेती थी या लगान भोगी (Rentier) वर्ग या साहूकार–महाजनों का सूद या फिर मंडियों में आढ़तिये आदि बिचौलिये। निसंदेह 1860-1930 के बीच की अवधि में कई इलाकों में नकदी फसलों के उत्पादन ने किसानों के लिए लाभकारी अवसर प्रदान किये। दक्कन और खानदेश में कपास का उत्पादन, बंगाल में जूट और मद्रास में मूँगफली का उत्पादन दूसरे मुख्य उदाहरण थे लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बाजार–केन्द्रित ये अवसर जहाँ मौजूद थे, वे कई प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्राकृतिक परिस्थितियों के माध्यम में ही काम कर रहे थे। ये लाभकारी अवसर सीमित तथा कुछ सिंचित इलाकों तक ही सीमित थे। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बाजार–केन्द्रित लाभ के अवसर के अलावा ऐसे संस्थामूलक (institutional) पहलू भी मौजूद थे जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अल्प–उपभोग और अल्प–निवेश की तरफ ढकेलते थे। ब्रिटिश सरकार ने अपनी

भू–राजस्व, काश्तकारी कानून नीति और अन्य आर्थिक नीतियों के माध्यम से एक शक्तिशाली धनी, समुद्ध कुलीन वर्ग को पैदा कर दिया था जो वाणिज्यीकरण के लाभ के अवसर भी प्राप्त करता है।

कृषि–उत्पादन में वाणिज्य का विकास किसानों के लिए महत्वपूर्ण था। वेरा एन्सेटे और अन्य अर्थशास्त्री मानते थे कि साधारणतया भारतीय किसन अशिक्षित और रूढ़िवादी नजरिये से जकड़ा होने के कारण तर्कसंगत आर्थिक निर्णय नहीं ले सकता था। 19वीं सदी में होने वाले वाणिज्यीकरण से यह बात साफ तौर पर पता चलती है कि भारतीय किसान अशिक्षा के बावजूद आर्थिक अवसरों के अनुसार अपने फैसले कर सकता था। अब यह साफ तौर से प्रमाणित है कि विभिन्न फसलों के दाम उठने और गिरने के साथ किसान के जमीन के उपयोग का गहरा रिश्ता था यानि किसी फसल के दाम अगर बढ़ते थे तो किसानों का रूझान उस फसल की खेती की तरफ होता था और उसके उल्टे फसल के दाम गिरने पर किसान उस फसल की खेती कम कर देते थे। दूसरे शब्दों में कृषि बाजार की गति के अनुसार चल रही थी। हाँलाकि इस बात पर विवाद है कि किस हद तक किसान स्वतंत्र रूप से अपने फैसलों के लिए जिम्मेदार थे और किस हद तक किसान स्वतंत्र रूप से अपने फैसले ले सकता था।

विद्वान में इस बात को लेकर भी बहस चली है कि वाणिज्यीकरण के अलावा किस हद तक भारतीय कृषि में पूँजीवादी तत्वों का रूझान बढता है। एस0सी0 गुप्ता ने कृषि–वाणिज्य के प्रसार को ही कृषि में पूँजीवादी बदलाव का लक्षण मान लिया था लेकिन डैनियल थार्नर ने 1969 में पूँजीवादी तरीके से खतेती की परिभाषा अलग तरह से की – उनके अनुसार वेतन देकर मजदूरी करवाना, बाजार और मुनाफे के ध्यान में रखकर कृषि–उत्पादन करना और कृशि–उत्पादन की बिक्री से प्राप्त मुनाफे के पैसे को पूँजी के रूप में खेती में निवेश करके उत्पादन बढ़ाना ये सब पूँजीवीद कृषि–व्यवस्था को परिभाषित करते हैं। 1970 में अशोग रूद्र ने इस परिभाषा का और अधिक व्यापक किया। उनके अनुसार – किसान अगर किसी और को स्वामित्व न देकर जमीन अपने अधीन रखता है और परिवार के श्रम के मुकाबले अगर भाड़े के मजदूरों का उत्पादन में ज्यादा उपयोग करता है, खेती के लिए मशीनों का प्रयोग करता है और उत्पादन का बड़ा हिस्सा बाजार में बेच कर प्राप्त मुनाफे का दुबारा खेती में निवेश करके उत्पादन बढ़ाता है तभी माना जायेगा कि खेती पूँजीवादी तरीके से हो रही है। वाणिज्यीकरण के प्रसार से अंग्रेजी काल में भारतीय कृषि में बदलाव में आते हैं–जैसे अपने उपयोग के लिए उत्पादन की प्रकृति और प्रगति पर बाजार की कीमतों का असर पड़ने लगता है, किसानों के बीच वर्ग–विभेद बढ़ जाते हैं। और पैसे की लेन–देन बढ़ने से महाजन–साहूकारों के हाथों में किसानों की जमीन का हस्तांतरण होने लगता है जिससे कुछ हद तक किसानों में भूमिहीन और खेत–मजदूर जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। लेकिन इन वाणिज्यवादी प्रवृतियों के बावजूद अंग्रेजी काल में भारतीय खेती आधूनिक पूँजीवादी दिशा में बढ़ती नहीं दिखाई देती। इसका एक कारण है कि अंग्रेजी सरकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को कानूनी रूप से मान्यता दे देती है लेकिन उत्पादन के ढाँचे में अर्धसामंती कृषि–सम्बंधी को बचाये रखती है। एक कारण यह भी हो सकता है कि वाणिज्यीकरण तो हुआ लेकिन उसके जरिये किसानों के पास पूँजी का संचय नहीं हो पाया। कृष्ज्ञि–उत्पाद के बाजार की वृद्धि का वास्तविक लाभ किसानों के पास पहुँचा ही नहीं। इसका कुछ हिस्सा भू–राजस्व के रूप में सरकार के पास पहुँचा, एक हिस्सा महाजन–साहूकारों के पास सूद के रूप में और कुछ मंडियों के बिचौलियों ने हथिया लिया। जो लोग वाणिज्यीकरण का लाभ उठाते हैं वे मुख्यतया सूदखोर ही थे। चूँकि महाजनी कारोबार में पैसा लगाने से कृषि–उत्पादन की प्रगति की बजाय ज्यादा मुनाफा कमाया जा सकता था। इस कारणों से भारतीय कृषि पिछड़ी हुई ही रही।

इस बात को लेकर कोई दो मत नहीं है कि वाणिज्यीकरण के कारण भारतीय कृषि में तेजी से महाजनी पूँजी (Usury capital) का प्रसार होता है। मार्क्सवादी लेखकों ने विशेषकर रजनीपाम दत्त की (India Today) और एस.जे. पटेल की कृषि (Agricultural Labourers in Modern India and Pakistan) में ग्रामीण वर्ग संरचना पर इसका एक खास प्रभावप दिखाने की कोशिश की है। इस विद्वानों का मानना है कि वाणिज्यीकरण के कारण साहूकार–महाजनों ने बड़े पैमाने पर किसानों की जमीनों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया जिससे वे बड़ी संख्या में भूमिहीन होते चले गये और उन्होंने खेतिहर मजदूरों की श्रेणी का संख्यात्मक विस्तार किया। इसके लिए एस.जे. पटेल जनगणना के आँकड़ें भी प्रस्तुत करते हैं लेकिन जैसा कि डैनियल थौर्नर दिखा चुके हैं कि जनगणना में खेतिहर मजदूर, बटाईदार, सामान्य मजदूर और काश्तकार श्रेणियों में विभाजन ज्यादा साफ नहीं है और इस आँकड़ों के आधार पर किसी साफ निष्कर्ष पर पहुँचना मुश्किल है। दूसरी तरफ जान ब्रेमान और धर्मा कुमार जैसे लेखकों के विचार में मार्क्सवादी खेतिहर मजदूरों की संख्या को बढ़ा–चढ़ा कर दिखा रहे हैं और भारत में परम्परागत जाति–विन्यास की वजह से पूर्व–औपनिवेशिक काल में भी खेतिहर–भूमिविहिन मजदूरों की काफी बड़ी तादाद मौजूद थी। इसे केवल वाणिज्यीकरण का परिणाम नहीं माना जा सकता। पूर्व–औपनिवेशिक काल में एक तरह से बंधे हुए मजदूर (Attached labourers) के होने के भी सबूत मिलते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वाणिज्यीकरण ने खेतिहर मजदूरों की स्थिति को प्रभावित न किया हो। सम्भवतया उनकी संख्या में बढ़ौतरी हुई लेकिन इसका सही–सही अनुमान लगाना मुश्किल है। उनको परम्परा से बंधे बधनों से आजादी तो मिली लेकिन वाणिज्यीकरण के कारण उनकी वास्तविक वेतन (real wages) में कोई बढ़ौतरी 19वीं

सदी में नहीं दिखाई देती। हाँलाकि इसमें क्षेत्र के अनुसार अंतर हो सकता है। इसको इस नजर से देखा जाये कि 19वीं सदी में कृषि से प्राप्त वास्तविक आय में वृद्धि हो रही है तो साफ लगता है गैर–वेतन आय (non-wage income) में बढ़ोतरी हो रही है और इसमें मुख्यतया छोटे–छोटे किसान की आय भी सम्मिलित थी। यानि कि वाणिज्यीकरण के कारण नगदी फसलें उगाकर छोटे–छोटे किसान भी उसका लाभ उठा रहे थे चाहे भले ही यह लाभ धनी समृद्ध किसानों को ज्यादा मिल रहा हो। धनी–समृद्ध किसानों के पास भू–सम्पतियाँ काफी थी और मजदूरों का उपयोग करके वे बड़े पैमाने पर मंडियों के लिए उत्पादन कर रहे थे। वे आसानी से साख (credit) की सुविधा जुटा सकते थे और अनेक जगहों पर स्वंय उधार पर पैसा देते थे। यानि कि धनी किसानों की आय में मुनाफे, लगान और सूद सभी शामिल होते थे। अधिकांश छोटे किसानों ने वाणिज्यीकरण के कारण जो लाभ कमाया वह उन्हें 19वीं सदी के बीच में आये महाभंयकर अकालों में गवाँना पड़ा जबकि खेतिहर मजदूरों की वास्तविक मजदूरी में अकालों के समय में काफी गिरावट दिखाई पड़ती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कृषि के वाणिज्यीकरण के प्रभाव वर्ग, क्षेत्र आदि पर निर्भर करते थे और एक समान नहीं थे।

बलपूर्वक लादे गये वाणिज्यीकरण (Forced Commercialization) की धारणा

1875 और 1900 के बीच अनेक अंग्रेज अधिकारियों का मानना था कि भारतीय किसान कर्जों के बोझ से इतने दब चुके हैं कि वे गाँवों में बाहर क्षेत्रों से आये साहूकारों के हाथों अपनी भू–सम्पतियों का नियंत्रण और स्वामित्व खोते जा रहे हैं। इस प्रकार ये किसान काश्तकार और मजदूर बनते जा रहे हैं। इन विचारों के पीछे 1875 में पूना और अहमदनगर जिलों हुए किसान विद्रोह की अहम भूमिका थी। इस विद्रोह में कोई जानें नहीं गयी थी केवल मारवाड़ी और गुजराती (किसी मराठा ब्राह्मण साहूकार पर नहीं) साहूकारों की सम्पति और बही खाते ही इसमें जलाये गये थे। लेकिन विद्रोह ने अंग्रेज–अधिकारियों के दिमाग पर गहरा असर छोड़ा। रवीन्द्र कुमार के अनुसार 1875 के दक्कन विद्रोह की मुख्य वजह साहूकारों की बढ़ती आर्थिक और राजनैतिक सत्ता थी और किसानों को अपनी जमीनें खो देने का डर। पंजाब में भी ब्रिटिश नौकरशाही का भी विश्वास था कि ग्रामीण अंचलों में साहूकार किसानों की जमीनें बड़े पैमाने पर हड़पने जा रहे हैं। वास्तव में 19वीं सदी के अंतिम दौर में उत्तरी और पश्चिमी भारत में साहूकारों के खिलाफ किसानों में काफी आक्रोश फैला हुआ था। भूमि के स्वामित्व के हस्तांतरण से असमानता बढ़ सकती है और किसानों में असंतोष फैल सकता है। स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद के वामपंथी–राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ने इसमें यह विचार भी जोड़ दिया कि साहूकार कृषि के विकास में बाधक बन रहे थे। इस मत के मुख्य तर्क इस प्रकार है कि 19वीं सदी में अत्याधिक ज्यादा भू–राजस्व होने से किसानों को खाद्यान्नों का उत्पादन छोड़ कर पूरे भारत में पैसे के रूप में राजस्व और लगान की रकम देने के लिए नकदी फसलों के उत्पादन की तरफ अपना रूख करना पड़ा। लेकिन नकदी फसलों का उत्पादन ज्यादा लाभप्रद सौदा साबित नहीं हुआ और किसानों को पैसा उधार लेना पड़ा यह पैसा पाने के लिए उन्होंने भू–सम्पति की सुरक्षा का सहारा लेकर अपनी जमीनों को गिरवी रखना शुरू कर दिया। इससे किसान कर्ज के जाल में फँस गये और किसानों की जमीनों का बड़े पैमाने पर हस्तांतरण शुरू हो गया। चूँकि साहूकारों की कृषि की दशा सुधारने में कोई रूचि नहीं थी इसलिए इसलिए कृषि में पिछड़ा पन बना रहा।

अमित भदुड़ी ने यह दिखाने की कोशिश की कि साहूकार कृषि में उत्पादक निवेश क्यों नहीं करते। साहूकार जब भू–सम्पति का मालिक बन जाता है तो व भूमिहीन काश्तकार से इस पर खेती करवाता है और कृषि–उत्पादन का दोनों में बँटवारा तय हो जाता है। साहूकार किसानों को कर्ज देकर भी पैसा कमाता है। अगर साहूकार कृषि और भूमि में उत्पादक निवेश करेगा तो भूमि का कुल उत्पादन बढ़ जायेगा और किसान को भी ज्यादा आय होने लगेगी। उस हालत में किसान को साहूकार से पैसा उधार नहीं लेना पड़ेगा और उसे ब्याज से मिलने वाले आमदनी का नुकसान उठान पड़ेगा। इस आमदनी के खो देने के डर से साहूकार कभी कृषि में उत्पादक निवेश नहीं करेगा। इसका उल्टा तर्क दिया जा सकता है कि क्या साहूकार उस स्थिति में भी उत्पादक–निवेश नहीं करेगा जबकि इससे होन वाला मुनाफा ब्याज ब्याज के यप में खोई गयी आमदनी से ज्यादा हो। लेकिन सैद्धांतिक तर्क छोड़कर यह देखने की जरूरत है कि क्या किसानों के ऋण कृषि के विकास में बाधा पहुँचाते हैं या नहीं? इसमें संदेह नहीं है कि औपनिवेशिक काल में किसानों पर कर्ज बढ़ता है–लेकिन यह किसान की पूँजी की जरूरतें पूरी करने के लिए जरूरी हो सकता है और उधार लिया गया पैसा उनकी समृद्धि की निशानी भी हो सकता है। इस विषय पर कई जरूरी सवालों का जवाब तलाशना पड़ेगा जैसे :

(i) क्या वाणिज्यीकरण किसानों पर राजस्व और लगान की माँग के कारण लादा गया?

(ii) क्या किसानों ने ऋण केवल राजस्व और लगान की भुगतान के लिए लिये?

(iii) क्या हिन्दुस्तान में 'साहूकारों' का एक अलग वर्ग था?

(iv) क्या किसान बड़े पैमाने पर भूमियों से बेदखल हुए? और

(v) क्या साहूकारों के भू–स्वामित्व से कृषि में जड़ता जन्म लेती है?

क्या वाणिज्यीकरण किसानों पर बलपूर्वक लादा गया या स्वेच्छा से उन्होंने इसे अपनाया? ऐसा लगता है कि 1800-1860 के बीच ब्रिटिश नीति द्वारा फसलों के उत्पादन का चुनाव सीधा प्रभावित किया गया और 1860 से पहले रैयतवाड़ी क्षेत्रों में कुछ हद तक भू–राजस्व के दबाव में भी किसानों ने नकदी फसलों की पैदावार शुरू की लेकिन 1860 से पहले भी नकदी फसलों के उत्पाद में मुनाफे कमाने का मकसद शामिल था। इसके अलावा ब्रिटिश–शासन से पहले भी भू–राजस्व को मुद्रा के रूप में वसूल करने की परम्परा मौजूद थी और किसान खाद्यान्न और नकदी फसलों का उत्पाद एक साथ कर रहे थे। लेकिन इस दबावों के कारण उस स्तर का वाणिज्यीकरण नहीं हुआ था जैसे हमें 19वीं सदी के मध्य भाग में दिखाई देता है। इसका मतलब साफ है कि मुनाफे कमाने के लिए नकदी फसलों का उत्पादन शुरू किया गया होगा। बी0बी0 चौधरी ने पूर्वी भारत में दिखाया है कि 1800-1860 में भी नील, अफीम और जूट जैसी फसलों के उत्पादन में बल प्रयोग नहीं किया गया। वाणिज्यीकरण के कारण कर्जों का बोझ सब जगह एक जैसा नहीं था और कर्ज हमेशा बुराई की जगह बहुदा किसानों की कार्यशील पूँजी की जरूरत को ही पूरा करते थे।

1860 के बाद वाणिज्यीकरण का दूसरा और ज्यादा सशक्त दौर शुरू होता है। इस समय भू–राजस्व की दरें नरम की जा रही थीं। इस समय फसलों के उत्पादन के फैसले और चुनाव पर मुनाफे का असर ज्यादा दिखता है। नकदी फसलों का उत्पादन केवल भू–राजस्व अदा करने के लिए नहीं किया जा रहा था। यह तर्क किया जा सकता है कि धनी और समृद्ध किसान जो नकद फसलें उगाकर मुनाफे कमा रहे थे उन्होंने छोटे किसान और काश्तकारों को भी नकदी फसलें उगाने पर मजबूर कर दिया हो। लेकिन ऐसा करके हम धनी समृद्ध किसानों के उत्पादन में भूमिका को बढ़ा–चढ़ाकर आँक रहे हैं। यह भी एक अहम सवाल है कि क्या 19वीं सदी महाजन–साहूकारों को एक अलग वर्ग के रूप में देखा जा सकता है? यह सही है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध में देश के विभिन्न इलाकों में मारवाड़ी, बनिया, चोट्टियार और खत्री जैसे व्यापारी–महाजन सक्रिय थे। वे व्यापार को नियमित कर ही रहे थे कुछ हद तक भू–सम्पतियों क भी मालिक थे। लेकिन बाद में धीरे–धीरे साहूकारों की एक अलग वर्ग के रूप में पहचान और भूमि पर उनकी सत्ता धीरे–धीरे कम होती जाती है और हम पाते हैं कि कृषि से जुड़े भू–स्वामी या उच्च–अधिकार वाले कृषक ही स्वंय किसानों को कर्ज देने का काम बड़े पैमाने पर कर रहे हैं। वाणिज्यीकरण ने धनी समृद्ध किसान वर्ग को पैदा किया था और प्रभुत्त्वशाली किसानों की स्थिति सुदृढ़ की। यह वर्ग ही, ना कि साहूकार, अब ग्रामीण साख (rural credit) पर कब्जा जमा चुके थे।

साहूकारों द्धारा किसानों की जमीनें भी इतने बड़े पैमान पर हथियाई गयी हो ऐसा नहीं जान पड़ता। साहूकार ने कभी भी कृषि योग्य भूमियों का 10% से ज्यादा भाग कब्जे में नहीं लिया। देश के कई हिस्सों में वैसे भी इस प्रकार के कानून थे जो साहूकारों के हाथों में किसानों की जमीन के हस्तांतरण पर कई तरह के अंकुश लगा रहे थे। इन कानूनों में 1879 का दक्कन एग्रीकल्चरीस्ट रिलिफ एक्ट और 1901 का पंजाब लैंड एलिनेशन एक्ट प्रमुख थे। अगर साहूकारों की कोई अलग श्रेणी नहीं थी और उनके पास ज्यादा जमीनें नहीं थी तो यह कहना भी सच नहीं होगा कि वे कृषि–व्यवस्था की जड़ता के लिए जिम्मेदार थे। धनी किसान जो वाणिज्यीकरण के कारण विकसित हुए, वे अर्जित मुनाफे कर्ज पर भी छोटे किसानों को देते थे और नकदी फसलों के उत्पादन में हम देख चुके हैं कि उत्पादकता ज्यादा तेजी से बढ़ती है। ऐसा लगता है कि ग्रामीण भारत भारत में व्यापारिक फसलों का उत्पादन, साख, असमानता और विकास इन सबका घनिष्ठ सम्बंध था।

अध्याय - 3 (c)

वित्त की संस्थायें और ग्रामीण ऋण ग्रंस्तता:

(1) वाणिजयीकरण और साख का विस्तार

औपनिवेशिक काल में साख की लेन–देन ग्रामीण अंचलों में बढ़ती है लेकिन यह रूझान एक दम सपाट और सीधा नहीं था। यह लंबी अवधि के व्यापारिक गति विधियों के चक्र और फसलों के उत्पादन में होने वाले उतार–चढ़ाव से प्रभावित होती है। बढ़ते हुए कृषि के वाणिज्यीकरण ने कार्यशी पूँजी के लिए जरूरी किसानों की साख (credit) की माँग को बढ़ावा दिया। फसलों के विशिष्टीकरण के कारण किसानों की उपभोग के लिए ऋण की जरूरते भीं तेजी से बढ़ती है। इसके कई कारण थे। अपने स्वयं के निर्वाह के लिए उत्पादन की जगह जब किसानों ने नकदी फसलों का बाजारों के लिए उत्पादन शुरू किया, तो निर्यात की बड़ी मण्डियों के लिए उत्पादन का स्तर बढ़ गया और इस व्यापारिक उत्पादन के लिए किसानों को ज्यादा पूँजी के निवेश की जरूरत पड़ने लगी। गैर–खद्यान्न फसलों का उत्पादन करने का फैसला जब किसानों ने लिया तो हुित से किसान–परिवार खाद्यानों के लिये भी बाजार पर निर्भर हो गये। फसलों से पहले खाद्यानों की खरीदारी करने के लिए किसानों को पैसा उधार लेना पड़ता था। इसके अलावा चूँकि किसान को भू–राजस्व और लगान की रकम पैसे के रूप में अदा करनी पड़ती थी इसलिए कई बार इसके भुगतान के लिए भी किसान को कर्ज लेना पड़ता था। नकदी फसलों को बाजारों में ले जाने पर भी खर्चे बढ़ गये थे और किसान को इसके लिए भी कई बार नकदी की जरूरत पड़ती थी। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि वाणीज्यीकरण ने अपेक्षाकृत उच्च लागत वाले कृषि के निवेशों (inputs) की माँग में काफी बढ़ोतरी की। गन्ना, कपास और तम्बाकू को ज्यादा सिंचाई और खादों की जरूरत पड़ती थी। उनमें जमीन को बुवाई के लिए तैयार करने में ज्यादा जुताईए और जमीन को एकसार करने के लिये ज्यादा पशु–धन और औजारों की जरूरत पड़ती थी। दक्कन की काली मिट्टियों पर कपास की खेती के लिए ज्यादा सिंचाई की जरूरत नहीं पड़ती थी लेकिन इनकी जुताई के लिए भारी हलों और कई बैलों की जरूरत पड़ती थी। इस प्रकार की नकदी फसलों के पैदा करने में न केवल ज्यादा पेसा लगता था बल्कि उनके तैयार होने में भी अक्सर ज्यादा वक्त भी लगता था। ये सब साख की माँग (demand) के पहलू थे।

दूसरी तरफ साख की आपूर्ति (supply) भी कई कारणों से माँग की तरह ही बढ़ती है। रेलवे के विस्तार, नयें मंडियों और शहरों का विकास तथा मुनाफे कमाने के अनेक नये अवसरों से व्यापारी–साहूकार जातियों की गतिशीलता, एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर बसने और उस जगह अपना उद्यम जमाने की कोशिशें भी तेज़ी से बढ़ से बढ़ रही थी। इसी तरह से भू–सम्पति के मिल्कियत के अधिकार की शुरूआत और सिंचाई में निवेश बढ़ जाने से जमीन का ऋणाधार (collateral security) भी बढ़ता है योनि किसान भूमि की गारन्टी देकर आसानी से कर्ज पा सकते थे। नये कानून बनाये जाने से साख के सौदे ओर अधिक सुरक्षित हो गये क्योंकि अब कर्ज की रकम आसानी से वसूल की जा सकती थी। पहले इस तरह के कर्ज की वसूली प्रथा, गाँव के अधिकारियों ओर पंचायतों या कर्जदार किसानों और साहूकार के बीच' शक्ति–संतुलन पर निर्भर करती थी लेकिन अब ब्रिटिश न्याय–व्यवस्था में कानून और अदालतों ने कर्ज की रकम की अदायगी को एक कानूनी बाध्यता बना दिया। इसके अलावा, स्थायी बंदोबस्त क्षेत्रों में और कुछ हद तक अन्य इलाकों में भी आय के रूप में लगाान का महत्त्व कम होता जा रहा है। इसलिए लगान भोगी वर्ग की कोशिश थी कि वह लगाान से प्राप्त आमदनी के साथ साहूकार के रूप में सूद से भी आमदनी अर्जित करें। इसलिए हम पाते है कि कृषि–उत्पाद और साख के बाजार एक दूसरे पर पारस्परिक रूप से निर्भर करते हैं। इनका विकास साथ–साथ होता है। हाँलाकि आधुनिक भारत के आर्थिक इतिहास–लेखन में साख को शोषण के प्रतीक के रूप में ही पेश किया गया है। निस्संदेह साख का विस्तार धनी लोगों की धनी बनाता है। पैसे के अभाव वाली अर्थ व्यवस्था में पैसे के साख जैसे नये उपयोग बढ़ते हैं लेकिन यह कहना मुश्किल है कि साख के कारण कृषि–व्यवस्था में गड़बड़ फैलती है या यह कृषि की जड़ता को जन्म देता है। साख के बाजार ग्रामीण अंचलों में हमेशा मुद्रा के लेन–देन के आधार पर नहीं चलते थे। कई बार साख खाद्यान्न के रूप में भी दिया था और इस प्रकार के 'खाद्यान्न–ऋण' अन्न के व्यापार से जुड़े हुये थे।

(2) ग्रामीण साख की संस्थायें

ग्रामीण अंचलों में साख का कारोबार असंगठित आधार पर साहूकार–महाजनों के परिवारों के द्वारा ही चलाया जा रहा था। ये अपने कारोबार में व्यापार आदि में भी संलग्न थे। हम इनकी तुलना 18वीं सदी के इंग्लैण्ड के ग्रामीण बैंकरों से

कर सकते हैं लेकिन इंग्लैण्ड के बैंकरो की तरह ये प्रचलन के इस्तेमाल किये जा रहे नोट जारी नहीं करते थे। साहूकार और भारत के देशी बैंकरों के बीच में भेद कर पाना भी कठिन हे लेकिन आर्थिक इतिहासकारों का मानना हे कि देशी बैंकर या सर्राफ ऋण देने के साथ–साथ जमा करने के लिए पैसे भी लेते थे और देशी विनिमय–पत्र या हुँडिया जारी करने का काम भी करते थे। इसके विपरित साहूकार–महाजन केवल कर्ज देते थे ना तो ये लोगों का पैसा जमा करते थे और न ही हुंडी जारी करने का काम करते थे। लेकिन देशी बंकर और साहूकारों में एक समानता यह थी कि दोनों ही अपने स्वयं के परिवार की पूँजी के आधार पर अपना कारोबार चलाते थे। ये साहूकार द्रव्य के रूप में जैसे बीज के लिए या खाद्यान्न का उपभोग के लिए कर्ज भी देते थे। इनमें से अधिकांश किसी खास क्षेत्रीय और जाति–समूह से सम्बंध रखते थे। जैसे राजस्थान के जयपुर जोधपुर क्षेत्र के मारवाड़ी, पंजाब और यूनाइटेड प्रॉविन्स के खत्री, सिंध के गुजराती, मलतानी और शिकारपूरी, तमिलनाडु के नाटुकोट्टइि चेट्टयार आदि। एक और खास बात यह थी कि इस्लाम में सूदखारी के उपर प्रतिबंध होने के बावजूद इसमें मुसलमान साहूकार भी शामिल थें जैसे अफगानिस्तान और नार्थ–वैस्ट फर्नटियर प्रॉविन्स के पठान, हैदराबार में बसे अरब और दशिण में त्रिरिचिनोपल्ली जिले के घुमक्कड़ मुसलमान व्यापारी और सौदागर। इसके अलावा धनी समृद्ध किसान–परिवार भी साहूकारी का कारोबार करने लगे थे और इनके कर्ज देने की शर्ते व्यवसायिक साहूकारी से अलग बिल्कुल नहीं थी। हाँलाकि हमें साहूकारीं के मोटे–मोटे लक्षण सब पता हैं लेकिन उनके क्रिया–कलापों और कार्य–विधियों की गहरी जानकारी नहीं है। क्यों कि इनका कारोबार गुप्त तरीके से, बिना अपने काम का पूरा विस्तृत लेखा–जोखा लिखे कानूनी बाध्यता से बाहर चलात रहता था। इस गैर–संस्थामूलक क्षेत्र का आकार, कारोबार करने वाले व्यक्तियों की संख्याए कारोबार की मात्रा या आंतरिक–व्यापार में इनके वित्त का हिस्सा–इस सबका केवल अंदाज ही लगाया जा सकता है। टुटे–फूटे सबूतों के आधार पर इस असंगठित देशी बैंकरों और साहूकारों के भारत में ऐतिहासिक विकास की तस्वीर खींच पाना मुश्किल है। यह काई अचरज की बात नहीं है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी के शुरू में ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित सरकारी कमीशनों या जाँच कमेटियों में, जो बैंकिंग और वित्त के समस्योओं की जाँच के लिए बनाई गयी, असंगठित बैंकरों और साहूकारों की सुव्यवस्थित जानकारी नहीं मिलती। 1929 में सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्यारी कमेटी और इससे जुड़ी प्रंतीय जाँच कमेटियों में भी असंगठित वित्त सरकारी चिंता का मुद्दा बनता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, साहूकार और देशी बैंकरों की गतिविधियाँ काफी पुरानी थी और ये बहु–आयामी था। जैसे थेक और खुदरा व्यापार, जमा–राशि करना, वयक्ति, संस्थाओं और राज्य को कर्ज देना, एक जगह से दूसरी जगह रकम भेजना, हुंडी या विनियम–पत्र जारी करना या कमीशन लेकर उनका भुगतान करना, सरकारी टकसालों के मालिक होना, मुद्रा का विनिमय करना या सरकार के लिए राजस्व की वसूली। समय–समय पर आर्थिक–राजनैतिक परिवर्तन इनके कारोबार को प्रभावित करता था जैसे 1778 में देशी एजेन्सी के माध्यम से राजस्व–वसूली बंद करने से इनके कारोबार पर असर पड़ा। इसी तरह 1835 में पूरे देश में रूपये के एक जैसे समान सिक्के जारी किये जाने से इनका मुद्ररअरें के विनियम करने का लाभप्रद कारोबार बुरी तरह प्रभावित हुआ। लेकिन इसके बावजूद इन साहूकार–महाजनों का मुख्य कारोबार–जा कृषि और व्यापार के लिए लघुकालीन और मध्यम–काल के ऋण की सुविधायें मुहैया कराना था–उसका महत्त्व या आकार कभी कम नही हुआ। अगर हम केन्द्रीय बैंकिकग इन्कवायरी कमेटी (1929) का विशवास करें तो उस समय भी भारत में असंगठित मुद्रा बाजार देश के आंतरिक व्यापार का 90% भाग को वित्त की सुविधा प्रदान कर रहा था। इसी प्रकार मद्रास बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने पाया कि दक्षिण भारत में किसानों 75% कर्ज साहूकारों से ही प्राप्त किये थे। हाँलाकि असंगठित क्षेत्र का आंतरिक व्यापार में कितना हिस्सा था–यह विवाद का मुद्दा हो सकता है लेकिन इसमें कोई शक नहीं है कि 1858–1947 के बीच मोटे तौर पर इसके ही द्वारा देश के आंतरिक व्यापार और कृषि–उत्पादन को वित्त की सुविधा उपलब्ध कराई जा रही थी।

(3) महाजनी पूँजी और औपनिवेशि राज्य का रवैया

भारत की मुद्रा–प्रणाली और वित्तिय कार्य–प्रणाली के इतिहास की एक विशेषता यह थी इसमें सर्वव्यापी साहूकार का उच्च सूद की दर जो अक्सर 50% से अधिक होती थी और उससे जुड़ी तमामा बुराइयों के बावजूद, वह ग्रामीण–साख की आधार शिला का काम कर रही थी। प्रांतीय सरकारों द्वारा उठाये गये कर्ज के निपटारे और समझौते के कदमों में कानून के माध्यम से परिस्थितियों में सुधार करना प्रमुख था। कृषि प्रांतीय सरकारों का ही विषय था। 1879 में Deccan Agriculturists Relief Act पास किया गया। इस कानून ने अदालातों को वास्तविक ऋणग्रस्तता निर्धारित करने का अधिकार दिया और स्पष्ट गिरवी को छोड़कर अदालत को हद से जयादा अमर्यादित ब्याज की दर की भुगतान और किसान की जमीन की कर्ज के लिए बिक्री पर रोग लगाने को अधिकार और सत्ता दी गई। इसी तर्ज के लैड एलिनेशन एक्ट पंजाब, यू0 पी0, सेन्ट्रल प्रॉबिन्स आदि में पास किय गये। 1918 के **Usurious Loans Act** के माध्यम से राज्य ने कर्जदार किसानों को राहत देने की कोश्शिश की। इस कानू न के द्वारा अदालतें **दामदुपट** के नियम को लागू कर सकती थी। इस नियम के अनुसार

कोई भी कर्जदार मूलधन से ज्यादा मात्रा में ब्याज देने के लिए बाध्य नहीं था। इसके अलावा अदालतें अपनी पहल पर पुराने मुकदमें दुबारा खेल कर ऋण की शर्तें न्यायसंगत तरीके से लागू करवा सकती थी। लेकिन ये कानूनी कदम संचित औरी विरासत न्यायसंगत तरीके से लोगू करीवा सकती थी। लेकिन ये कानूनील कदम संचित और विरासत में मिली ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति को सुधारने में नाकामयाब रहे क्योंकि केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुमान के मुताबिक, भारत के किसानों के उपर 90 बिलियन रूपये के कर्जो को बोझ था। 1929 की विश्व स्तरीय मंदी के कारण जिस तेजी से कृषि–उत्पाद के दाम गिरते है उससे ऋण और कर्ज की समस्या और भ विकट हो गयी। किसानों की कर्ज चुकाने में नाकामयाबी के कारण इस समय बड़े पैमाने पर किसानों की जमीन हड़पने के लिए साहूकारों ने अदालतों में मुकदमें दर्ज किये। सरकार के द्वारा इस परिस्थिति से निपटने के लिए यू0पी0, पंजाब, सेन्ट्रल प्रॉविन्स, बेराड़ और मद्रास में अदालतों के आदेशें पर प्रतिबन्ध लगाने वाली अधिसूचनायें जारी की। इसी प्रकार 1999–1936 के बीच कई प्रांतों ने Debt Conciliation Acts पास किये। इन कानूनों के द्वारा नीजि साहूकारों द्वारा किसानों को दिये कर्जो का निपटारा करने के लिए, उन्हें किसंगत स्तर पर निश्चित करने उन कर्जो को आसानी से किश्तों में चुकाने की व्यवसी की गई। इन कर्जो में सरकार, सहकारी समितियों और बैंकों द्वारा दिये गये कर्ज शामिल नहीं किये गये थे।

इस अवधि में कई अन्य किस्म के कानूनी कदम भी सरकारों के द्वारा उठाये गये। शुरू में 1930 में पंजाब सरकार ने साहूकारों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिउ पंजाब रैगूलेशन ऑफ एकाऊन्टस एक्ट पास किया। इस तरह के साहूकारों पर नियंत्रण रखने वाले कानून कई दूसरी प्रांमतीय सरकारों ने भी पास किये। सामान्यतया इन कानूनों में, जो एक समान नहीं थे, साहूकारों के अनिवार्य पंजीकरण और उन्हें लायसेन्स देने की व्यवस्थ लागू की गई इसके अलावा इनमें साहूकारों अपने लेन–देने और हिसाब का उचित लेखा–जोखा रखने और कर्जदारों को उनके द्वारा चुकाये गये ब्याज और मूलधन की रकम की रसीदें देने का भी प्रावधान रखा गया था। 1918 के यूजूरियस लोन–एक्ट में कई प्रांतीय सरकारों ने साहूकारों द्वारा लिये जा रहे बेशुमार ब्याज की जगह ब्याज की अधिकतम हद तय करने की कोशिश की थी लेकिन यह सबसे प्रभावहीन कानूनी कदम साबित हुआ था। साहूकार–विरोधी कानूनों के नाकामयाब होने की एक वजह यह भी थी कि कर्जदार किसान साहूकारों के खिलाफ, जो उनके लिए साख के अकेले स्रोत थे, अदालतों में मुकदमें ही लड़ना नहीं चाहते थे। अदालतो में मुकदमें ही लड़ना नहीं चाहते थे। केवल कानूनी खामियाँ ही इन कानूनों की असफलता का कारण नहीं था।

यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है कि भारत में सार्वजनिक नीति पर उपयोगितावादी दर्शन का प्रभाव होने के बावजूद, ब्याज की दर पर अधिकतम कानूनी सीमा को खत्म नहीं किया गया। विलियम बैन्टिक ने हॉल्ट मैकनजी को आगाह किया था कि सरकार की इस तरह की तरफदारी और पूर्वाग्रह के बारे में हम कह सकते हैं कि भारत जैसे परम्परागत देश में महाजनी पूँजी और सूदखोरी सम्बंधी कानून के मनोविज्ञानिक और सामाजिक भय दिखाने वाले प्रभावों को पूरी तरह नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता था। इसके साथ जुड़ी हुई यह दिक्कत भी थी कि हिन्दूस्तान में व्यवसायिक साहूकारों को अलग से पहचान पाना कौी मुश्किल था क्योंकि ये ज्यादातर सूदखोरी को व्यापार आदि अन्य व्यवसाय के साथ–साथ ही चला रहे थे। केन्द्रीय बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, इन्ही कारणों से साहूकारों के अनिवार्य या स्वेच्छा से पंजीकरण के खिलाफ थी और इसके बजाये उसने यह सिफारिश की कि सहकारी साख की सोसायटियाँ और संयुक्त पूँजी बैंकों के विस्तार से अत्यधिक ज्यादा ब्याज के दरें कम करने मे मदद हासिल की जाये और किसानों ने शिक्षा का प्रसार किया जाये। इस कमेटी ने यह सुझाव भी दिया कि साहूकारों को सहकारिता अभियान के दायरे में लाया जाय और इनकी गतिविधियों को एजेन्ट और पार्टनर के रूप में संगठित बैंकों से जोड़ दिया जाये। इसके प्रकार के सहयोग के लिए कमेटी का एक अन्य सुझाव था कि यह जर्मनी की 'कोमनदित' जैसी प्राणाली पर आधारित हो जहाँ बैंक ग्रामीण इलाकों में अपनी खाखा खोलने के स्थान पर स्थानीय साहूकार का ही पार्टनर बन जाता था। इससे बैंक साखा खोलने के ऊपर–खर्चो से बच सकता था और वह साहूकार के स्थानीय ज्ञान और जानकारी के साथ–साथ उसके असीमित उत्तरदायित्व का लाभ भी उठा सकता था।

यहाँ सहकारिता–साख (Co-operative-Credit) का उल्लेख करना भी उचित होगा। सहकारिता संस्थाओं की वास्तविक उपलब्धियाँ बहुत ही निराशाजनक थी। लेकिन सरकारी अधिकारियों ने उनके विकास पर हित बल दिया और उन्हें ग्रामीण ऋणग्रस्तता और ऊँची ब्याज की दरों से लडने का और गाँव में साहूकारों के दबदबे को कम करने का साधन माना। भारत में सहकारिता आंदोलन का ऐतिहासिक महत्व इसलिए भी है कि पश्चिमी देशों के बाहर इस दिशा में प्रयोग करने वाला पहला देश भारत ही था। हॉलाकि 19वीं सदी के अंत में हिन्दुस्तन में कुछ सहकारिता संस्थाओं का पंजीकरण कम्पनी एक्ट के तहत हो चुका था लेकिन इनके विकास के लिए विधि–सम्मत ढॉचा 1904 में कॉपरेटिव सोसायटीज एक्ट ने तैयार किया। इसने 18 साल की उमर से ज्यादा के 10 या अधिक लोगों को क्रेडिट और थ्रफ्ट सहकारी संस्थायें गठन करने का रास्ता साफ कर दिया। ग्रामीण सहकारिता संस्थाओं के लिए सदस्यों के असीमित उत्तरदायित्व का नियम अपनाया गया। ये

संस्थायें सरकार के जाँच–पड़ताल के दायरे में थी लेकिन इन्हें आयकर, स्टाम्प कर और पंजीकरण फीस से मुक्त रखा गया था। 1915 में सहकारिता संस्थाओं के ऊपर मैकलागन कमेटी की सिफारिश पर लगभग सभी प्रांतों में 1930 तक प्रांतीय कॉपरेटिव बैंकों की स्थापना की गई। सहकारिता समितियों की, संस्थान की दृष्टि से, तेजी से प्रगति हुई लेकिन व्यापारिक बैंकों के कारोबार की तुलना में और ग्रमीण–आश्रित जनसंख्या के केवल 5% ही थी। खराब प्रबंध, सरकारी पर निर्भर होना तथा धनी समृद्ध किसानों का दबदबा होना इन कॉपरेटिव संस्थाओं की कुछ मुख्य कमजोरियाँ थी और यही कारण था कि कॉपरेटिव संस्थायें व्यवसायिक साहूकारों या खेती करने वाले धनी किसान–साहूकारों को कोई निर्णायक चुनौती दे पाने में असमर्थ रही। कॉपरेटिव संस्थाओं की एक ओर मुख्य कमजोरी रही कि ये किसानों को उपभोग की जरूरतों के लिए कर्ज नहीं देती थी और इस क्षेत्र में व्यवसायिक साहूकार किसानों की जरूरतों को पूरा करते रहे।

(4) ग्रामीण-साख के कुछ अन्य पहलू

- ब्रिटिश अधिकारियों के लिए बाहरी, शहरी साहूकारों को ग्रामीण अर्थव्यवस्थ के मुख्य भक्षक के रूप में प्रस्तुत करके 1870–1900 के बीच के किसान असंतोष को समझना जरूरी था। वे कृषि–उत्पादन में समय–समय आने वाली गिरावट का कारण भी जानना चाहते थे। लेकिन निवेश और उपभोग के लिए साख के बाजार का निमार्ण केवल 19वीं सदी के औपनिवेशिक प्रभावों का ही नतीजा नहीं था। साहूकारों के कृषि और किसान के जीवन पर प्रभाव को बढ़ा–चढ़ा कर आँकने की पूरी गुंजाइश थी। यहाँ तक कि निश्चित रूप से वाणिज्यीकरण के कारण किसानों की जमीनों का महाजन–साहूकारों के हाथों में कितना हस्तंतरण हो रहा था, यह कहना मुश्किल है। बम्बई प्रेजेडैन्सी में जहाँ दक्कन एग्रीकल्चरीस्ट रिलिफ एक्ट के तहत भूमि के गैर–कृषि वर्गो के हाथों में हस्तांतरण को दर्ज करना जरूरी था, वहाँ 1875 और 1910 के बीच साहूकारों के हाथों में किसानों की भूमि का हिस्सा 6% से बढ़कर 10% के लगभग ही हुआ था। महाजन–साहूकारों के लिए इस तरह की जमीनों को प्रबंधन करना और उन पर उतपादन करवाना इतना आसान नहीं था।

  यह देखा जा सकता हे कि 1870–1930 के बीच ग्रामीण–साख का मुख्य साधन और स्रोत साहूकार न होकर गाँव में बसे और कारोबार कर रहे वे धनी भू–स्वामी थे जो निर्यात–प्रेरित नकदी फसलों के उत्पादन से लाभ कमा रहे थे। एक पूरी तरह आत्म निर्भर किसान परिवारों की तस्वीर जो शहरी साहूकारों और सूदखोरों के हथकण्डों का शिकार बन गये, जिस तस्वी के बारें में ब्रिटिश शासक, राष्ट्रीयवादी और वामपंथी इतिहासकार एकमत नजर आते हैं– वह 1850–1947 के बीच की भारत की राजनैतिक अर्थव्यवस्था और कृषि के विनिमय और उत्पादन की सही तस्वीर नहीं दिखाई पड़ती। 1930 के दशक में साहूकार–महाजन विराधी कानून बनने से केवल वे साख की पूर्ति करने वाले भू–स्वामी ही लाभ उठा सकते थे जो गाँव में भू–सम्पत्ति की भी नियतंत्र कर रहे थे। ये लोग भी उनके ऋणों का भुगतान भू–सेवाओं के रूप में करने पर मजबूर कर सकते थे। यहीं वजह थी कि बंबाल में 1930 के दशक में बटाईदारों (Share-croppers) की संख्या तेजी से बढ़ी। यह सब 1935 के साहूकार–विरोधी कानून में ऋण–भुगतान बोर्डो की स्थापना के माध्यम से तेज गति से बढ़ रहा हे जिनमें स्थानीय **जोतदार** मुख्य भूमिका निभ रहे थे। जोतदार ही वे भू–स्वामी थे जो खेती का निरिक्षण कर सकते थे तथा बटाईदारों से श्रम–सेवाओं या द्रव्य–रूप में कृषि–उत्पाद हासिल कर सकते थे। इस वर्ग ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करते हुए वयापार पर निर्भर साहूकार–महाजनों की जगह साख की आपूर्ति करने वाले वर्ग की जगह प्राप्त कर ली थी।

  हाँलाकि ग्रामीण ऋणग्रस्तता के बारे में विद्धानों ने किसानों के आर्थिक जीवन पर अलग–अलग तरीके से असर देखने की कोशिश की है लेकिन एक बात साफ तौर से दिखाई पड़ती है कि कई महत्वपूर्ण कारणों से ऋणों का लेन–देन और सूदखोरी का कारोबार अंग्रजी–राज के दौरान पनपता है। यह प्रक्रिया इस कारण से भी बढ़ी कि किसान कर्ज पाने की दृष्टि से जयादा समर्थ हो गया और इसलिए भी कि बाजार–केन्द्रित कृषि–प्रणाली विकसित होने के कारण इसने किसानों को कर्ज लेने के लिए प्ररित, विवश और बाध्य किया। हम कह चुके हैं कि अंग्रेजी–राज की उदारवादी (liberal) विचारधारा में भू–स्वामित्व पर बल दिया। इसी के कारण किसान आसानी से जमीन की गारन्टी देकर साहूकार–महाजन या दूसरे भू–स्वामी से कर्ज प्राप्त कर सकता था। अंग्रजी राज की न्यायिक–व्यवस्था और कानेनों को ढाँचा भी इस तरह का बना कि यह अनुबंध की पवित्रता (sanctity of contract) पर आधरित थी यानि कर्जदार को कर्ज चुकाने की जिम्मेदारी निभानी पड़ती थी और ऋण देने वाला साहूकार मूलधन और ब्याज पाने का हकदार था और अगर कर्जदार असमर्थ होता तो उसके सम्पति के दूसरे साधनों से इसकी रकम वसूल की जा सकती थी। इस काल में किसानों को उधार लेने के लिए प्ररित करने वाले अनेक कारण थे। कम्पनी शासन के शुरू के वर्षो में, बंदोबस्त चाहे जिस प्रकार का रहा हो, सभी में भू–राजस्व की मात्रा में अभूतपूर्व वृद्धि होती है। भू–राजस्व की दरों का बोझ 1850 तक अत्याधिक जयादा था चाहे बाद

में इसे तर्कसंगत बनाने की कोशिश की गई। 19वीं सदी के शुरू में जब कृषि–उत्पाद के मूल्य भू–राजस्व की उल्टी दिशा में गतिमान थे, किसानों के लिए ऋण ले रहे हो ऐसा नहीं था। 19वीं सदी में अनेक बार देश के अलग–अलग हिस्सों में भयंकर अकाल और प्रकृतिक आपदाओं का सामना किसानों को करना पड़ता है। उत्पादन कार्य और कृषि में निवेश के लिए किसान को साख की सबसे अधिक जरूरत पडती थी लेकिन अंग्रेज अधिकारियों ने अक्सर यह तस्वीर पेश करने की कोशिश की कि भारतीय किसान विवाह–शादी आदि में ओर अंधविश्वासों के कारण धार्मिक तथा त्योहार आदि के अवसरों पर बहुत ज्यादा उधार लेता था। कई बार सुधारकों ने भी जैसे महाराष्ट्र के ब्राह्मणवाद–विरोधी सतय–शोधकों ने ब्राह्मणों – सेठों के धार्मिक रीति–रिवाज और अनुष्ठानों को किसान–कनबी और निम्न जातियों–शूद्र–अति–शूद्र की ऋणग्रस्त का जिम्मेदार माना। राष्ट्रचसउी जसे अंग्रेजी–राज की आर्थिक आलोचना कर रहे थे उन्होंने इस मत का खण्डन किया कि भारतीय किसान सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठानों के कारण कर्जदार बन रहे थे। कई अध्ययनों में यह पाया गया कि किसान द्वारा उत्पादन के लिए लिये कर्जो का अनुपात अन्य सभी प्रकार की वजहों से लिये गये कर्जा से ज्यादा था।

(5) ग्रामीण ऋणग्रस्ता की मात्रा

जैसा कि हम कह चुके है कि अंग्रेजी राज के दौरान अनेक कारणों से किसानों पर कर्जो को बोझ बढ़ा और ब्याज की दरें भी बहुत अधिक होती चली गई। यूरोपीय व्यापारियों के द्वारा भारत के आंतरिक व्यापार पर कब्जा करने और बड़े व्यापारी वर्ग को अपने अधीनस्त रखकर काम करवाने के कारण कुछ हद तक व्यापारिक पूँजी महाजनी पूँजी में तबदील हो गयी। कुल ग्रामीण ऋणग्रस्तता के बारे में कोई ठीक–ठीक आँकड़े तो उपलब्ध नहीं है लेकिन अनेक कमीशन जाँच समितियाँ (सरकारी और गैर–सरकारी) के द्वारा समय–समय पर अलग–अलग क्षेत्रों के लिए दिये गये अनुमानों और गुणात्मक सबूतों से इसके विसतार के बारे में संदेह की गुँजाईश नहीं रहती। 1880 के अकाल कमीशन की जाँच में यह बात कही गई कि सभी प्रांतों में किसान कर्ज के बोझ से दबे पड़े थे। 1880 के अकाल कमीशन ने एक मोटा सा अनुमान लगाते हुए कहा कि भू–स्वामी कृषकों में 1/3वां भाग गम्भीर और बुरे तरीके से कर्ज में डूबा हुआ था और लगीाग इतने ही किसान हल्के कर्ज का बोझ ढ़ो रहे थे अर्थात् 2/3 किसान किसी न किसी रूप में कर्जदार बने हुए थे। 1928 के रॉयल एग्रीकल्चर आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में इस बात को माना कि ग्रामीण कर्जो में काफी बढ़ोतरी हुई थी। 1929 की महान आर्थिक मंदी ने ऋणग्रस्तता की समस्या को और अधिक भयावाह बना दिया। 1930 में सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार हिन्दूस्तन में किसानों के उपर 900 करोड़ रूपये के कर्ज थे सम्भवतया 1930 के दशक में इनमें और अधिक बृद्धि हुई होगी क्योंकि इस समय कृषि–उत्पाद के दाम तेजी से गिरने के कारण किसानों के जीवन–निर्वाह काफी मुश्किल हो रहा था। ब्रिटिश काल में काफी किसान अपने खेतों को गिरवी रख रहे थे।एम0एल0 डार्लिंग ने अपने पंजाब के किसानों के बारे में अध्ययन, "दि पंजाब पीजेन्ट इन प्रोस्पेरिटी डेट" (The Punjab Peasant in Prosperity and Debt) में पंजाब प्राप्त किसानों पर बढ़ते जा रहे कर्ज का उल्लेख किया। उनके अनुमान के अनुसार पंजाब में 1878 तक लगभग 7% ही कर्ज से मुक्त थे और औसत कर्ज की राशि कम से कम 463 रूपये या जमीन की मालगुजारी की रकम से 12 गुणा ज्यादा थी। कई गाँव–स्तर के अध्ययनों ने यह बात भी साफ की कि छोटे किसान और काश्तकारों पर यह कर्जो का बोझ (प्रति एकड़ भूमि के अनुसार और ब्याज की दर के अनुसार आकलन करने पर) ज्यादा भारी साबित हो रहा था।

अध्याय - 3 (d)

अकाल और अकाल नीति

ब्रिटिश शासन काल के दौरान अकसल और उनका चरित्र

हॉलाकि ब्रिटिश–पूर्व अर्थ व्यवस्थाओं में हमें अकालों के बारे में ज्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है और उनका विवरण दे पाना मुश्किल है लेकिन अनुमान है 11वीं और 17वीं सदी के बीच लगभग चौदह बार भयंकर अकाल पड़े। इनका प्रभाव हॉलाकि एक क्षेत्र विशष तक ही सीमित रहता था। अंग्रेजी काल के दौरान हम पाते हैं कि अकालों की बारम्बारता (frequency) में वृद्धि होती गई। एक अनुमान के हिसाब से, 1765 और 1858 के बीच में 12 अकाल और 4 बार जबरदस्त अन्न का अभाव देखने में आया। इसी तरह 1860 से 1908 के बीच लगभग 20 बड़े अकाल पड़े। लगातार बार–बार आने वाले ये अकाल और दुर्भिक्ष और इनका लगातार कम होता जा रहा अंतराल देश की जनता की गरीबी और दयनीय स्थिति का बखान करते हैं। अंग्रेजी राज के शूरू के दिनों के अकाल भले ही स्थानीय स्तर के थे लेकिन राज्य इन सीमित अकालों से निपटने के लिए भी तैयार नहीं था। आगे 19वीं सदी में अकाल और उनका प्रभाव और ज्यादा व्यापक हो गया। इस समय राज्य की प्रशासनिक–व्यवस्था पूरी तरह विकसित हो चुकी थी लेकिन फिर भी औपनिवेशि शासन ने अकालों को रोकने या उनसे निपटने की कोई ठोस कार्य–नीति तैयार नहीं की। भारतीय किसान, कारीगर और मजदूर लगातार अकालों के बुरे नतीजों से जूझते रहे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन शुरू होने पर सबसे पहला भयंकर अकाल 1770 का था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सारे इलोके इसकी चपेट में आ गए। 1768 की कमजोर मानसून के कारण अन्न की कीमतें लगाातार बढ़ रही थी और 1770 तक अन्न के दामो में इतनी तेजी से बढौत्तरी हुई कि खाद्यानों की भारी कभी हो गई। व्यापारी और कम्पनी के अधिकारियों की काला बाजारी ने स्थिति को और अधिक विकट बना दिया।

एक अनुमान के अनुसार अकाल के दौरान 10 मिलियन लोगों के जाने गई जो इन इलाकों की जनसंख्या का 1/3 वां भाग था। कम्पनी शासन इस दौरान द्वैध–शासन (dual-government) के बुरे नतीजों से गुजर रहा था। कम्पनी ने दीवानी का या राजस्व की वसूजी का अधिकार तो अपने कब्जे में ले लिया था लेकिन प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ अपने मातहत हिन्दुस्तानियों को ही सौंप रखी थी। इस तरह के भयंकर अकाल का सामना करने के लिए कम्पनी–शासन तैयार ही नहीं था – उसे तो केवल राजस्व–वसूली की की चिंता ज्यादा थी इसलिए अकाल के दौरान भी राजस्व की वसूली मं कोई भी किसी किस्म की छूट नहीं दी गई। सरकार की अकाल–नीति की नींव जब इतनी खराब थी तो आगे क्या उम्मीद की जा सकती थी। कम्पनी शासन के दौरान और भी कई भयंकर अकालों का सामना भारतीय जनता को करना पड़ा। 1783 में समूचे उत्तर भारत, मद्रास और बम्बई और राजपूताना को प्रभावित करने वाला एक देश–व्यापी अकाल पडा।

मानसूनी वर्षा की कमी, टिड्डी–दालों का फसलों पर हमला और दशिणी भारत में युद्ध इस दुर्भिक्ष के प्रमुख कारण थे। इस समय सरकार की भू–राजस्व में बढ़ौत्तरी करने की नीति में कोई बदलाव नहीं आया। हांलांकि कुछ हद तक सरकार ने कालबाजारी रोकने की कोशिश की और लोगों को अकाल रहित इलाकों में जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। 1790–93 के अकाल की चपेट में पश्चिम भारत, वर्तमान आंध्रपंदेश और उड़ीसा के अलावा मद्रास के कुछ जिले भी आये। 1802–04 में उत्तर भारत और मद्रास में अकाल की स्थिति फिर से पैदा हुई। इस समय कम्पनी अपने साम्राज्य के विस्तार में तेजी से लगी हुई थी और युद्धों ने भी फसलों को प्रभावित किया। उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रंत में किसानों को भू–राजस्व की वसूली में तत्कालिक अस्थायी छूट दी गई और कुँए आदि खादने के लिए तकावी ऋण भी सरकार की ओर से दिए गए। कुछ इलाकों में सरकार ने अन्न का आयात करके रियायती दामों पर इसे बेचा। यहाँ प्रत्येक अकाल का अलकग–अलग उल्लेख करना आसान नहीं होगा। इसलिए हम इनकी एक मोटी सी रूपदेख दे रहे हैं और जहाँ जैसा ठीक होगा, हम अपने तर्क के अनुसार उस अकाल के पहलू का उल्लेख करेंगे।

भारत के 19वीं सदी के प्रमुख अकाल और उनका प्रकोप

अकाल-वर्ष	अकाल प्रभावित अंचल/इलाका	अकाल पीड़ित जनसंख्या (लाख में)	मृतिकों की संख्या (लाख में)
1812-15	पश्चिमी भारत और उत्तर–पश्चिमी	अज्ञात	अज्ञात
1819-20	उत्तर–पश्चिमी	अज्ञात	अज्ञात
1837	दिल्ली के पास का क्षेत्र और राजपूताना	अज्ञात	अज्ञात
1860-61	उत्तर–पश्चिमी प्रांत, पंजाब, कच्छ और राजपूताना	130	20
1866-67	बिहार, मद्रास का उत्तरी भाग, हैदराबाद दक्षिण मैसूर, उड़ीसा	118	10
1868-70	गुजरात, बम्बई, राजस्थान, मध्य भारत और उत्तर प्रदेश का दक्षिण भाग	210	4.5
1896-97	राजस्थान, उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग, मध्यभारत, बम्बई, हैदराबाद, मद्रास	969	51.5
1899-1900	मध्य भारत, बम्बई, हैदराबाद, राजस्थान, पूर्वी पंजाब और पश्चिमी भारत की रियासतें	595	10
1943-44	बंगाल (विशेष रूप से) आंशिक रूप से उड़ीसा और मद्रास	600	20

यहाँ इस विषय पर ध्यान देना जरूरी है कि क्या अकालों की यह भीषणता और बारम्बारता स्वाभविक थी या औपनिवेशिक शोषण द्वारा पैदा की गई थी। प्राकृतिक विपदायें और भारतीय महाद्वीप में वर्षा का असमान वितरण, अनियमित और अपर्याप्त मानसून अकसर कई बार सूखे की स्थिति पैदा कर देती थी। टिड्डी दलों या चूहे आदि द्वारा फसलों के नष्ट हो जाने से भी खाद्यान्न का अभाव पैदा हो सकता था। इन प्राकृतिक विपदाओं के कारण माँग की तुलना में अनाज की आपूर्ति कम होने से अन्न संकट और अभाव की परिस्थितियाँ पैदा हो जाती थी। लेकिन आधुनिक काल में यातायात के साधनों विशेषकर रेलों के आने के बाद अन्न की स्थानीय कमी से निपटना कोई मुश्किल माम नहीं था। एक इलाके में कृषि–उत्पादन की कमी को दूसरे क्षेत्र से अन्न का आयात करके पूरा किया जा सकता था। अगर ऐसा सम्भव नहीं हो पा रहा था तो निश्चित तौर पर इसके लिए औपनिवेशिक शासन की प्रशासनिक कमजोरियाँ और उपनिवेशवाद द्वारा पैदा की गई सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ ही जिम्मेदार थी। 1900 में राष्ट्रवादी नेता रमेश–चन्द्र दत्त ने लाट साहब कर्जन को एक ज्ञापन दिया। इसमें रमेश चन्द्र दत्त ने अकाल के कारणों का भी खुलासा किया। उनके अनुसार ये कारण थे : भू–राजस्व के निर्धारण में स्थायीत्व की कमी, कृषि–उत्पादन की तुलना में भू–राजस्व का अन्यायपूर्ण तरीके से ज्यादा होना जिसके कारण ज्यादातर किसार कर्जदार बन चुके थे। उन्होंने सुझाव दिया कि भू–राजस्व के बंदोबस्ता की व्यवस्था सभी इलाकें में स्थायी हो और भू–राजस्व की उच्चत्तम सीमा जमींदार या खेत के मालिक के खेत में होने वाले कुल उत्पादन के आधे के बराबर होनी चाहिए यानि कुल–उत्पादन में से बाजार–दर से उत्पादन की लागत का खर्च निकालकर जो मूल्य आंका जाए उसका 50%। इसके अलावा भू–राजस्व की उच्चतत्त सीमा काश्तकार जो जमीन के मालिक न हो और दूसरे जमींदारों से लगान पर जमीन पर जमीन लेकर खेती कर रहे हो उनके लिए यह उत्पादन का पाचवाँ हिस्सा या 20% ही होना चाहिए। वायसराय कर्जन इस तर्क को मानने के लिए कतई तैयार नहीं थे कि भू–राजस्व का अधिक होना ही किसान की गरीबी और अकाल की मुख्य वजह है। उनका दावा था कि इसके विपरीत अंग्रेजी राज ने अकालों से निपटने में मदद की थी। वास्तव में अंग्रेजी राज के दौरान पड़ने वाले अकालों की प्रकृति और चरित्र इस रूप में अलग था कि इनका मुख्य कारण खाद्यानों की आपूर्ति की कमी न होकर किसानों की क्रय–शक्ति का कम हो जाना था। अंग्रेजी राज ने भू–स्वामित्व और राजस्व की जो प्रणालियाँ लागू की– उनमें भू–राजस्व की दरों को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया गया था। इससे कृषि–उत्पादन और उत्पादकता को लगभग जड़ बना दिया। इससे जमींदार और काश्तकार के रूप में दो विराधी वर्ग पैदा हुए। जमींदार परजीवी की तरह लगान वसूल कर खेती का उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाने में कोई में रूचि नहीं दिखा रहा था दूसरी ओर काश्तकार का जीवन असुरक्षित था – कभी भी उसका लगान बढ़ाया जा सकता था या उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। खेती पर खर्चों और लगान बवगैरह देने के बाद किसान के पास कोई पूँजी नहीं बचती थी जिसका निवेश करे वह कृषि–उत्पादन में बढ़ोत्तरी करने की कोशिश करता। केवल नकदी फसलों के उत्पादन में उत्पादकता में तेजी से वृद्धि देखने को मिलती है लेकिन इसका लाभ भी सभी किसानाकें को समान रूप से मिल रहा हो, ऐसा नहीं था। केवल एक छाकेटे से धनी समृद्ध किसान–वर्ग को छोड़कर ज्यादातर छोटे और मंझले स्तर के किसान नगदी फसलों के

उत्पादनके लिए साहूकार–महाजनों या दूसरे समृद्ध किसानों द्वारा दिए जाने वाले कर्जों पर निर्भर करते थे क्योंकि इन फसलों के उत्पादन की लागत सामन्यतया ज्यादा थी और छोटे किसान के पास पर्याप्त संसाधन नहीं थे। मंडियों में भी एक बिचौलिया वर्ग जन्म ले चुका था जो किसान की फसल के दामों का एक हिस्सा हजम कर जाता थ। अंधिकांश किसानों के पास भू–राजस्व, जमींदार का लगान, साहूकार का ब्याज और आढ़तियों आदि का मंडी के हिस्सों को देने के बाद जीवन–निर्वाह के लायक साधन भी नहीं बचते थे। इसलिए बी. एम. भाटिया ने **भारत में अकाल** नामक अपने अध्ययन में किसानों और श्रमजीवियों की लगातार कम होती जा रही क्रय शक्ति को अकालों का मुख्य कारण माना है।

नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर अमृत्य सेन ने 1943 के बंगाल अकाल, 1970 के दशक के इथोपिया और बंगला देश के अकाल सम्बंधी तथ्यों की खोज करते हुए स्वामित्त्व के अधिकार के साथ विनिमय अधिकार" (exchange-entitlement) पर बल दिया है। विनिमय अधिकार से मतलब है "वह क्षमता, जिसके द्वारा लोग सामाजिक कानून के रास्ते से खाद्य–सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। इस धारणा काइस्तेमाल से हम जान सकते हैं कौन सा वर्ग है जिसके पास यह क्षमता कम है और जो अकाल में सबसे ज्यादा पीड़ा उठाता है। केवल प्रति–व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता से या औसल के हिसाब के अनुसार यह जान पाना मुश्किल है कि अंकाल में लोग क्यों मरते हैं या कौन लोग मरते हैं। मोटे रूप से हाँलाकि जार्ज बिलन के आँकड़ें दिखाते हैं कि कृषि–उत्पादकता विशेषकर खाद्यान्नों की उत्पादकता में 20वीं सदी में गिरावट आने के संकेत दिखाई पड़ते हैं। चूंकि इस समय भारत में जनसंख्या का भी तेजी से विस्तार हो रहा थरा इसलिए खाद्यानों के प्रतिव्यक्ति आपूर्ति का रूझान भी गिरावट की ओर है।

खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति वार्षिक अपूर्ति (टन के हिसाब से)

	1901	1911	1221	1931	1941	1946
जार्ज ब्लिन की गणना के अनुसार (ब्रिटिश भारत)	0.23	0.23	0.22	0.20	0.16	0.16
शिव सुब्रहमण्यम् की गणना के अनुसार (सम्पूर्ण भारत)	0.20	0.20	0.20	0.18	0.15	0.16
एलेन हेस्टन की गणना के अनुसार (सम्पूर्ण भारत)	0.17	0.18	0.18	0.17	0.15	0.16

यह भी सच है कि औसत खाद्यान्न के आँकड़े बहुत सी बातें छिपा देते हैं जैसे अमृत्य सेन ने दिखाया कि बंगाल में 1943 में खाद्यान्नों का भंउार पिछले पाँच सालों के औसत से 5% ही कम था जबकि अगर 1941 से इसकी तुलना करें तो यह 13% ज्यादा था। हाँलाकि बंगाल के अकाल के कई सतही और आंशिक कारणों को गिनाया जा सकता है जैसे बर्मा पर जापान का कब्जा हो जाने से वहाँ से चावल का आयात बंद हो गया और 1942 में ब्रिटिश सरकार ने बंगाल के कई जिलों से चावल उगाह कर उसे बाहर भेज दिया ताकि जापानी आक्रमण के समय वह ब्रिटिश सेना के काम आ सके। इसी प्रकार जापानी हमले का अंदेशा होने से माल ढोने वाली नौकाएँ नष्ट कर दी गई और सरकार ने अंर्तःक्षेत्रीय खाद्यान्नों का व्यापार बंद कर दिया जिससे अनेक जगहों पर काला बाजारी फैली और अनेक स्थानों पर खाद्यान्नों का अभाव हो गया। बहुत से राजनैतिक हलकों में इसे (अकाल) बंगाल के प्रांतीय सरकार का प्रशासनिक भूलों का ही नतीजा माना। लेकिन गहरीई से छानबीन करने से हमें 1943 के बंगाल के किसानों में ज्यादात्तर का खाद्यान्न की बढ़ती कीमतों के साथ–2 उनकी कम होती जा रही क्रय–क्षमता। 1941 की जनगणना के आँकड़ों के अनुसार–बंगाल में 75 लाख लोग कृषि पर आश्रित थे और लगभग 55 लाख के पास 5 एकड़ से कम जमीन थीं इसमें बहुत–से पूरी तरह भूमिहीन खेतिहर वर्ग का बड़ा समूह भी शामिल था। लगभग 30 लाख लोग ऐसे थे जो या तो मजदूरी पर निर्भर थे या बँटाई दार (Share-cropper) के रूप में काम कर रहे थे। एक आकलन के अनुसार, एक और औसत किसान–परिवार के लिए उस समय भरण–पोषण के लिए कम से कम 5 एकड़ भूमि अपूक्षित थी और अगर जमीन पर अगर केवल आमन (Winter) धान की ही फसल ली जा सकती थी तो 8 एकड़ की जरूरत पड़ती। प्रति एकड़ घटते जा रहे उत्पादन और खाद्यान्न को उपलब्धता के कारण स्थिति बहुत विकराल हो चुकी थी। जिसने भयंकर मुद्रास्फी को जन्म दिया। युद्ध ने चावल के बाजार में सट्टेबाजी और कालाबाजारी को भी पैदा किया। इससे व्यापारी–व्यवसायी वर्ग के मुनाफे तो तेजी से बढ़े लेकिन खेत–मजदूर की मजदूरी नहीं बढ़ी। इस स्थिति मं चावल का दाम छोटे किसान, बटाईदार और खेत–मजदूर की क्रय–शक्ति से बाहर–चला गया। 1943 में चावल के भंडार बंगाल की जनसंख्या के लिए 42–43 सप्ताह के लिए पर्याप्त खाद्य–सामग्री उपलब्ध । करा रहे थे। स्वयं में यह मात्रा कम नहीं कही जा सकती क्योंकि 1941 में बंगाल प्रांत में केवल 39 सप्ताह के लिए खाद्यान

उपलब्ध थे और 1936 में 44 सप्ताह के लिए लेकिन उन वर्षो में खाद्यानों का कोई अभाव महसूस नहीं किया गया जबकि 1943 के अकाल में सरकार के अकाल कमीशन को इन्कवायरी की रिपोर्ट के मुताबिक 10–20 लाख लोगों ने जान गँवाई। सरकारी रिपोर्ट पर संदेह किया गया है कि इसने मृतकों की संख्या कम करके आँकी है और गैर–सरकारी स्रोतों के अनुसार यह संख्या 30–35 लाख तक हो सकती थी। इस विश्लेषण को कई अन्य अकालों के तथ्यों के आधार पर आँका जा सकता है। 1860–61 के अकाल के समय, जिसने उत्तर–पश्चिमी प्रांत के साथ कई उत्तर भारत के क्षेत्रों को प्रभावति किया, इस प्रकार की परिस्थितियां मौजूद थी। इस अकाल में 20 लाख लोग मौत का शिकार बने। ऐसा अनुमान है उत्तर–पश्चिमी प्रांत में 44–5 मिलियन मन खाद्यान्न उपलब्ध था और सामान वितरण करने पर यह पूरी जनसंख्या के लिए पर्याप्त हो सकता थ लेकिन खाद्यानों की कीमतों में अभूतपूर्व वृद्धि के कारण सभी सामजिक वर्ग पर्याप्त मात्रा में खाद्य–सामग्री पा सकने में असमर्थ रहे। और यहीं अकाल के दौरीान इतनी ऊँची मृत्यु दर का कारण बना। सहारनपुर में मई, 1860 में एक मण गेहूँ एक रूपया आठ आने में बिक रहा थ जबकि फरवरी, 1861 में पाँच रूपये तक में एक मण अनाज की कीमत पहुँच चुकी थी। यहाँ तक कि आस–पास के इलाकों में भी जहाँ अकाल का सीधा प्रभाव नहीं पड़ा था, अन्न के दामों में हद से जयादा बढ़ोतरी देखने को मिली। इसी प्रकार, 1891 के एक अकाल के समय बंगाल के लैफ्टीनैंट जनरल के कथन के अनुसार, खाद्यान्न आसानी से उपलब्ध था लेकिन खेतिहर मजदूरों को रोजगार नहीं था और वे खाद्य–सामग्री खरीदने की क्षमता नहीं रखते थे। इसी तरह 1896–97 के देश–व्यापी अकाल के समय भी यह आश्यर्च की बात थी कि खाद्यान्न आसानी से मंडियों में उपलब्ध थ चाहे इसके दाम भले ही गरीब जनता की पहुँच से बाहर रहे हो। उदाहरण के तौर पर इस अकाल से पहले 1895 में एक रूपये में लगभग 25 सेर चावल मिल जाता था। अक्टूबर 1896 में एक रूपये में लगभग तेरह सेर और जून 1897 में एक रूपये में 7 सेर चावल ही मिल सकता था। मूल्यों के स्तर पर पर अकाल से प्रभावित और अप्रभावित इलाकों में मूल्यों रूझान एक जैसा रता था और यह मूल्य वृद्धि सभी खाद्यान्नों की समान रूप से प्रभावित करती थी। औपनिवेशि कृषि–नीतियों के कारण सुरक्षा के परम्परागत साधन जैसे किसान–परिवार द्वारा अगली फसल आने तक घरेलू भंडारण भी नष्ट हुए और नकदी फसलों के उत्पादन औरी इसके परिणाम स्वरूप फसलों अंर्त–क्षेत्रीय विशिषटीकरण के कारण भी प्रक्रिया को बल मिला।

इस उपरोक्त विश्लेषण की ठीक उल्टा विश्लेषण श्रीकति मिशेल मैकाल्पिन ने अपनी कृति, "**अकाल पीड़ित पश्चिमी भारत में खाद्यान्न अभाव और आर्थिक परिवर्तन : 1860-1920" [Micheile B. McAlpin, subject to famine, Food Crisis and Economic change in Western India, Princeton, 1983.]** में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। यह एक प्रकार से औपनिवेशिक प्रशासकों के विचारों का ही समर्थन है। मैकाल्पिन के अनुसार अकाल का कारण मुख्यतया प्राकृतिक होता है और यह उन्होंने वर्षा, कृषि–उत्पादन की दर और जनसंख्या के आंकड़ों के आधार पर प्रमाणित करने की कोशिश की है। दूसरा उन्होंने साबित करने की कोशिश की कि महाराष्ट्र में 1860–1920 के बीच भू–राजस्व क्रमशः कम होता जा रहा था जिसका कारण उन्होंने दिया इस अवधि में कृषि–उत्पाद के मूल्यों में वृद्धि। उनके मत में, ब्रिटिश सरकार के राहत कार्यों से अकाल का असर कम होने लगा– खसकर रेलवे के निर्माण से व्यापार के माध्यम से किसानों की आमदनी बढ़ी और अकाल का प्रभाव भी कम हुआ। उन्होंने यह सिद्ध करने की भी कोशिश की कि किसान खसकर जमीन की मिल्कियत का हम रखने वाले किसान कृषि–उत्पाद के बाजार में वृद्वि का फायदा उठाते हैं और अपनी सुविधा के अनुसार फसलें उगाकर और बेचकर कृषि की उत्पादकता बढ़ाते है और इन सबसे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था की प्रगति होती है। इससे निश्चय ही खेतिहर मजदेरों की वास्तविक मज़दूरी की दरों में भी बढ़ोत्तरी हुई होगी यह भी मैकाल्पिन का मानना है। कृषि के वाणिज्यीकरण से किसानों पर अगर कर्ज को बोझ बढ़ा तो यह उनकी सम्पन्नता और समृद्धि का सबूत देता है ना कि बढ़ती निर्धनता का।

मैकाल्पिन के आँकड़ों और निष्कर्षो में कई खामियाँ है। उन्होंने अकाल–कमीशनों द्वारा दी गई मृत्यु–संख्या संदेह करते हुये पंजीकृत मृत्यु के आंकड़े ही लिये हैं, जो वास्तविक मृत्यु संख्या से हुित कम है और मुत्यु–दर की सही–सही तस्वीर नहीं देते। उन्होंने 1850 से पहले भू–राजस्व कुल कृषि उत्पादन का 70–90% तक माना है जो असम्भव सा लगता है। कुषि के योग्य भूमि को खेती के लिए इस्तेमाल करने के बावजूद प्रति एकड़ कृषि उत्पादकता में गिरावट को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। केवल परिवहन और रेलवे के आने से किसानों को मंडियों में उनकी फसल का ज्यादा मूल्य मिलने लगा हो – ऐसा भी कहना मुश्किल है। साहूकार–बनियों का जिससे किसान कर्ज लेते हैं, फसलों के क्रय–मूल्य पर अच्छा–खासा नियंत्रण था और मंडियों में दलाल–विचौलियों की तादाद और भूमिका बढ़ने से किसानों को कृषि–उत्पाद के बाजार में वृद्धि का लाभ नहीं मिल सकता था। अगर हम यह भी मान ले कि किसान समृद्ध हो जा रहे थे तब भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस प्रगति से खेतिहर मजदूर की समूह उभर भी रहा था तब भी बहु–संख्यक काश्तकार और छोटे किसान जो ऋण के बाझ से दबते जा रहे थे और खेतिहर मजदूरों के साथ अकालों भीषणता का शिकार बनते थे। छोटे किसान पर प्रति व्यक्ति कर्ज और प्रति एकड़ कर्ज का परिणाम कम था क्योंकि उसकी आया और सम्पति सीमित है, गिरवी रखने को जमीन भी उसके पास कम

है, उसकी कर्ज चुकाने की क्षमता कम है और साहूकार उसे जयादा कर्ज भी नहीं देगा। अतः यह सवाल महत्वपूर्ण है कि किसान का कर्ज का बोझ उसकी आय और सम्पत्ति के अनुपात में कितना है? और जो पैसा वह उधार लेता है वह उसका कृषि निवेश करके ज्यादा मुनाफा अर्जित कर पाता है या नहीं? केवल कृषि–उत्पादन की तुलना में भू–राजस्व के कम हो जाने से किसान अकाल की भयावहता से नहीं बच सकता था।

अकालों के प्रभाव

ब्रिटिश शासन काल के दौरान जो दुर्भिक्ष और अकाल पड़े उनके भारतीय कृषि व्यवस्था पर अनेक प्रभाव पड़े। उन्नसवीं सदी में इन अकालों ने जनसंख्या की वृद्धि दर को बढ़ने से रोके रखा। जनसंख्या–वृद्धि की दर केवल अकालों से ही प्रभावित नहीं होती थी बल्कि अकालों के दौरान बढ़े कुपोषण और उसके नतीजे के रूप में शरीर की प्रतिरोधक शक्ति खत्म होने से फैलने वाली महामारियों का भी इसमें महत्वपूर्ण हाथ था। जैसे 1896–97 के अकाल में मृतकों की संख्या 40–50 लाख थी लेकिन 1897–98 में महामरियों में 65 लाख लोगों की जानें गयी जबकि वर्षा और फसल की दृष्टि से यह सामान्य वर्ष था। अकाल जनसंख्या और खाद्यान्नों की आपूर्ति के बीच संतुलन बनाये रखने का प्राकृतिक लेकिन बहुत ही क्रूर और निर्मम तरीका था। अकालों का कृषि–व्यवस्था पर भी हुित ही घातक प्रभाव पड़ता था। अकालों के दौरान उत्पादन की शक्तियों का भयंकर विनाश होता था। न केवल अकाल श्रम–शक्ति और उत्पादक–कृषकों की वास्तविक संख्या ही कम कर देते थे बल्कि चारे और पानी की कमी के कारण पशु–धन का भारी नुकसान होता था और चंकि पशुधन किसानों की मुख्य–पूंजी थी क्योंकि खपेती के पिछड़ेपन की वजह से कृषि–निवेश का मुख्य भाग पशुओं के रख–रखाव पर खर्य होता था और वगैर पशुओं के जुताई बुवाई सम्भव ही नहीं थी। अपने कृषि–उत्पाद को मंडियों में लाने के लिए भी किसान पशुओं बुवाई सम्भव ही नहीं थी। अपने कृषि–उत्पाद को मंडियों में लाने के लिए भी किसान पशुओं पर आश्रित थे अतः उत्पादन वितरण सभी पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता था। जैसे 1896–97 के अकाल के दौरान लगभग 20 लाख पाशुओं का नुकसान भी कृषि–व्यवस्था को उठाना पड़ा।

अकाल किसानों की साख (Credit) प्राप्त करने की क्षमत का नाश भी कर देते थे। किसान परिवार की गहनों आदि के रूप में जो बचत थी वह अकालों के समय भरण–पोषण और परिवार के जीवन की सुरक्ष में वे लगा देते थे। इससे किसान को कृषि–चक्र आगे चलाने के लिए कर्जों की ओर ज्यादा जरूरत पड़ती थी। अकाल के समय खेतिहर मजदेरों का रोजगार पूरी तरह खत्म हो जाता था और वैकल्पिक रोजगार के अवसरों के अभाव में जीवन–यापन बहुत ही मुश्किल हो जाता था। अकालों से केवल मौत ही नहीं होती थी बल्कि कृषि–व्यवस्था कई सालों के लिए गड़बड़ हो जाती थी। पशुओं की हानि, उपजाऊ जमीन के परती हो जाने से होनेवाली हानि और किसान की संचित पूँजी के नष्ट हो जाने इसके दूरगामी प्रभाव पड़ते थे। विभिन्न अकाल कमीशनों और सरकारी जाँच की संचित पूँजी के नष्ट हो जाने इसके दूरगामी प्रभाव पड़ते थे। विभिन्न अकाल कमीशनों और सरकारी जाँच कमेटियों ने इस बात के सबूत पेश किए हैं कि दुर्भिक्ष का शिकार कौन लोग होते थे। इसके अतिरिक्त हमें सरकार के राहत–केन्द्रों में मदद और रोजगार पाने वालों की सूची देखने से भी इस पहलू की जानकारी मिलती है। 1860–61 के बेयर्ड स्मिथ की रिपोर्ट के अनुसार अकाल पीड़ितों में सबसे प्रमुख थे – खेतिहर मजदूर और छोटी जातियों के कारीगर जेसे चमार, जुलाहे आदि। 1860 के दशक में जुलाहों की दशा घरेलू उद्योगों की तबाही से और रूई के दाम अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में बढ़ जाने से बहुत ही शोचनीय थी। 1867 के अकाल कमीश नकी रिपोर्ट के मुताबिक, किसान यहां तक छोटे किसान भी साहूकार–महाजनों से कर्ज की सुविधा लेकर अपने परिवारों की रक्षा 1867 के अकाल में करने में कामयाब रहे थे लेकिन ऐसा हमेशा सम्भव नहीं था। 1896-97 में देश–व्यापी अकाल में किसानों ने साहूकारों से कर्ज लेकर बचने की कोशिश की। 1897–98 समान्य फसल का साल रहा लेकिन इसके बाद 1899–1900 का भयंकर अकाल आया। ज्यादातर किसान पहले ही कर्जों में डूबे हुए थे और कोई साहूकार और कर्ज देने को उत्सुक नहीं था इसलिए बड़े पैमाने पर 1899–1900 के अकाल के दौरान किसानों और काश्तकारों के सरकारी सहायता केन्द्रों में मदद पाने के लिए आने के सबूत मिलते हैं। लेकिन फिर भी खेतिहर मजदूर और कारीगर जातियाँ इसमें सबसे ज्यादा प्रभावित होती थी। 1866–67 के अकाल के दौरान गंधक का उत्पादन करने वाले नोनियों की तादाद काफी बड़े पैमाने पर सरकारी सहायता केन्द्रों में आयी क्योंकि इनके व्यवसाय पर यूरोप के आयातित गंधक का असर पड़ रहा था। इसी तरह 1865–66 में कटक जिले (उड़ीसा) के नकम बनाने वाले कारीगर बेरोजगारी से जूझ रहे थे और मदद के लिए सहायता केन्द्रों में पंक्तिबद्ध हुए।

अकाल-सम्बंधी सरकारी नीति

अकालों के बारे में ब्रिटिश–सरकार की नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू था कि यह अहस्तक्षेप की नीति (laissez faire) और ध ारणा से प्रेरित रही। इस नीति के तहत सरकार ओर राज्य ने खाद्यान्नों के मुल्य नियंत्रित करने या बाजार और मंडियों की परिस्थितियों को प्रभवित करने की कोई कोशिश नहीं की। सरकार ने उदारवादी विचार के तहत व्यापार में किसी तरह का

हस्तक्षेप करने से साफ इन्कार कर दिया। जॉन सेट्रची जो सैक्रेटरी ऑफ़ स्टेट थे, उन्होंने कहा कि सरकार के द्वारा व्यापार में हस्तक्षेप करने से व्यापारी वर्ग की स्वतंत्रता और सट्टेबाजी (Speculation) की प्रवृति प्रभावित होगी और यह व्यापार की स्वतंत्रता के लिए अच्छा नहीं होगा। हिनदुस्तान में अन्न के व्यापार पर गाँव और छोटे कस्बों में एकाध बड़े वयापारी का ही एकाधिकार थ और इस प्रकार की नीति के काफी नकारात्मक प्रभाव पड़े। अन्न के अभाव के समय ये मनमाने ढंग से काला बाजारी करते और भारी मुर्नों कमाने लगे। अकाल और अभाव के समय में सरकार अन्न के आयात के विरूद्ध नही थी। अन्न का आयात किया जा सकता था बशर्ते कि यह नीजि वयापार को प्रभावित नहीं करता हो। 1866–67 के अकाल के समय सरकान ने स्वयं भ उड़िसा आदि के लिए अन्न का आयात (बर्मा से चावल) किया लेकिन यह अन्न सरकार के द्वारा अकाल द्वारा निध ारित बाजार–मूल्यों पर ही बेचा जा रहा था और इसका कोई फायदा अकाल ग्रस्त लोगों को नहीं हो सकता था। वास्तव में सरकार ने अपनी नीति के पक्ष में उदारवादी विचार की सैद्धांतिक दलीलें जरूरी समझी लेकिन व्यवहारिक नजरिये से देखा जाये तो सरकार अकालों से निपटने का वित्तय बोझ नहीं उठाना चाहती थी। सरकान नीजि व्यापार में अहस्तक्षेप इतनी तत्परता से लागू कर रही थी कि 1896–97 के देश–व्यापी अकाल के समय सरकार ने बंगाल की प्रांतीय सरकार द्वारा व्यापारी और जमींदारों को दिए जाने आयात के लिए ऋणों और अग्रिम भुगतान का विराध किया गया और बम्बई की म्युनसिपल कमेटियों द्वारा उचित मूल्य की सरकारी दुकानें खेले जाने का यह कह कर विरोध किया यह उनके अधिकार–क्षेत्र में नहीं आता है।

इसके विपरित स्वेज नहर के निर्माण (1869) के बाद से ही भारत से अन्न और तिलहन का निर्यात तेजी से बढ़ा था। भारत से गेहूँ और बर्मा से चावल का निर्यात इंग्लैंड के लिए काफी महत्वपूर्ण स्थान रखता था खसकर उस समय जब दूसरे अन्न का निर्यात करने वाले देशों में फसल नष्ट हो जाती थी तब भारत का गेंहूँ महंगा होने के बावजूद काफी–अहम भूमिका निभात था। 1902 और 1913 के बीच ब्रिटेन के कुल अन्न के आयात में भारतीय गेंहूँ की आपूर्ति 18% के लिए उत्तरदायी थी। अकालों की भीषणता और बारम्बारता के बावजूद अन्न का निर्यात भारत से लगातार जारी रहा। अहस्तक्षेप की तथाकथित नीति के अलावा अंग्रजी सरकार की एक और व्यवहारिक और वित्तिय विवशता यह थी कि उसने अपने भुगतान संतुलन (balance of payment) बनाये रखने के लिए और भारत में आयात किए जा रहे माल और सेवालों के भुगतान के लिए सदैव आयात की बजाय निर्यात की अधिकता (export-surplus) पर बल दिया। गृह–शुल्क, (Home charges) के नाम से जाने वाले अनेक खर्चे जिनहें दादा भाई नौरोजी ने 'धन की निकासी' का नाम दिया, वास्तव में ब्रिटिश सरकार द्वारा 'आयात' की जाने वाली सेवाओं का नाम था जिनका भुगतान निर्यात की अधिकता पर ही निर्भर करता था। इन सेवाओं में मुख्य थी – इंग्लैण्ड से प्राप्त की गई सरकार द्वारा ऋण (सार्वजनिक ऋण) की सुविधा, एक विदेशी प्रशासन की सेवा और भारत में रेलवे निर्माण के लिए इग्लैण्ड की नीजि कम्पनियों द्वारा दी गई पूँजी की सेवा जिस पर सरकार गारंटीशुदा ब्याज देती थी और अंग्रेजी–साम्राज्य की सुरक्षा के लिए भारतीय सेना की सेवा। इस प्रकार की सेवाओं के भुगतान के लिए अन्न कस निर्यात भी जरूरी था चाहे इसका नतीजा लाखों हिन्दुस्तानियों की अकालों में अकाल–मृत्यु के रूप में ही क्यों न निकल रहा था।

1860–61 के उत्तर–पश्चिमी प्रांत के अकाल से पहले सही अर्थ में कोई सार्वजनिक नीति अकालों से निपटने या संरक्षण देने के लिए नहीं बनायी गई थी। इससे पहले जब भी अकाल–स्थिति पैदा होती तभी कुछ तत्कालिक उपाय किए जाते थे जैसे मुफ्त भोजन का वितरण, अनाज के आयात के लिए सरकारी मदद आदि। फसल की तबाही के कारण जिन लोगों को रोजी–रोटी प्रभावित होती थी उन्हें रोजगार देने की भी कोशिश करता था। 1860–61 के उत्तर–पश्चिमी प्रांत के अकाल के समय से विभिन्न किस्म के सार्वजनिक कदम सरकार के उठाने शुरू किये। इस समय अकाल नीति का मुख्य मकसद था कि अकालों के समय काम कर सकने लायक लोगों को रोजगार दिया जाये तथा बूढ़े बच्चे आदि का मुफ्त भोजन दिया जाये। इन राहत केन्द्र में रोजगार पा रहे लोगों को कम से कम मजदूरी दी जाये ताकि स्थिति ठीक होते ही ये अपने पूराने व्यवसाय पर लौटने को तैयार रहें। अकाल राहत के लिए जनता से स्वयंसेवी आधारन पर चंदा इकट्ठा भी किया गया और सरकान ने भी धन–राशि जुटाई। किसानों को तत्कालिक भू–राजस्व की वसूली के स्थगन से लेकर तकावी कर्ज देने जैसे कदम भी अपनाए गए। इस अकाल के दौरान मेरठ की सैनिक छावनी के निर्माण और गंगा नहर के निर्माण का काम शुरू हो चुका था जहाँ काफी लोगों को काम मिल गया था। लेकिन सरकार के राहत देने के कदम पूरी तरह अपर्याप्त थे। अकाल ने लगभग 13 मिलियन लोगों को प्रभावित किया था लेकिन रोजगार के रूप में सरकारी सहायता केन्द्रों में केवल 34,000 लोगों को रोजगार दिया गया और 83,000 लोगों में मुफ्त भोजन बाँटा गया। वितरित भोज्य–सामग्री पकाये गये भोजन के रूप में किए जाने से चूंकि जाति–नियमों का (खान–पान) उलंघन होता था अतः यह भी एक विकट समस्या बनी रही। इन वर्जित नियमों को ध्यान में रखकर बाद में 1874 के बाद औपनिवेशिक राज्य ने पकाये गयो भोजन की जगह अन्न का वितरण करना शुरू कर दिया। 1860–61 के अकाल के बाद बनी कमेटी ने, बेयर्ड स्मिथ के नेतृत्व में अकालों से निपटने के लिए और बचाव और सरंक्षण के लिए सुझाव दिया कि भू–राजस्व को स्थायी बना दिया जाये और सिंचाई की सुविधाओं को तेजी से विस्तार किया जाये।

1870 के दशक में अकाल–नीति में कुछ और पहलुओं को जोड़ा गया। प्रशासनिक ढांचे को सुदृढ़ करते हुए अधिकारियों को जयादा उत्तरदायी बनाने की कोशिश की गयी। सरकार की अकालनीति इस समय विराधीाासी सिद्धांतों से जूझ रही थी। एक तरफ जहां अधिकारियों को दिशा–निर्देश दिया गया कि उन्हें ज्यादा से ज्यादा जानों की रक्षा (Saving maximum number of lives) के सिद्धांत पर काम करना हे तो दूसरी और सरकार ने अकाल राहत कार्यों में मितव्ययता (Economy in Expenditure) बर्तने की बात पर भी बल दिया। सरकार द्वारा दी जानी मुफ्त और निशुल्क राहत देने में काम का विकेन्द्रीकरण करके इसे गॉव स्तर के छोटे–छोटे निर्माण कार्यों में अकालों के दौरान रोजगार दिया जा रहा था लेकिन धीरे–धीरे 1870 के दशक में बड़े–बड़े केन्द्रीयकृत रोजगार के रूप में सहायता देने वाले राहत केन्द्र स्थापित किये जा रहे थे। 1880 के अकाल कमीशन ने अकालों से निपटने और निवारण के लिए कई तरह के सुझाव दिये जिनमें महत्त्वपूर्ण सिफारिशें थी – अकाल पीड़ित प्रांतों में राहत कार्यों की देख–रेख के लिए अकाल कमीश्नर की नियुक्ति करना, एक अकाल संहिता या नियमावली तैयार करना, अच्छी सुवयवस्थित विधि से कृषि के बारे में स्थानीय आंकड़ों को संकलित करने की कोशिश करन, विशेष अकाल–कोष की स्थापना, भू–राजस्व में उदारतापूर्वक छूट और राहत देना, असाधारण हालातों में खाद्यान्नों के वितरण में सुधार लाना आदि तत्कालिक उपाय थे। इसके साथ दीर्घकालीन उपायों द्वारा अकालों से बचाव के लिए रेलवे और सिंचाई का तेजी से विस्तार करने, ग्रामीण उद्योग और व्यवसायों को प्रोत्साहन देना तथा स्थायी भूमि–सुधार योजनाओं के लिए सरकार द्वारा उदारता से ऋण देना आदि शामिल थे। 1880 के कमीशन में कुँओं द्वारा सिंचाई को बढ़ावा देने और किसानों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए जमींदारों द्वारा लगान मनमाने ढंग से बदलने पर कानून द्वारा अंकुश लगाने और साहूकारों की गतिविधें पर नियंत्रण लगाने जैसे कदम भी शामिल थे। पशु–धन की सुरक्षा के लिए अकालों के दौरान पशुओं को सरकारी जंगलों में चराने की छूट भी इस अकाल कमीशन के सिफारिशों में शामिल थी। 1880 में कमीशन के सेक्रेटरी सी.ए. इलियट ने अकाल नियमावली (famine code) का एक रूप तैयार किया और इसमें दर्शाया गया कि कैसे स्थानीय स्तर से प्रांतीय स्तर तक कृषि की परिस्थितियों का लगातार सूचनाओं के रूप में आदान–प्रदान किया जाए। राहत कार्यों के संगठन के बारे में इस संहिता मुं अनेक सुझाव दिये गये, सहायता केन्द्रों का स्वरूप कैसा हो? मजदूरी की दरों का निर्धारण कैसा हो, निःशुल्क मदद का वितरण सुचारू ढंग से कैसे किया जाये ये सभी इस नियमावली में बताया गया। इस सब के बावजूद 1896–97 और 1899–1900 के देशव्यापी दुर्भिक्षों ने सरकारी नीति की कमियों को खुल कर सामने ला दिया। सही समय पर न केवल सरकार उचित कदम ही उठा पायी बल्कि अकालों की भीषणता को देखते हूए राहत–कार्य भी अपर्याप्त रहे। सरकार वित्तिय साधनों के अभाव का बहाना करती रही। यह सही है कि सरकार 1860 और 1870 की तुलना में ज्यादा धन–राशि खर्च कर रही थी लेकिन फिर भी संरक्षण देने का सपना पूरा नहीं हो पाया था। 1901 के अकाल कमीशन ने 1899–1900 के अकाल के लिए प्रशासन की ढील को ही उत्तरदायी माना। कमीशन ने अकाल के लक्षण शुरू होते ही राहत कार्य शुरू करने पर जोर दिया। इस अकाल कमीशन ने राहत केन्द्रों में मजदूरी की दरें न्यूनतम स्तर पर रखने की बजाय परिणाम के आधार पर मजदूरी देने की सिफारिश भी दी!

अकालों की स्थिति से निपटने के लिए भारतीय राष्ट्रवादियों ने सिंचाई परियोजनाओं में पूँजी के ज्यादा निवेश पर बल दिया। कई ब्रिटिश अधिकारियों ने भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किए। लेकिन व्यवहार में, औपनिवेशिक राज्य ने अकालों से निवारण के लिए रेलवे के विस्तार का रास्ता अपनाया। रेलवे–परिवहन ने खाद्यान्नों का व्यापार और निर्यात तो बढ़ा दिया लेकिन अकालों से निजात नहीं दिलाई क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं कि अकाल भारतीय जनता की क्रय–शक्ति के अभाव से जन्म ले रहे थे।

अध्याय - 3 (e)

किसान विद्रोह

अकालों के वर्णन से हमें लगेगा की जैसा भारतीय किसान इतिहास मे निष्क्रिय शक्ति के रूप मे ही औपनिवेशिक नीतियों के पात्र के रूप में ही पेश किए जा सकते है। लेकिन इतिहास–लेखन की बदलती प्रवृतियों के कारण आज हम निम्न वर्गो, मेहनतकशें, स्त्रियों दलितों आदि के द्वारा इतिहास का निर्माण और सर्जन करने पर काफी बल दिया जाने लगा है। इतिहास लेखन में अब शासक वर्ग और उसकी प्रशासनिक नीतियों या व्यक्तिगत उपलब्धियों पर ध्यान न देकरनिम्न तबको की इतिहास में भूगिका को नये तरिके ओर अंदाज से देखा जाने लगा है। इसमें पश्चिम यूरोप में अब तक अनदेखे, अनछुये पहलुओं को प्रकाश में लाने में काफी दिशा–निर्देश किया है। अगर इतिहास अतीत के किसी काल में होने वाले सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का अध्ययन है तो इसको समझने में उस समय की उत्पादन और वितरण प्रणाली और उसमें लगे लोग भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इन वर्गों की क्रियाशीलता, प्रतिक्रियाओं, मानसिकताओं और चेतना को समझना हमारे नजरिये को बदल सकता है। 1950 और 1960 के दशकों में एशिया और लातिन अमेरिका के देशों में किसानों की बढ़ती राजनैतिक क्रियाशीलता ने किसान–अध्ययनों को बढ़ावा दिया और भारत में भी किसानों की बढ़ती राजनैतिक सक्रियता का अध्ययन करने में अनेक विद्वान आगे आये। इनमें एस.बी. चौधरी, ए.आ. देसाई, रंजीत गुहा माजीद सिद्दिकी कपिल कुमार, डैविड़ हार्डिमैन आदि प्रमुख हैं। हम यहाँ किसानों के बारे में इतिहास–लेखन की ज्यादा गहरी बारिकियों में न जाकर मोटे रूप से इतिहास–लेखन के महत्त्वपूर्ण रूझानों का ही जिक्र करेंगे।

राष्ट्रवादी इतिहास–लेखन ने भारतीय किसानों के विद्रोह को अंग्रजी–राज के शोषण उत्पीड़न का नतीजा ही माना और देशी शोषक–उत्पीड़क जैसे जमींदार, साहूकार–महाजन वर्गो की भूमिका को नजरअन्दाज करदिया। किसानों की भूमिका इसमें राष्ट्रवादी आंदोलन की कतार को लंबा करने तक ही सीमित थी। यह कहा गया कि किसान मतदान और निर्वाचन के अभाव में विद्रोह के जरिये ब्रिटिश–राज के खिलाफ जनमत जाहिर कर रहे थे। इसके विपरीत मार्क्सवादी–लेखन में किसान–विद्रोहों को वर्ग–विभाजित समाज में उच्च वर्गो के शोषण – उत्पीड़न का ही नतीजा माना गया, आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन–सम्बंधों का कहराई से अध्ययन किया और किसानों में विभेदीकरण की प्रक्रिया पर बल दिया। इस प्रकार के अध्ययनों में अक्सर किसानों द्वारा विद्राहों के दौरान अपनाये गये धार्मिक–सांस्कृतिक प्रतीकों का समुचित योगदान ठीक प्रकार से नही आंका गया। रजीत गुहा के अध्ययन, Elementary aspects of Peasant Insurgency in c0olonial India (1983) में इन्हीं अनदेखें पहलुओं पर रोशनी डाली गयी और बाद "सबआल्टर्न स्टीडीज" (Subaltern Studies') के नाम से प्रकाशि श्रृंखला में कुलीन आभिजात्य राजनीति के प्रभाव से अलग, किसानों की स्वयं की क्रियाशीलता और व्यक्तिपरकता (Subjectivity) के अध्ययन पर बल दिया गया। इनके अनुसार राष्ट्रवादी कुलीन और आभिजात्य राजनिति का चरित्र शांतिपरक, संवैधानिक और कम जुझारू था जबकि सबाल्र्टन समूह ने ज्यादा जूझारू तरिके से धर्म और समुदाय के मौलिक और आदि कालिन पहलूओं का सहारा लेकर विद्रोहों का रास्ता अपनाया। इस मत की मुख्य कमजोरी रही कि समाज को केवल दो विरोधी खेमों कुलीन आभिजात्य (elite) और अधीनस्थ वर्ग (subaltern) में बाँट कर देखा गया और अधीनस्थ वर्ग को मनमाने ढँग से परिभाषित किया गया और सबसे अहम बात यह कि औपनिवेशिक राज्य और उसकी संरचनाओं के असर को समुचित तरीके से नहीं आंका गया।

इतिहास लेखन की बारिकियों में न जाकर हम अंग्रेजी राज के दौरान होने वाले प्रमुख–प्रमुख किसान विद्रोहों के स्वरूप और प्रकृति का वर्णन करेंगे। अंग्रेजी राज की स्थापना और विस्तार के साथ साथ भारत में किसान विद्रोहों का एक लम्बा सिलसिला शुरू होता है। हाँलाकि अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों ने अनेक बार इस विद्रोहों को चोरी डकैती 'उपद्रव', 'फितूरी' आदि नामों से ही पुकारा। सरकारी दस्तावेजों तथा इस प्रकार के स्रोतों का अध्ययन करते समय इस बात पर ध्यान दिया जाना जरूरी है कि औपनिवेशिक राज्य का मकसद सामाजिक नियतंत्र स्थापित करना और अधीनस्थ भारतीय वर्गो को शांत रखना था इसलिए उनकी वैध गतिविधियों और क्रियाधीलताको 'अपराध' के रूप में पेश किया गया। अंग्रजी राज के दौरान होने वाले किसान विद्रोहों में पहली किस्म के विद्रोह आदिवासी किसानों के विद्रोह है हाँलाकि इन शुरू के वर्षो के विद्रोहों में अनेक बार तबाही का शिकार भारतीया शिल्प उद्योगों के कारीगर ओर भारतीय शासकों की सेनाओं के विखराव की वजह से रोजगार और व्यवसाय खो चुके सैनिक या अन्य असंतुष्ट सामाजिक समूह भी शामिल हो जाते हैं। सामन्यतया इन विद्रोहों का स्वरूप स्थानीय था क्योंकि अंग्रेजी राज द्वारा समर्थन प्राप्त शक्तिशाली भू समपति वान वर्ग साहूकार या अन्य वर्गो के स्थानीय शोषण उत्पीड़न के खिलाफ ये लोग जूझ रहे थे। इन बदलावों की वजह से भारतीय कृषि समाज में भारती उथल पुथल मच गई और इनसे किसान की तकलीफें भी काफी बढ़ गई। ब्रिटिश शासन की भू–राजस्व माँग में की कई भारी बढ़ौतरी और इस नीति के कारण कि भू–राजस्व, उत्पादन का अधिक से अधिक अंश हो, ग्रामीण अर्थव्यवस्था डाँवाडोल होने लगी जबकि सरकार ने बढ़ाये गये भू–राजस्व का कुछ हिस्सा भी कृषि की दशा को सुधारने के लिए नहीं लगाया। देश के कुछ क्षेत्रों में इस तरह की नीतियों के कारण किसान और आदिवासी

ही प्रभावित नहीं हुए बल्कि भू–राजस्व का कुछ हिस्सा भी कृषि की दशा को सुधारने के लिए नहीं लगाया। देश के कुछ क्षेत्रों में इस तरह की नीतियों के कारण किसान और आदिवासी ही प्रभावित नहीं हुए बल्कि भू–सम्पतिवान जमीदार का हस्तांतरण हो रहा था और किसान कर्जदार होते जा रहे थे। अंग्रेजी कानून व्यवथा और अदालतों ने परम्परागत रीतियों को नजरअन्दाज करके नये जमींदार और साहूकारों की स्थिति मजबूत करने में मदद की।

कुछ विद्वान मानते है कि वास्तव में प्रारंभिक ब्रिटिश राज्य की नींव भारत में पहले से मौजूद पूर्व औपनिवेशिक संस्थाओं और पहचान की बुदियाद पर ही रखी गई थी। दूसरे तरफ दूसरे विद्वान इसके ठीक उल्टा यह भी मानते हैं कि अंग्रेजी राज ने भारतीय समाज में मौलिक और गुणात्मक परिवर्तन लाने की कोशिश की। शायद दोनों ही पक्ष कुछ हद तक ठीक हैं क्यों कि जहाँ औपनिवेशि राज्य मौजूदा भू सम्पतिवान वर्गो की स्थिति को मजबूत करने में लगा हुआ था वहीं दूसरे सामाजिक दायरों में काफी उल्ट फेर भी कर रहा था। खास तौर पर आदिवासी किसानों, पशु पालन तथा खाद्य सामग्री को जंगलों से एकत्र करने वाले समुदायों ने इस परिवर्तन की गति को महसूस किया और उनकी प्रतिक्रिया हमें आदिवासी लोंगों के प्रतिरोध और विद्रोह के रूप में देखने को मिलती है। प्रारंभ में कम्पनी शासन ने अपने विजय के अभियान में और शांति कायम करने के प्रयास में स्थायी कृषि के हासिये पर रह रहे देशी समुदायों का इस्तेमाल करने की कोशिश की। पूर्व औपनिवेशक राज्य व्यवस्थयें जैसे मराठा शासक इन विधियों का प्रयोग करते आये थे। एक नजराना–राशि देने के बाद भील राजाओं की वैधता मान लेना, 1823 में भील आदिवासियों की अलग भील कोर्पस् के नाम से सेना का गठन या मेवातियों की स्पेशल पुलिस का गठन – इसी नजरिये के तहत उठाये गये कदम थे। औपनिवेशि राज्य ग्रामीण समाज के बंदोबस्त में वनों और बजर भूमियों की भूमिका को पहचानाता था। लेकिन जैसे–2 राज्य की व्यापारिक ओर वित्तिय जरूरतें बढ़ी – वैसे–वैसे व्यापारिक दबाओं या सैन्य–सुरक्षा की दृष्टि से अंधाधुंध बनों का विनाश शुरू हो जाता हैं। ब्रिटिश राज कृषि का विस्तार करके अपने राजस्व–साधनों का भी विस्तार करने की कोशिश कर रहा था। 19वीं सदी में इसीलिए औपनिवेशि राजय स्थायी कृषि के हिमायती के रूप में उभरता नजर आता है। इनहीं कारणों से ब्रिटिश–प्रशासन की कोशिश थी कि आदिवासी ओर पशु–पालक समुदायों को उनकी परम्परागत घूमंतू जीवन–शैली से अलग करके बलपूर्वक उन्हे हटा दे। इस प्रक्रिया में देशी साहूकार महाजन और ठेकेदारों की भी अहम भूमिका थी। लेकिन ये समुदाय इतनी आसानी से अपनी हार नहीं मानते हैं और उपनिवेशवाद द्वारा सदियों से चली आ रही जीवन–शैली और परमपराओं पर किए जा रहे हमलों का प्रतिरोध विद्रोहां के रूप में जाहिर करते हैं।

1763–1800 के मध्य हुए सन्यासी विद्रोह वास्तव में विस्थापित किसानों और देशी सेनोओं के विघटन से व्यवसाय खो चुके सिपाहियों के विद्रोहों की ही कड़ी थी जिसका नूतृत्व सन्यासी कर रहे थे। बंकिम चन्द्र चटर्जी ने अपनी कृति आनन्द मठ में इस विद्रोह को मशहूर बना दिया। 1818–31 के मध्य भील किसानों के कई प्रबल विद्रोह किये। 1826–30 के बीच पश्चिमी भारत में कोलियों ने खेड़ा और बावन महल के नाम से जाने वाले इलाके में रमा भंगड़े नाम के आदिवासी सरदार के नेतृत्व में विद्रोह किया। कोली आदिवासी पूना के पश्चिम से दशिण में भोरघाट और उत्तर मं नासिक तक के बावन महल इलाकों में काफी तादाद में रहते थे। मराठा सरदारों ने भी इनकी सेवाओं का लाभ उठाया था और ब्रिटिश प्रशासन ने इनके आदिवासी सरदारों के अधिकारों को कम कर दिया था। अपनी प्रतिष्ठा पाने के लिए इन्होंने विद्रोह का रास्ता चुना। 1844–49 के बीच पुनः इन्हीं इलाकों में कोली आदिवासियों ने रमा भंगोड़े के पुत्र रघु भंगाड़े के नुतृत्व में विद्रोह किया। वास्तव में उपनिवेशवाद के कारण आदिवासी क्षेत्रों में भू–राजस्व के आकलन की नई विधियाँ लागू की गई जिससे आदिवासी अंचलों में बाहरी शोषक–उत्पीड़कों को दखल अन्दाजी करने में मदद मिली। बड़े पैमाने पर साहूकार, व्यापारा, भू–राजस्व कृषक और ठेकेदार आदिवासी बहुत क्षेत्रों में प्रवेश पाने लगते हैं। इनमें से बहुत से आदिवासी काश्तकार, बटाईदार खोकर इनके कर्जदार बनने शुरू हो जाते हैं। इन्में से बहुत से आदिवासी काश्तकार, बटाईदार या खेतीहर मजदूरों के रूप में काम करने लगते हैं। उपनिवेशवाद ने आदिवासियों की मौजूदा खाद्य–उत्पादन व्यस्था का छिन्न–भिन्न कर दिया और जीवन–निर्वाह पर आधारित अर्थव्यवस्था की व्यापारिक उत्पादन की तरफ मोड़ दिया, इससे उनकी सुदृढ़ स्थानीय सामुदायिक व्यस्था बिगड़ गई, उनकी सामाजिक–सांस्कृतिक संस्थायें विघटित हुई और जंगलों से संसाधन हासिल करने के परम्परागत नियंतत्र खत्म हो गये और उनके स्थान पर मंडियाँ–वन–संसाधनों को हासिल करने के लिए केन्द्र–बिन्दु बन गयी। 19वीं सदी में बड़े व्यापक पैमाने पर औपनिवेशिक राज्य की सेना, इमारती लकड़ी और रेलवे के निर्माण कार्य के लिए वन–संसाधनों की जरूरतें बढ़ती जाती है। ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों ने नष्ट होते जा रहे बनों की सम्पदा पर चिंता जताई लेकिन व्यापारी और नीजि पूंजी के व्यापारिक लोभ की बजाय इसे आदिवासी किसानों को जंगल में जगह बदल–बदल फसलें बोने को इसके लिए ज्यादा उत्तरदायी मान लिया। परिणामस्वरूप कई आदिवासी–बाहुलय क्षेत्रों में झूम, कुमड़ी, पोडू आदि नामों से प्रचलित जंगल जलाकर, काटकर अलग–अलग जगह बदल कर खेती करने की विधि को प्रतिबंधित करदिया गया या आदिवासियों को बलपूर्वक इन कृषि–परम्पराओं से अलग करने की कोशिशें की जाती हैं। 1865 में सम्पूर्ण भारत में वन–विभाग की स्थापना की गई और 1865 और 1875 के वन–कानूनों (Forest Acts) के माध्यम से आदिवासी समुदायों के बन–सम्पदा में परम्परागत अधिकारों को खत्म कर दिया गया। ज्यादातर वन धीरे–धीरे करके सरकारी नियंतण में लाये गये और वन–विभाग के छोटे–छोटे अधिकारी भी आदिवासियों से बेगार कराने लगे।

वन–सम्पदा के नियंतत्र की इन विधियों का आदिवासी किसानों और घूमंतू पशु–पालन करने वाले समुदायों की आजीविका पर बहुत ही बुरा असर पड़ा यह पृष्ट भूमि थी जिसमें आदिवासी किसानों के विद्रोह उभरते हैं।

हाँलाकि शुरू से ही अंग्रेजी राज और आदिवासी किसानों का संघर्ष असमान था क्योंकि औपनिवेशि राज्य के पास आधुनिक साधनों से लैस पुलिस और सेना थी जबकि आदिवासी केवल अपने परम्परागत हथियारों और संगठन के आधार पर लड़ रहे थे। लेकिन सर्वव्यापी शोषण–उत्पीड़न से निजात पाने के लिए संघर्ष का रास्त ही एकमात्र विकल्प रह गया था। आदिवासी किसानों के संघर्ष के स्वरूप और चरित्र को समझने के लिए हम यहाँ 19वीं सदी के दो जूझारू विद्रोंहों का जिक्र करेंगे। एक 1854–56 के बीच संथाल हूल या विद्रोह था जिसमें संथाल आदिवासियों ने, जो भागलपुर और राजमहल के जिलों में रहते थे, भारी तादाद में हिस्सा लिया। इस विद्रोह में उनके द्वारा उन्होंने बाहरी विजातीय तत्त्व जिन्हें वे घृण से 'दिक्कू' के नाम से पुकारते थे, को आदिवासी अंचलों से खदेड़ने की कोशिश की। 'दिक्कू' से संथाल आदिवासियों का मतलब उनका शोषण करने वाले जमींदार, साहूकार, ठेकेदारों और सरकारी साहिब अफसरों से ही था। विद्रोह के दौरान इस प्रकार के शोषण–उत्पीउन के प्रतीकों और उनकी सम्पत्तियों पर आक्रमण किय गये। बाहर से आये कारीगरों जैसे तेजी, ग्वाले, लौहार, बढ़ई, कुम्हार, जुलाहों आदि पर कहीं भी हमले नहीं किये गये क्योंकि आदिवासी इनके आर्थिक योगदान को समझते थे। 1854 से ही विद्रोह के लक्षण नजर आने शुरू हो गयेक थे। जगह–जगह जमींदार और साहूकारों को आदिवासियों द्वारा लूटने की घटनाएँ, उनके घरों और सम्पत्तियों को जलाने जैसी घटनाएँ होनी शुरू हो गयी थी। कई जगहों पर आदिवासी माझी या सरदार आपस मं मिल–जुल कर विद्रोह की सम्भावनाएँ तलाशने लगे थे। 30 जून, 1855 में भागनिधि नामक जगह पर 6,000 से अधिक आदिवासी सरदार एकत्र हुए और उन्होंने विद्रोह की घोषणा कर दी। 'सतयुग' की स्थापना के करने के लिए उन्होंने दिक्कुओं और गोरे साहब लोगों को आदिवासी इलाकों से खदेड़ने शुरू किया। विद्रोहियों को विश्वास था कि भगवान या 'ठाकुर' उनके साथ है। कान्हू और सिद्धा नामक आदिवासियों ने विद्रोह का नेतृत्व किया और धार्मिक प्रतीकों और विचारधारा का सहारा संगठन–शक्ति मजबूत करने के लिए किया। कान्हू और सिद्धों ने इन्हे विश्वास जताया कि ठाकुर ने उन्हे दर्शन देकर दिक्कु और साहिबों को मार भगाने के लिए कहा है और ठाकुर इस लड़ाई में आदिवासियों के साथ है। विद्रोह के दौरान महाजन, साहूकार, जमींदारों के साथ–साथ औपनिवेशिक शासन के अन्य प्रतीको जैसे पुलिस चौकियों रेलवे निर्माण स्थलों डाक खाने तथा डाकियों पर भी हमले किये गये। विद्रोह को ठीक प्रकार से संचालित करने के लिए संगठन के परम्परागत आदिवासी तरीकों का सहारा लिया गया। बड़े–बड़े आदिवासी नगाड़े और ढोल आदिवासियों में सूचना के प्रसार के लिए और उन्हे एक जगह एकत्र करने के लिए इस्तेमाल किये गये। या संचार का काम बाँस में पत्तियाँ बाँध कर दूसरे कबीले तक सूचना भेजने के लिए किया गया। जरूरत पड़ने पर 50,000–60,000 आदिवासी हमले के लिए इकट्ठे हो सकते थे लेकिन सामान्य हालात मं 1000–1500 की टोलियों में ही आदिवासी सक्रिय थे। विद्रोह मं निश्यच ही सहस्रब्दवादी (millenarianism) के तत्त्व मौजूद थे क्योंकि धार्मिक विचारधारा का सहारा लेते हुए सतयुग की कल्पना करते हुए, विद्रोह ऐसे मसीहाओं ने संगठित किया जिन्होंने कहस कि दैव्यशक्ति उन्हीं के साथ है।

सन् 1899–1900 में बिरसा मुण्डा के नूतृत्व मं मुण्डा आदिवासियों का विद्रोह या उलगुलान भी इसी तरह का दूसरा प्रमुख आदिवासी बवद्रोह था। उपनिवेशवाद से पहले आदिवासी क्षेत्रों में सामूहिक भू–सम्पति की व्यवस्था थी जो धीरे–धीरे जागीरदार, ठेकेदार और साहूकार–व्यापारियों की लगातार घुसपैठ से विघटित होती जा री थी। बिरसा ने स्वयं को देवदूत और मसीहा घोषित करते हुए अपनी 'रोगी–हरण' शक्तियों के सहारे हजारों आदिवासियों पर गहरा असर छोड़ा। आदिवासी सरदारों के प्रभाव में विद्रोह का स्वरूप कृषि–समस्याओं और राजनैतिक चरित्र से लैस हो गया। गांव–गांव घूमते हुए बिरसा मुण्डा ने आदिवासियों को धार्मिक और राजनैतिक आधार पर संगठित करने का बीड़ा उठाया। 1899 में क्रिसमस की पूर्व–संध्या पर उन्होंने मुण्डा–राज की स्थापना की घोषड़ा कर दी और उन्होंने 'सतयुग' की स्थापना के लिएस "ठेकेदार जागीरदार, हाकिम, राजाऔर ईसाइयों' पर आक्रमण करने के लिए आदिवासियों को प्रोत्साहित किया। उन्होंने अपने अनुयायिओं को विश्वास दिया कि उनकी दिप्य शक्तियों के कारण अंग्रेजी सैनिकों की बंदूकों की गोलियां काम नहीं करेंगी। भारतीय आधुनिक इतिहास इस तरह के अनेक विद्रोहों के उदाहराणों से भरा पड़ा है। कुछ अन्य प्रमुख आदिवासी विद्रोहों में 1820–37 के बीच छोटा नागपुर क्षेत्र में कोल विद्रोह, 1879–1880 तटीय आन्ध्र प्रदेश में रामपा आदिवासियों का विद्रोह और 1879 में बलवंत फड़के के नेतृत्व में रामोशी तथा अन्य आदिवासी किसानों के विद्रोह आदि अन्य प्रमुख उदाहरण हैं। हाँलाकि आदिवासियों के पास उपनिवेशवाद के चरित्र की आधुनिक पहचान नही थी और वे अंग्रेज राज को उखाड़ फैंक कर परम्परागत सामाजिक ढांचे और पूर्व–मौजूद परिस्थितियों को ही लौटाना चाहते थे लेकिन उन्होंने निसंदेह उपनिवेशवाद से लड़ते हुए प्रतिरोध की सबसे सशक्त और जुझारू परम्पराओं को आगे बढ़ाया। बाद के 19वीं सदी के कई किसान विद्रोह, खासकर स्थायी खेती करने वाले किसानों के विद्रोहों में हम पाते हैं कि किसान अपने सीमित और विशिष्ट हितों के अनुरूप या तो औपनिवेशि कानूनों के मौजूदा ढाँचे में तो सुधार चाहते थे या सरकार से अपेक्षा कर कर रहे थे कि वह उनके कानूनी अधिकारों की रक्षा के लिए नए कानूनें का निर्माण करें।

सकता था। जमींदार इन सब के बावजूद काश्तकारों की जबरदस्ती बेदखल करने, मनमाने ढंग से उनका लगान बढ़ाने, उनकी सम्पत्ति और फसलों पर कब्जा कर लेने जैसी हरकतें कर रहे थे या बड़े पैमाने पर कानूनी अड़चनों का सहारा ले रहे थे। हाँलाकि Occupancy tenants की संख्या बहुत कम थी क्योंकि जमीदार काश्तकारां को लगातार 12 साल एक ही खेत पर खेती करने की सुबवध देते ही नहीं थे। 1870–71 में ढाका और अन्य जिलों में काश्तकारों ने संगठित प्रतिरोध करना शुरू कर दिया। उन्होंने जगह–जगह एग्रेरियन लोगों (Agrarian Leagues) का गठन शुरू किया। पबना की लीग बहजुत ही ताकतवर बन कर उभरी। 1869 में सरकारन ने लगान सम्बंधी काश्तकार–जमींदारों के मुकदमें स्थानीय अदालतों से उपर की साधारण सिविल अदालतों में हस्तांरित कर दिए थे जहाँ जमींदा फैसलों पर कम दबाव डाल सकते थे। इससे जमींदारों को लगान में मनमाने ढंग से बढ़ोतत्तरी करने में और ज्यादा मुश्किलें पेश आने लगी। दूसरी तरफ किसानों ने सभायें करके, प्रदर्शन करके लगाान न देने की मुहिम भी शुरू कद दी। फरयादी मुसलमान जिनमें बड़े पैमाने पर Occupancy काश्तकार बन गए थे, उनका इस विद्रोह में अहम हाथ था। यह विद्रोह पबना और बोगडा से फैल कर ढाका, टिप्पेरा, रीदपुर, बकरगंज, राजशाही और भिदनापुर में भी तेजी में फैली गया। काश्तकारों की एक ही माँग थी कि जमीदार 'उचित लगान' ही वसूल करें नहीं तो उनकों कोई लगान न दिया जाये। किसानों ने जमींदारों द्वारा वसूल किए जा रहे अन्य गैर–कानूनी करों या अबवाबों की समाप्त किए जाने की मांग उठाई। विद्रोह के दौरान जगह–जगह जमींदारों की सम्पतियों पर हमले हुए और पुलिस द्वारा उनके संरक्षण की कोशिश करने पर काश्तकारों ने पुलिस–चौकियों पर भी आक्रमण किये। लेकिन विद्रोह में कहीं भी ब्रिटिश–विरोधी भावना नहीं थी। बल्कि इस विद्रोह का नेतृत्व धनी समृद्ध काश्तकारों ने ही किया पर विद्रोह के दौरान हिन्दु मुसलमान काश्तकार एक साथ मिलकर जमीदारों के विरूद्ध लड़ रे थे। विद्रोह का परिणाम सरकार द्वारा काश्तकार कानून में संसोधन करके 1885 में नया कानून बनाने के रूप में निकला जिनमें Occupancy काश्तकारों के अधिकारों के अधिकारों को और अधिक सुदृढ़ किया।

दक्कन का साहूकार-विरोधी विद्रोह (1875)

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भूमि में नीजि स्वामित्व प्रारंभ किया। इससे ग्रामीण अंचलों में साहूकार–महाजनों की स्थिति ही सुदृढ़ हुई। दक्कन का किसान विद्रो इसी तरह के तत्वों के खिलाफ था। पूना जिले की एक साप्ताहिक मंडी सुपे से 12 मई, 1875, में इस विद्रोह की शुरूआत हुई और किसानों ने मारवाडी और गुजराती साहूकारों को अपना निशाना बनाया। यह विद्रोह मुख्यतया पूना और अहमदनगर जिलों में फैला और जगह–जगह साहूकारों पर हमले किये गये। मुख्यतया साहूकारों के बही–खातों को जलाया गया क्योंकि इनहीं में किसानों के कर्ज के सबूत मौजूद थे। किसानों और कारीगरों के द्वारा साहूकारों का सामाजिक बहजेष्कार भी किया गया। विद्रोह ज्यादा दिनों तक नहीं चला और कारीगरों के द्वारा साहूकारों का सामाजिक बहष्किार भी किया गया। विद्रोह ज्यादा दिनों तक नहीं चला ओर सेना के भेजे जाने से 3–4 सप्ताह में ही इसका अंत हो गया। विद्रोह में ब्रिटिश–विरोधी रूझान भी देखने को नहीं मिलता बल्कि किसानों को विश्वास था कि अंग्रेज अधिकारी मारवाडी–साहूकारों के खिलाफ उनके संघर्ष मे साथ दे रहे थे या देंगे। ऐसा लगता है कि विद्रोह में स्थानीय भू–सम्पतिवान और मराठा–प्रशासन के समय से ग्रामीण–प्रशासन7 से जुड़े मराठा पाटिल और ब्राह्मण–कुलकर्णी, देखपांडे आदि ने किसानों का समर्थन किया क्योंकि इनमें से कुछ स्वयं महाजनों के रूप में काम करके किसानों को साख करके किसानों को साख और कर्ज की सुविधा प्रदान कर रहे थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के इन ऊपर वर्णित विद्रोहों की एक खसियत यह दिखाई देती है कि ये किसानों के सीमित और विशष्ट लक्ष्यों के लिए लड़े गये संघर्ष थे जो उनके तत्कालिक शोषक–उतपीड़क वर्ग के गैर–कानूनी तौर–तरीकों के खिलाफ थे। इनमें औपनिवेशिक ढांचे या सरकार के खिलाफ कोई भावना नहीं दिखाई पड़ती बल्कि उसके कानूनी–ढांचे और अंग्रेज–प्रशासन के पितृात्क सवैये में किसानों का विश्वास ज्यादा दिखाई पड़ता है। किसान उसी ढांचे के अन्तर्गत या तो नये कानून बनवाय चाहते थे या पुराने कानूनों का संसोधन करके शोषक वर्ग के 'गैर–कानूनी शोषक' विरोध करना चाहते थे।

बीसवीं सदी के किसान-विद्रोह या अभियान

20वीं सदीं के किसन–अभियानों और विद्रोहों की एक विशेषता यह दिखाई देती है कि ये ज्यादातर राष्ट्रवादी, समाजवादी या कम्यूनिष्ट विचारधारा से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणापाते हैं हाँलांकि इसमें भी किसानों की अपनी 'स्वायतता' और क्रियाशीलता को पूरी तरह से नजरअनदाज नहीं किया जा सकता। यहाँ हम इन प्रमुख अभियानों में उत्तर प्रदेश और अवध के काश्तकारों का 1918–21 के बीच संघर्ष प्रमुख था। 1918 में अवध में जगह–जगह किसान–सभाओं का गठन हुआ और इन्होंने ताल्लकुदारी काश्ताकारों की मौलिक समस्याओं जेसे बहुत जयादा लगान की मात्रा, किसानों की जबरन बेदखली तथा गैरकानूनी अबबाब और नजरोने वसूल करने की प्रथा, बेगार आदि के खिलाफ आवाज उइानी शुरू की। गौरीशंकर मिश्रा ओर इन्द्रनाराण द्विवेदी इस अभियान के प्रमुख स्थानीय नेता था। जून, 1919 तक अवध में किसान–सभा की 450 शाखाएँ स्थापित हो चुकी थी। अवध के इन काश्तकारों के खुले संघर्ष की शुरूआत 1919 प्रतापगढ़ के एक ताल्लुकदार के सामाजिक बहिष्कार से हुई। बाबा रामचन्द्र ने तुलसीदास की रामायण की चौपाइयों के माध्यम से काश्तकारों को अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरित

नील विद्रोह (Indigo Revolt : 1859-61)

सन् 1859–61 के बीच बंगाल प्रांत में नील की खेती करने वाले किसानों ने विद्रोह किया। इस क्षेत्र में यूरोप के व्यापारी और बागों के मालिक काश्तकार–किसानों को जबरदस्ती नील की खेती करने पर मजबूर कर रहे थे। नील की खी असली बागों पर नहीं होती थी। यूरोपीय व्यापारियों ने बंगाल में नी के परिष्कृत करने के लिए जगह–जगह मालगोदाम और फैक्टरियाँ स्थापित कर रखी थी। इनके लिए काश्तकार किसानों से नील खरीदा जात था। यूरोपीय बाग–मालिकों ने किसानों को अग्रिम राशि देकर उनके साथ कृषि–उत्पाद प्राप्त करने के समझौते किये हुए थे। सामन्यतया इस तरह के समझौतों में किसानों से उनकी फसल बाजार मूल्य से कम दाम पर ही खरीद ली जाती थी। यूरोपीय व्यवसायी और बड़ी–बड़ी कम्पनियों के मैनेजर इस प्रकार नील खरीद कर यूरोप में उसका निर्यात करके मुनाफे कमा रहे थे। किसानों को इस नकदी फसल का उत्पादन करने से जमींदारों को लगाान के रूप दी जाने वाले पैसे की रकम अग्रिम रूप में ही मिल जाती थी। जमींदारों को भी इससे फायदा था कि उन्हें काश्तकारों से समय पर लगान मिल जाता था और यूरोपीय व्यवसायी उनकी जमींदारियों की देख–रेख की जिम्मेदारी संभाल रहे थे। इस प्रकार की खेती में बल और दबाव का भी इस्तेमाल बड़े पैमाने पर किया जा रहा था। हाँलाकि जातियता और नस्ल के भेदभाव के कारण कई बार यूरोपीय व्यवसायी और हिन्दुस्तानी पमींदारों का आपसी रिश्ता अस्पष्ट और संदिग्ध सा ही था। 1859 में जॉन ग्रांट बंगाल के लैफटिनैन्ट गर्वनर बने और वे उदारवादी विचारों के हिमायती थे। उन्होंने इस खेती में कानून के अनुसार चलने का फैसला लिया। अदालतों में सामन्यतया यूरोपीय व्यवसायिों का ही समर्थन किया जा रहा था। जॉन ग्रांट के अनुसार, सारी समस्या की जड़ किसानों से नील की तबरन खेती करवा कर उनके उत्पाद का पूरा मूल्य नहीं दिया जाना था। किसानों के साथ किए गए बहुत से समझौते धोखधड़ी पर आधारित थे।

17 अगसत, 1859 को कालरोवा के डिप्टी मजिस्ट्रेट ने घोषड़ा कि सरकार का फैसला है कि विवा होने पर जमीने रैयत के पास ही रहेगी और वे अपनी इच्छा से फसल बोने का निर्णय ले सकते है– यह खबर तेजी से फैली ओर जगह–जगह किसानों ने ज्ञापन देकर, प्रदर्शन करके जाहिर किया कि वे अपने अधिकार का इस्मिाल यूरोपीय व्यवसायी या उनके लैठतों दवाब को न मानकर आपैर नील की खेती ने करके करेंगे। जॉन ग्रांट की सहानुभूति निश्चित तौर पर किसानों के साथ थी और नादिया जिले से शुरू हुआ विद्रोह अन्य इलाकों में भी तेजी से फैला। नादिया में गोव्रिदपुर के पहले यूरोपीय व्यवसायियों के कर्मचारील रह – दिगमंबर वितवास और विष्णु विसवास ने किसानों का नेतृत्व किया। किसानों ने यूरोपीय फैक्टरी और मागोदामों पर प्रदर्शन किये और कहीं–कहीं यूरोपीये वयवसायियों और उनके दलालों की पिटाई भी की। अदालतें यूरोपीय व्यवसासियों का पक्ष ले रही थी और सरकान ने मार्च 1860 में व्यवसायी और किसानों के करारनामों को वैध घोषित कर दिया। यूरोपीय व्यवसायियों ने जमींदारी हकों का प्रकयो करके किसानों की बड़े पैमाने पर बेदखली शुरू कर दी और उनके लगान बढ़ा दिये। किसानों ने इसका विरोध किया और लगाान न देने का अभियान चलाया। इस विद्रोह के दौरान हिन्दू और मुसलमान काश्तकारों ने साथ–साथ कंधे–से–कंधे मिलाकर अपने अधिकरों के लिउ संधर्ष किया। खास कर हाजी शरीतुल्ला ओर दुधू मियां के फरयादी सम्प्रदाय के साथ जुड़े मुसलमान किसान बड़े पैमाने पर विद्रोह में शरीक हुए। इस विद्रोह में 1859 के बंगाल के काश्ताकारी कानून (Bengal Tenancy Act) के तहत अपनी जमीनपर बने रहने के अधिकार (Occupancy right) प्राप्त काश्तकारों ने अहम भूमिका निभाई। किसानों ने पुलिस हस्तक्षेप का भी विरोध किया ओर पुलिास चोयिों पर हमले किये ओर अपने आत्म–सुरक्ष दस्ते गठित किये। यूरोपीय व्यवसायिओं का सामाजिक बहिष्कार किया गया और कानूनी लड़ाई लड़ने के लिए भी धन–राशि इकट्ठी की। भारतीय पितृात्मक भावना और पश्चिमी मानवतावाद से प्रीाावित होकर कलकता के बौद्धिक वर्ग ने भी रैयत का समर्थन किया। हरीशचन्द्र मुकर्जी ने 'हिन्दु पैटरियट' अखबार में इनकी हालात पर लेख लिखे ओर दीनबन्धु मित्रा ने 'नील–दर्पण' नामक मशहूर नाटक नील की खेती करने वाले किसानों कील दुर्दशा दिखाने के लिए लिखा। कलकत्ता की ईसाई मिशनरियों का समर्थन भी विद्रोह को प्राप्त हुआ। ब्रिटिश सरकार ने नी कमीशन के नाम से एक आयोग का गठन किया और उसकी रिपोर्ट के आध ार पर नवम्बर, 1860 में एक विज्ञप्ति जारी करके नील की खेती में यूरोपीय व्यवसायिओं द्वारा इस्तेमाल की जा री जबरदस्ती को खत्म कर दिया। इस विद्रोह के कारण बंगाल के किसानों से बलपूर्वक नील की खेती करवाने की प्रथा का अंत हो गया लेकिन बिहार में यह प्रथा बाद में भी चलती रही। 1874 में नील की खेती करने वाले किसानों के चम्पारण में उपद्रव हुए और बाद में 1917 में महात्मा गाँधी ने इसी मुद्दे पर मशहूर चम्पारन सत्याग्रह चलाया।

पबना विद्रोह (1870-73)

र्वी बंगाल में उभरे पबना विद्रोह का मुश्य कारण जमींदारों द्वारा मनमाने ढंग से लगाान बढ़ाना, काश्तकारों को जमीन से बेदखल र दिया जाना था। 1859 में ब्रिटिश सरकार ने लगातार 12 साल से एक ही जमींदार के खेत पर खेती करने वाले कास्तकारों यह अधिकार दिया कि साल से एक ही जमींदार के खेत पर खेती करने वाले कास्तकारों को यह अधिकार दिया कि वे ी भी अपने खेतों पर बने रह सकते थे। इसे Occupancy right के नाम से जाना गया। 1859 के लगान कानून में सरकार काश्तकारों को यह अधिकार दिया कि जमींदार बकाया की राशि के लिए उसकी सम्पत्ति और फसलों को जब्त नही कर

किया। किसान सभा ने काश्तकारों की शिकायतों को दर्ज करने का काम शुरू किया खासकर नजराने ओर बेदखली सम्बंधी शिकायतें एक लाख काश्तकारों ने दर्ज की। प्रशासन ने इसका जबाव बाबा रामचन्द्र को गिरफ्तार करके और अन्य कार्यकर्ताओं पर चोरी–डकैती के झूठे मुकदमें दर्ज करके दिया। 7 सितम्बर 1920 को बाबा रामचन्द्र की रिहाई के लिए स्वयं महात्मा गाँधी के आने की अफवाह से 60,000 से भी अधिक काश्तकार जेल के पास इकट्ठे हो गये और बाबा रामचन्द्र को रिहा कर देना पड़ा। असहयोग आंदोलन के प्रभाव में किसानों ने बेदखली जमीनों को जोतने से इन्कार कर दिया और ताल्लुकदारों के लिए ब्रकार करना बंद कर दिया। उन सब काश्तकारों का सामाजिक बहिष्कार करना शुरू किया जो इन बातों की अवमानना कर रहे थे। 20–21 दिसम्बर, 1920 की अयोध्या में एक लाख काश्तकारों ने प्रदर्शन किया। जनवरी, 1921 में राय बरेली, फैजाबाद और सुल्तानपुर में किसानों ने जगह–जगह मंडियों और क्षरों को लूटा और पुलिस के साथ झड़पें की। 1921 के अंत में सीतापुर और हरदोई जिलों में काश्तकारों का 'एक्का' के नाम से एक नया संघर्ष शुरू होता है। इसमें किसान गांव के बाहर एक गढ़ा खोद कर उसमें गंगा जल भर शपथ लैते है कि वे निर्धारित लगाान से अधिक लगाान नहीं देंगे और ताल्लुकदारों द्वारा बेदखल काश्तारों की जमीनें नहीं जोतेंगे और ना ही उनके लिए कोई बेगार का काम करेंगे। यह अभियान मार्च, 1922 तक चला। इसी तरह दक्षिण के मालाबार में मुसलमान काश्तकारों के ब्राह्मण जमींदार या जेनमीयों के खिलाफ विद्रोह किया। ईरनाड़, वाल्लुरनाड़ और पौन्नाई ताल्लकों में ब्राह्मणों जमींदारों पर हमले हुए, और सरकारी कचहरी, पुलिास चौकी और अंग्रज अफसर विद्रोहियों के निशाने बने। गरीब हिन्दुओं पर मौपिल्ला काश्ताकारों ने आक्रमण नहीं किये। जमींदारों ने आंदोलन को साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश की लेकिन असल में यह एक कृषक विद्रोह ही था। दिसम्बर, 1921 के अंत तक विद्रोह का दमन कर दिया गया।

बारदोली सत्याग्रह (928)

जनवरी, 1926 में अंग्रेज सरकार ने सूरत जिले में भू–राजस्व बंदोबस्त का संसोधन किया और भू–राजस्व में लगभग 30% की वृद्धि कर दी गई। राष्ट्रवादी अखबार 'नवजीवन' और 'यंग इडिया' ने इसका विराध खुलकर किया और अंग्रेज सरकार ने विरोध को देखते हुए भू–राजस्व की वृद्धि जुलाई, 1927 में 21.97% तकसीमित करने का ऐलान किया। लेकिन वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में किसानों ने बारदोली सत्याग्रह कर भू–राजस्व की बढ़ौतरी का विरोध किया। गुजरात के स्थानीय गाँधीवादी नेता जैसे कल्याण जी मेहता और कुंवरजी मेहता तथा दयालजी देशाई ने सत्याग्रह को संगठित किया। सत्याग्रह के कार्यतकर्ताओं के लिए 13 छावनियाँ बनाई गई और ओंदोलन की रोजाना की गतिविधियों को 'सत्याग्रह पत्रिका' के माध्यम से प्रसारित किया गया। प्रभावशाली पटेल समुदाय ने जाति ओर पंचायत की संस्थाओं का इस्तेमाल उन लोगों के सामाजिक बहिष्कार करने के लिए किया जो बढ़ी हुई भू–राजस्व की राशि जमा करवाना चाहते थे। सरकार को विवश होकर ब्रूमफील्ड की अध्यक्षता में एक जाँच कमेटी का गठन करना पड़ा और कमेटी के सुझाव पर भू–राजस्व की वृद्धि को मौजूदा दर से केवल 6% के लगभग ही बढ़ाया गया।

अखिल भारतीय किसान-सभा का गठन (1936) और बाद के किसान संघर्ष : सन् 1936 में कांग्रेस के वामपक्षी नेताओं, कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी और कई कम्युनिस्ट नेताओं ने मिलकर अखिल भारतीय किसान सभा का गठन किया। इन नेताओं में स्वमी सहनानन्द सरस्वती, एन.जी. रंगा, इन्दुलाला यागनिक और बंकिम मुकर्जी आदि प्रमुख थे। 1938–39 के लोकप्रिय कांग्रेस सरकारों ने प्रांतो में कृषि–सुधार ओर काश्तकार सुरक्षा सम्बंधी कई कानून बनाए और इससे किसान संगठन को भी बल मिला। जगह–2 कृषक संगम बनाये गये और केरल और आंध्र प्रदेश में रैयत एसोशियेशन स्थापित किये गये। इन संगठनों ने लगाान कम करने, बेगार–बेथी जैसे प्राीओं को समाप्त करने और गैर–कानूनी सामंती करो को खत्म करवाने के लिए संघर्ष किया। इसके अलावा 1934–40 में पंजाब में किसानों ने सिंचाई की दरें कम करवाने ओर बिहार में काश्तकारों से जमींदारों द्वारा बेदखल की गई (Bakshat) जमीनों को काश्तकारों को दुबारा से जमींदारों द्वारा लौटाने के लिए किसान सभा ने लड़ाई लड़ी। इन्दु लाल याज्ञनिक के नेतृत्व में गुजरात के दक्षिणी ओर आदिवासी–बाहुलय क्षेत्रों में किसानों ने लगाान–विरोधी अभियान चलाए और बंधुआ मजदूरी जैसी हाली प्रथा को खत्म करने के लिए संघर्ष किया। बंगाल की किसान–सभा और अभानी लाहिड़ी, भोवानी सेन, सुनील सेन और बिभूति गुहा जेसे कम्यूनिस्ट नेताओं के नेतृत्व में 1945–47 के मध्य बटाईदार किसान या बदगादारों ने विद्रोह किया और उन्होंने जमींदार जोतदारों को लगान के रूप में एक–तिहाई फसल से ज्यादा देना बंद कर दिया। इसी से इस विद्रोह का नाम ते–भागा पड़ गया। इसमें दिनाजपुर, रंगपुर, जलपाई गुड़ी और मेदिनापुर के बटाईदार किसान बड़े पैमाने पर शरीक हुए। कम्यूनिस्ट नेताओं राजेश्वर राव, पी. सुन्दरैया, रविनायाण रैड्डी आदि के नेतृत्व में 1945–50 तक तेलांगना क्षेत्र में आंध्र प्रदेश में किसानों का सशस्त्र विद्रोह उभरा जिसमें जमींदार और बड़े जागीरदारों की भूमियाँ का वितरण किसान–कास्तकारी में करने, जमींदारी–व्यवस्था की समाप्ति और वेथी–बेगार जैसी सामंती परम्पराओं को खत्म करने के कोशिश की गई। वास्तव में कृषि–सम्बंधी सुधार के अलावा यह विद्रोहों की ये लम्बी कड़ी, जिसमें हमने केवल कुछ खास–खास विद्रोह और अभियानों का ही जिक्र किया है, भारतीय आधुनिक इतिहास में किसानों की क्रियाशीलता और सक्रियता की अच्छी मिसाल पेश करते हैं।

अध्याय - 3 (f)

सिंचाई व्यवस्था का विकास

Development of irrigation system

I. History of Policy सिंचाई निति का इतिहास

हिन्दुस्तान में सिंचाई को लम्बे समय से राज्य का मौलिक कर्त्तव्य समझा जाता रहा था जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ऊपर गंगा के मैदानों में अपना साम्राज्य फैलाया तब उसने यमुना नदी के पश्चिमी भाग में सिंचाई को नहरों का जाल मौजूद देखा हाँलाकि यह अब प्रयोग में नहीं लाया जा रहा था। यह नहरों का जाल वास्तव में सुल्तान फिरोजशाह तुगलक ने बनवाया था। 1821 में कम्पनी के इंजीनियरों ने पश्चिमी यमुना नदी पर इस नहरों के जाल की मरम्मत करके इसे दुबारा से चालू कर दिया। इसी तरह के पूर्व–औपनिवेशिक सिंचाई परियोजना का उदाहरण दक्षिण में चोल शासकों द्वारा बनवाई गई कावेरी नदी पर 'भव्य एनीकट' के रूप में पेश था। सर अर्थर कॉटन, जो दक्षिण में कम्पनी सरकार की सिंचाई परियोजनाओं की आत्मा और तकनीकी विशेषज्ञ थे, उन्होंने इसे जीवित किया। भारत में राज्य के द्वारा जल–संसाधनों के संरक्षण की इस तरह की कोशिश भारतीय महाद्वीप की कृषि की मानसून की बारिश पर निर्भरता और इसके नतीजे के रूप में अकालों के खतरे की तरफ संकेत करती हैं। जल संसाधनों का संरक्षण करके और जल का पुर्नवितरण करके किसानों की उत्पादक सम्पति को ही नहीं बढ़ाया जा सकता था बल्कि यह अकालों से राहत दिलाने का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन साबित हो सकता था। फसलों को नष्ट होने से बचाने के अलावा भी सिंचाई के कई तरह के लाभ थे। सिंचाई के कारण ही किसान साल में एक से अधिक फसलें आसानी से उगा सकते थे। उसने किसानों को कम–उपज वाले सूखा–प्रतिरोधक बीजों की जगह जयादा उपज वाले नये बीज इस्तेमाल करने के लिए भी प्रेरित किया। इसने किसानों का ज्यादा खाद इस्तेमाल करने की सुविधा भी रहती रहती थी। सिंचाई के ये लाभदायक प्रभाव शुरू से ज्ञात थे और कम्पनी के शासन–काल में कुछ बड़ी सिंचाई परियोजनाओं की शुरूआत की गई। कुछ समय में वित्तिय अनिश्चितता और निति मे बदलाव को छोड़कर, औपनिवेशिक शासन के दौरान, कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर, सिंचाई को राज्य की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी माना गया। हाँलाकि जैसा कि राष्ट्रीय नेताओं की आलोचना में भी झलकता है, ब्रिटिश सरकार ने जब रेलवे निर्माण में पूँजी लगाना शुरू किया तो सिंचाई का तुलनात्मक महत्त्व कम हो गया और ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई परियोजाओं की अपेक्षा रेलवे निर्माण में ज्यदा पूँजी लगानी शुरू कर दी।

उन्नीसवीं सदी में सिंचाई परियोजनाओं का मुख्य कार्य दो तरह का था। उत्तर भारत में बारहमासी नदियों से नहरें निकाली गई और दक्षिण भारत में नदी में बीच में एक दीवार खड़ी करके नदी के बहाव को नियंत्रित करने की कोशिश की गई यानि 'एनिकट' का निर्माण किया गया। उत्तर भारत में, पंजाब, सिंध और पश्चिमी उत्तर प्रदेश नहरी परियोजनाओं की सफलता के ऐसे उदाहरण थे जिनके द्वारा पहले जल के अभाव से जूझ रहे क्षेत्रों में सिंचाई का पानी पहुँचाया गया। दक्षिण की सिंचाई–परियोजनाओं ने, नहरों के द्वारा मानसून की वर्षा के पानी का ही पुर्नवितरण किया और पानी की कमी के समय जल–आपूर्ति में कोई सुधार नहीं किया। उत्तर भारत की नहरें गंगा–यमुना की मुख्य नदियों से निकाली गई थी या सिंधु नदी की सहायक नदियों में से। कई उत्तरी भारत की परियोजनायें वास्तव में ब्रिटिश–पूर्व निर्माण की गई थी और कम्पनी के इंजीनियरों ने इन्हें दुबारा चालू किया था। इसके विपरीत बारी–दो आब नहर परियोजना एक नया निर्माण था जिसे पंजाब के विलय के फलस्वरूप भंग की गई सिख–सेना के सिपाइयों को रोजगार देने के लिए शुरू किया गया था। कुछ अन्य सिंचाई की परियोजनायें जैसे पश्चिमी यू. पी. में गंगा नहर तथा सिंध की नहरें भी नये निर्माण कार्य का नतीजा थी जो ब्रिटिश ताज के शासन के दौरान आर्थिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर शुरू की गई। इन परियोजनाओं का सबसे अधिक प्रभावशाली असर बाहर से लाये गये किसानों को बसा कर सुनियोजित ढ़ंग से बंजर और चरगाहों की भूमि का उपनिवेशन (Colonization) के रूप में दिखाई दिया। पंजाब में इस तरह की "कैनाल कॉलोनियाँ" 1890 और 1930 के बीच उभरती हैं। बीसवीं सदी की मुख्य परियोजनाओं में पश्चिमी यू.पी. की सारदा नहर, सिंध प्रदेश का सुक्कर बाँध और दक्षिण का मेट्टूर बाँध शामिल थे। बीसवीं सदी में औपनिवेशिक राज्य ने छोटे स्तर के नीजी स्त्रोतों जैसे – कुएँ आदि पर ज्यादा ध्यान दिया। निति में यह परिवर्तन सरकार की वित्तिय परिस्थितियों या पैसे की कमी के कारण भी था और कुछ हद तक बड़ी परियोजनाओं के द्वारा महसूस किये जा रहे खतरों के कारण भी। बीसवीं सदी में नदियों की जल–शक्ति से बिजली बनाने के काम की शुरूआत भी की।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के दौरान नहरों के निर्माण का काम सेना के इंजिनियरिंग विभाग के द्वारा किया जाता था। लेकिन 1854 लार्ड डलहौजी के सार्वजनिक निर्माण विभाग (P.W.D) की स्थापना की और तब से नहरों के निर्माण का काम भी इसी

विभाग को सौंप दिया गया। यह विभाग शुरू में 1857 के विद्रोह के खत्म होने के बाद और ब्रिटिश ताज (Crown) के शासन शुरू होने के बाद प्रारंभिक वर्षों में यह Public Works Dept. सैन्य तथा प्रशासनिक निर्माण कार्यों में ही ज्यादातर लगा रहा था। लेकिन जल्दी ही विभाग के लंबे–समय के लिए लक्ष्यों पर बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ और भारत के ब्रिटिश अधिकारियों और लंदन की सत्ता ने इस बात की पुष्टि की कि सिंचाई का विकास इस विभाग की एक मुख्य जिम्मेदारी होगी। ब्रिटिश–अधिकारियों ने इसी समय, सिंचाई नीति के बारे में अपना रूख स्पष्ट करना शुरू किया। सिंचाई परियोजनाओं को दो अलग–अलग श्रेणियों में रखा गया। एक वे परियोजनायें जो मुख्य रूप से प्रशासनिक उद्देश्य या अकाल से राहत दिलाने के मकसद से शुरू की गई और जिन्हें संरक्षणात्मक (Protective) निर्माण के नाम से जाना गया। और दूसरी किस्म की वे परियोजनायें जिनमा लक्ष्य कृषि की उत्पादकता बढ़ाना था और जिन्हें उत्पादक (Productive) निर्माण कार्य के नाम से जाना गया। पहली श्रेणी की परियोजनाओं से सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होनी थी लेकिन इससे सरकार का अकाल–राहत पर खर्च होने वाला पैसा बच सकता था। दूसरी श्रेणी की परियोजनायें सरकार के लिए व्यापारिक रूप से फायदेमंद साबित हो सकती थी। सिंचाई परियोजनायें पैसा बचाने और आमदनी बढ़ाने–दोनों लक्ष्यों की पूर्ति कर सकती थी यह सरकारी सिंचाई परियोजनाओं से पहले ही साबित हो चुका था। ऐसी बड़ी परियोजनायें जो ज्यादा माँगती थी और सरकार की वर्तमान राजस्व आय से जिनकी पूँजी की पूर्ति नहीं हो सकती थी और जनके लिए पूँजी लंदन के मुद्रा–बाजारों से कर्ज के रूप में प्राप्त की गई–उनके लिए जरूरी था कि परियोजनायें कम से कम इन कर्जों का ब्याज तो वसूल कर पाती।

सिंचाई से क्या हासिल हो सकता था? सिंचाई भूमि की उत्पादकता बढ़ा सकती है और इससे किसानों को आय बढ़ेगी। सरकार ने सिंचाई के जल के उपयोग के लिए किसानों से इसी बढ़ी आय का एक हिस्सा 'नहर–दर' के रूप में वसूल किया। यह कर सार्वजनिक निर्माण विभाग को प्राप्त होता था और इसकी गणना सिंचाई परियोजना में लगाई गई पूँजी पर लाभ दर (rate of return) में की जाती थी। लेकिन पुरानी सिंचाई परियोजनायें जो सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना से पहले विकसित हुई थी उन पर किसानों की बढ़ी आय या पूँजी पर लाभ की दर की गणना कर पाना मुश्किल था। दूसरी तरफ, जमीन की उत्पादकता बढ़ाने से जो खेती की आय बढ़ी–उससे जमीन का लगान मूल्य भी बढ़ गया। चूँकि भू–राजस्व भूमि के लगान–मूल्य को दर्शाता था – इसलिए स्थायी बंदोबस्त के क्षेत्र को छोड़ कर सरकार इस बढ़े हुए लगान–मूल्य को भू–राजस्व के रूप में किसानों से वसूल कर सकती थी। रैयतवाड़ी और महलवाड़ी इलाकों में, सिंचित भूमि पर भू–राजस्व की दरें ज्यादा होती थी। हाँलाकि यह गणना करना कि सिंचाई के कारण भूमि के लगान–मूल्य में कितनी बढ़ौतरी हुई–बहुत ही पेचीदा कार्म था। लेकिन फिर भी समय–समय पर, भू–राजस्व में वृद्धि जो सिंचाई के कारण हुई–उसका अनुमान भी सिंचाई परियोजना के अप्रत्यक्ष लाभ के रूप लगाया गया। इंग्लैण्ड में निति बनाने वाले यह नहीं चाहते थे कि उन सिंचाई, परियोजनाओं पर पैसा लगाया जाये जिन पर लाभ की गुंजाईस नहीं थी। सन् 1878 में ईस्ट इंडिया पब्लिक वक्स की सेलेक्ट कमेटी ने घोषणा की कि भारत में सिंचाई की बड़ी परियोजनायें मुख्यतया व्यापारिक लाभ की दृष्टि से और अकालों से बचाने में नाकामयाब रही हैं। लेकिन इस समय, सन् 1880 में अकाल कमीशन ने भारत की सिंचाई परियोजनाओं के बारे में ज्यादा जानकारी और संतुलित तस्वीर पेश की। कमीशन इस नतीजे पर पहुँचा कि भारत में सिंचाई–परियोजनायें, अगर बढ़े भू–राजस्व से हुई सरकार की आय को भी अप्रत्यक्ष लाभ मान लें तो लगभग 6% की दर से पूँजी पर लाभ कमा रही थी। हाँलाकि यह पेचीदा सवाल कि सिंचाई–कार्यों से सरकार को कितना फायदा हो रहा था–अटकलबाजी पर टिका हुआ था। आंकलित लाभ की दर अलग–अलग परियोजनाओं और अलग–अलग क्षेत्र के लिए भिन्न–भिन्न थी। यह आंकलन इस बात पर भी निर्भर करता था कि इसमें भूमि से प्राप्त भू–राजस्व की बढ़ौतरी या परियोजना में लगाई गई पूँजी पर ब्याज को भी शामिल किया जाता था या नहीं। सामान्यतया मद्रास में गोदावरी और कावेरी नदियों के डेल्टा पर निर्मित परियोजनायें बहुत लाभदायक साबित हुई। सिंध की स्कीमें भी काफी लाभकारी रही जबकि उत्तर भारत की बड़ी–बड़ी परियोजनायें से लाभ तो हो रहा था लेकिन लाभ दर बहुत ज्यादा नहीं थी। इसके विपरीत बंगाल, उड़ीसा और दक्कन की परियोजनायें नुकसान में चल रही थी। इनमें से कुछ परियोजनायें, रेलवे नर्माण की तर्ज पर, नीजी कम्पनियों ने गारंटी शुदा लाभ की दर सरकार की गारंटी पर विकसित की थी। बाद में सरकार ने उन्हें ऊँचे दामों पर इन कम्पनियों से खरीद लिया था। सामान्य तौर पर हाँलाकि सिंचाई नीति में मुख्य विचार नीजी उद्यम के खिलाफ ही था। यह महसूस किया गया कि सिंचाई के क्षेत्र के क्षेत्र में नीजी कम्पनियाँ जल–संसाधन में नीजी अधिकारों की जटिल समस्या कर देगीं। कुछ हद तक सिंचाई पर लाभ की दर अलग–अलग तरह की परियोजनाओं तथा अलग–अलग क्षेत्रों की भौगोलिक–स्थिति पर भी निर्भर करती थी। दक्षिण भारत में नदियों की बनावट और भौगोलिक–स्थिति पर भी नर्भर करती थी। दक्षिण भारत में नदियों की बनावट और भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि नदियों के बहाव को दीवार से नियंत्रित करके, 'एनीकट' बनाकर, कम लागत पर ही ज्यादा क्षेत्र की सिंचाई की जा सकती थी। इसमें कम वर्षा के दिनों में नहरों को नौपरिवहन के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता था। जबकि उत्तर भारत में बड़े क्षेत्र को सिंचित करने के लिए ज्यादा चिनाई और ज्यादा पुलों के निर्माण की भी जरूरत पड़ती थी। यहाँ नहरों को नौपरिवहन के रूप में इस्तेमाल करने से राजस्व की भी ज्यादा आय नहीं होती थी क्योंकि इस क्षेत्र में सड़क–परिवहन वैसे ही काफी विकसित था।

II. Progress of Irrigation during the Colonial Period
औपनिवेशिक दौर में सिंचाई की प्रगति

1892 पर ब्रिटिश भारत में 43,800 मील लम्बी नहरें और उप–नहरें निर्मित की जा चुकीं थीं जो 13.4 मिलियन एकड़ भूमि की सिंचाई कर ही थी। इन सिंचाई परियोजनाओं पर कुल पूँजी की लागत लगभग 283 मिलियन की थी। इन पर वार्षिक शुद्ध लाभ की दर 4.5% थी। जब भारत में अंग्रेजी राज खत्म होने जा रहा था तब नहरों और उप–नहरों की लम्बाई 74,656 मील हो चुकी थी और सिंचित क्षेत्र, 58.8 मिलियन एकड़ था जो भारत में कुल खेती की जा रही जमीन का लगभग ¼ वां भाग था। इस पर पूँजी की लागत बढ़ कर 1544 मिलियन रूपये हो चुकी थी। 1945–46 में इन सिंचाई कार्यों से सरकार को कार्यशील खर्चे निकाल कर 138.3 मिलियन रुपये राजस्व के रूप में प्राप्त हो रहे थे। इस्ट इंडिया कम्पनी ने जब हिन्दुस्तान के शासन की बागडौर सँभाली तो इसने दिल्ली और तैंजूर की सिंचाई व्यवस्थाओं को जिंदा किया और इन सिंचाई–परियोजनाओं में पैसा लगाक कृषि–दशा और व्यापार को सुधारने की कोशिश की। हाँलाकि कम्पनी सरकार ने पाया कि इन सिंचाई–कार्यों के विस्तार के लिये जितना राजस्व इनसे वसूल होता था, उससे कहीं ज्यादा खर्च सरकार को करना पड़ रहा था। इसलिए कम्पनी सरकार ने सिंचाई–कार्यों के निर्माण के लिए कर्जे लेने पड़े। सिंचाई वास्तव में एक व्यापारिक गतिविधि का रूप धारण कर रही थी और अकाल से बचाव एक गौण मकसद बन गया। लेकिन कुछ पुरानी परियोजनाओं को छोड़कर जिनको कम्पनी ने पुर्नजीवित किया था, सिंचाई–कार्य कम्पनी सरकार के लिए व्यापारिक रूप से लाभप्रद साबित नहीं हो रहे थे। इन हालातों में, सरकार ने सिंचाई कार्यों पर पैसा लगाना सीमित कर दिया और सरकार ने पूँजी निवेश उन परियोजनाओं तक सीमित कर दिया जो लाभप्रद थी या जो अकाल से बचाव और राहत के लिए जरूरी थी। 1890 तक इन निर्देशों के कारण सिंचाई का विकास बहुत तेजी से नहीं हो पाया। 1890 के दशक के भयंकर अकालों की बरम्बारता ने सरकार को मजबूत किया वह उत्तरी भारत के मैदानों में तेजी से सिंचाई का विस्तार करे। 1900 तक सिंचाई–कार्यों से प्राप्त शुद्ध लाभ की दर (राजस्व के रूप में) 7% हो चुकी थी। 1902 में सिंचाई आयोग का गठन किया और बीसवीं सदी में सिंचाई कार्यों में पूँजी का अधिकांश निवेश यू.पी. और पंजाब और सिंध में किया गया। 1920 और 1930 के दशकों में जल–संसाधनों के इस्तेमाल का विविधीकरण करते हुए सरकार ने जल–विद्युत शक्ति का काम भी शुरू किया। लेकिन सिंचाई की जरूरतें और औपनिवेशिक सरकार की योजना में ग्रामीण विद्युतीकरण का अभाव, दोनों ही कारणों से तेजी से विद्युत–उत्पादन नहीं बढ़ पाया।

कम्पनी सरकार के सिंचाई कार्य

1803 में कम्पनी प्रशासन ने पाया कि पश्चिमी यमुना नहरों का जाल और दक्षिण में कावेरी डेल्टा में दीवार खड़ी करके पानी के बहाव को एक जटिल नहरों के जाल के रूप में प्राचीन सिंचाई–कार्य भारत में मौजूद थे। लेकिन इसकी ठीक तरह से देखभाल नहीं हो रही थी। कम्पनी सरकार को लगा कि इन सिंचाई कार्यों की दुबारा जीवित करने से कृषि–उत्पादकता भी बढ़ेगी और सरकार की आय भी। प्रारम्भ में सिंचाई कार्यों की जिम्मेदारी सैन्य–मसलों की उच्चत्तम सत्ता मिलिट्री बोर्ड के पास ही रही। मिलिट्री बोर्ड लागत पर कड़ी नजर रखता था। लेकिन सिंचाई परियोजनाओं के लिए खर्च की जाने वाली धन–राशि की मंजूरी अंग्रेज सरकार के नागरिक प्रशासन और अन्ततः कम्पनी के डाइरेक्टरों की ही थी। पश्चिमी यमुना और तैंजूर में कावेरी पर पुरानी सिंचाई व्यवस्थाओं को जिवित करने के काम में सरकार द्वारा निर्धारित खर्चे के कठोर मापदंड लागू किये गये। इनमें यह अनुमान लगाना मुश्किल है कि इन कामों में सरकार द्वारा लगाई गई पूँजी का इन पुरानी सिंचाई–परियोजनाओं की कुल पूँजी या लागत के मूल्य में कितना अनुपात था क्योंकि इन सिचाई–कार्यों में कुल पूँजी या लागत का अनुमान ही नहीं लगाया गया था। कम्पनी सरकार ने सीधा मन लिया था कि हिन्दुस्तान को विजित करने के साथ उसके संसाधनों पर भी उसका कब्जा वैध था। सरकार ने वास्तव में इन पुरानी सिंचाई परियोजनाओं को पुर्नजीवित करने में जितनी लागत लगाई, उसकी अपेक्षा राजस्व की आय के रूप में उसे कहीं बहुत ज्यादा लाभ मिला। सरकार ने यह भी महसूर किया कि इन सिंचाई कार्यों को अपने हाथ में लेकर वह अपनी वैधत (Legitimacy) स्थापित कर सकती है।

प्रारंभ में कावेरी पर बनाई गई चोल–शासकों की भव्य दीवार या 'एनीकट' पर ध्यान देने की बजाय कम्पनी के इंजीनियरों ने रेत हटाने का काम शुरू किया लेकिन बाद में राजा वीरामन के बाँध की तर्ज पर आर्थर कॉटन ने 1838 में कोलरून में एक बाँध का निर्माण किया। बाद के वर्षों में अन्य सहायक कार्य भी बनाये गये और यह काफी प्रभावशाली योजना साबित हुई। जब दिल्ल तक कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार हुआ तब जमुना नदी पर बनाई गई फिरोजशाह तुगलक की नहरों के जाल में से एक दक्षिणी नहर जो दिल्ली के पास तक आती थी, काम कर रही थी। इस सिंचाई–कार्यों को पुर्नजीवित करने के कृषि के विकास की काफी सम्भावनायें थी। 1817 में कम्पनी ने इस पर ध्यान देना शुरू किया। 1825 में शिवालिक की पहाड़ियों के पास से हाँसी और हिसार तक जाने वाली 240 मील लम्बी दूसरी नहर जिसे फिरोज–शाह नहर के नाम से जाना जाता था

– उसे दुबारा से कम्पनी के इंजिनियरों में चालू कर दिया। पश्चिमी यमुना–नहरों की बाकी शाखाओं को चालू करवाने का काम 1830 के दशक में भी जारी रहा। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के सिंचाई–कार्यों में अलग–अलग ढ़ंग का प्रबंधन था। मद्रास में प्रत्येक सिंचाई कार्य का कार्यकारी–इंजिनियर जल–आपूर्ति को नियंत्रित करता था लेकिन मुख्य बाँध से किस्म–किस्म की नीजि–अधिकार वाली नहरें निर्मित की गई थी जो खेतों तक सिंचाई के लिए पानी ले जाती थी। इनके निर्माण या देख–रेख में सरकार का कोई योगदान नहीं था। इसलिए यहाँ यह व्यवहारिक नहीं था कि सिंचाई–दर किसानों से वसूल किया जाता। दक्षिण भारत में इसलिए सिंचाई कार्यों पर होने वाले खर्चों की जिम्मेदारी भू–राजस्व प्रशासन को ही दी गई थी। भू–राजस्व प्रशासन ने यहाँ सभी भूमियों का वर्गीकरण करके उन्हें सींचित या असींचित भूमि के रूप में दर्ज किया और सिंचित भूमियों पर अधिकारियों द्वारा लगाई गई अंटकलबाजी के आधार पर ज्यादा दर से भू–राजस्व वसूल किया गया। मद्रास सरकार, इस प्रकार, लगाई गई पूँजी का लाभ, अप्रत्यक्ष रूप से भू–राजस्व में वृद्धि करके प्राप्त कर रही थी। इसके विपरित, उत्तर भारत में, सिंचाई कार्यों की प्रकृति ऐसी थी कि यहाँ सिंचाई के लिए राजस्व 'सिंचाई–कर' के रूप में सीधा लागू किया जा सकता था। यहाँ कम्पनी के इंजीनियर जल–वितरण को नियंत्रित करने वाले मुख्य निर्माण कार्य के साथ–साथ नहरों और उप–नहरों के निर्माण और रख–रखाव का काम भी सँभालते थे। यमुना–नहरों का कार्यकारी इंजिनियर इसलिए एक राजस्व–अधिकारी भी था जिसकी जिम्मेदारी सिंचाई–राजस्व के आकलन और वसूली की भी थी। वह एक मैजिस्ट्रेट के रूप में काम करते हुए सिंचाई–कार्यों की सुरक्षा काम भी देखता था। कुछ हद तक बढ़े हुए भू–राजस्व के रूप में भी उत्तर भारत के क्षेत्रों में सरकार को आय होती थी लेकिन सीधे सिंचाई–राजस्व के मुकाबले में इसका अनुपात कितना था– यह कहना मुश्किल है। सरकार सिंचाई–कार्य या परियोजना की मंजूरी देने के लिए एक ही व्यापारिक लक्ष्य को ध्यान में रखती थी कि क्या इससे सरकार की आय में इतनी वृद्धि होगी कि लागत से ऊपर यह लाभ कमा सकेगी या नहीं। सिंचाई के गैर–आर्थिक लाभों का अनुमान स्थानीय प्रशासन ही लगाता था और इनके निर्धारण और उत्तरदायित्व की धारणा सरकार की वित्तीय परम्पराओं में शामिल नहीं थी।

मद्रास प्रांत में आर्थर कॉटन द्वारा निर्मित बाँध (1836-38) ने आधुनिक बड़े–स्तर की सिंचाई–व्यवस्था की नींव रखी। 1836-1846 के मध्य मद्रास प्रेजीडैन्सी में सिंचाई कार्यों पर 5.7 मिलियन रुपये की पूँजी लगाई गई। इन परियोजनाओं पर लाभ या घाटा देखने के लिए सिंचाई कार्य के शुरू होने से पहले अधिकतम खेती का क्षेत्र और उससे प्राप्त भू–राजस्व दर्ज किया जाता था और फिर सिंचाई–परियोजना पूरी होने बढ़े हुए खेती के क्षेत्र और उससे प्राप्त भू–राजस्व का अनुमान भी दर्ज किया गया। दोनों के अंतर में से सिंचाई के काम पर होनेवाले मरम्मत आदि के खर्च को निकाल कर शुद्ध लाभ या घाटे का पता लग जाता था। हाँलाकि खेती क्षेत्र में विस्तार सिंचाई से ही हो रहा हो यह निश्चित नहीं था और भू–राजस्व में वृद्धि केवल सिंचाई के कारण ही हो रही हो – यह भी पूरी तरह सच नहीं है। कावेरी बाँध के बाद 1847-1853 में गोदावरी सिंचाई परियोजना और 1855 में कृष्णा नदी पर सिंचाई–परियोजना पूरी की गई। हाँलाकि मद्रास प्रेजीडैन्सी के कुल क्षेत्रफल को देखते हुए निर्मित सिंचाई कार्यों से सिंचित भूमि 1849 में काफी कम थी – यह अधिकतम 7,81,306 एकड़ भूमि थी। लेकिन इस समय तक मद्रास सरकार सिंचाई–परियोजनाओं पर 8 मिलियन रुपये खर्च कर चुकी थी और सिंचाई कार्यों की समुचित और अच्छे ढंग से देख–रेख के लिए 1852 में मद्रास सरकार ने एक सार्वजनिक कार्यों का नागरिक विभाग–स्थापित किया।

इसके विपरीत यमुना नहरों पर प्रशासन शुरू से ही व्यापारिक सिद्धांतों पर आधारित था। 1830 में सार्वजनिक निर्माण के लिए मिलिट्री बोर्ड का पुर्न संगठन किया गया। इसके इंजीनियरिंग विभागों को विस्तृत किया गया और उनकी जिम्मेदारियों को खासकर नहरों की देख–रेख से जुड़ी जिम्मेदारियों को स्पष्ट किया गया। 1846-47 तक सरकार यमुना नहरों पर 3 मिलियन रुपये खर्च कर चुकी थी और इसे 8-9 लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो रही थी। सरकार को शुरू से ही विश्वास था कि इस परियोजना को पुर्नजीवित करने में जो लागत आयेगी वह आसानी से न केवल इससे अर्जित राजस्व से पूरी हो जायेगी बल्कि इससे पर्याप्त लाभ को कमाया जा सकेगा। चूँकि सरकार ने पहले से खर्च पूँजी को कुल निवेश के अंदर शामिल नहीं किया था, इसलिये यमुना नहरों से राजस्व–अर्जित करने का जो लक्ष्य सरकार ने रखा था वह आसानी से पार कर लिया गया। 1840 के दशक के अंत में अनुमान लगाया गया कि पश्चिमी यमुना नहर के कारण भू–राजस्व के रूप में 2,96,1912 रुपये अधिक की आय प्रतिवर्ष सरकार को हो रही थी। सन् 1846–47 में सरकार को यमुना पश्चिमी नहर से सीधे सिंचाई कर के रूप में भी 4,205,879 रुपये की आय हुई। यह इस समय तक इस परियोजना द्वारा खर्च की गयी धन–राशि से 19% अधिक थी। इस आय में 'जल–लगान' के अलावा नहरों के नियमों का उल्लंघन करने पर विभाग द्वारा किये जुर्माने, नहरों के आस–पास की भूमि से लकड़ी और घास आदि की बिक्री से होने वाली आमदनी, चूँगी–कर आदि भी शामिल थे। बंगाल इंजीनियरों ने शुरू से ही एक कुशल वितरण–प्रणाली, जिससे किसानों की सिंचाई की जरूरतें और सरकार की राजस्व प्राप्त करने की जरूरत पूरी हो सके, विकसित करने की कोशिश की। इसके लिए मुख्य नहरों से छोटे उप–नहरें या रजबाहे जो किसानों के खेतों तक पानी का वितरण करते थे, निर्मित किये गये। सरकार द्वारा खर्च पूँजी से केवल मुख्य नहरों के निर्माण और मरम्मत आदि को पूरा किया जाता था। सहायक–व्यवस्था के रूप में रजबाहों का निर्माण और मरम्मत का काम कार्यकारी–इंजीनियर की देख–रेख

में ही किया जाता था लेकिन खर्चे स्थानीय आधार पर ही होते थे। कार्यकारी–इंजीनियर को कुशलता से अपना निर्माण–कार्य पूरा करने में कई तरह की परेशानियाँ आती थी। सीमित बजट के दबावमें कई बार उन्हें तकनीकी पर भी समझौता करना पड़ा और रजबाहों के बनाने में स्थानीय सम्पत्ति के अधिकारों के जाल में भी उन्हें फँसना पड़ता था। स्थानीय स्तर पर कुशल और न्याय संगत जल का बँटवारा अपने आप में काफी मुश्किल और पेचीदा काम था। कुशलता से काम करने के लिए राजबाहे की व्यवहारिक यांत्रिकी के नियमों के अनुसार बहाव की दिशा और स्तर तय की जानी चाहिए थी लेकिन स्थानीय भू–सम्पत्ति अधिकारों की व्यवस्था के कारण कई बार इसमें अड़चने आयी।

नहरों के इतिहास में, कार्यकारी और राजस्व प्रशासन काफी शुरू से ही अलग–अलग हो गये। कार्यकारी विभाग का काम मुख्य नहरों और वितरण करने वाली नहरों के निकास मार्ग बनाने पर ही खत्म हो जाता था। नहरों के ये निकास–मार्ग (Outlets) राजस्व विभाग द्वारा गाँवों को 18–20 साल के लिए ठेके पर दिये जाते थे। राजस्व विभाग गाँव से पिछले बंदोबस्त में गाँव द्वारा दिये गये तीन–साल के औसत राजस्व के आधार परप्रतिवर्ष 'जल–लगान' की राशि निर्धारित कर देता था ठेके की अवधि के बीच फसलों के मूल्य आदि बढ़ने से किसानों को जो लाभ मिलता थ उसमें सरकारको कोई हिस्सा नहीं मिलता था। पश्चिमी यमुना नहर के 2/3 सिंचित क्षेत्र में यह व्यवस्था 1840 के दशक से थी और इसमें सरकार सिंचाई के करण बढ़े लाभ में नये ठेके देने के समय ही हिस्सा प्राप्त कर सकती थीं पश्चिमी यमुना नहरके 1/3वें सिंचित क्षेत्र पर एक अलग व्यवस्था अपनाई गई इसमें किसानकी फसलों का वर्गीकरण करके और हर फसल का क्षेत्र दर्ज करके, अलग–अलग दरों से अलग–अलग फसलों के लिए जल लगान, गन्ने के लिए अधिकतम और रबी की मोटी फसलों के लिए न्यूनतम, वसूल किया जाता था। इस व्यवस्था में सरकार उत्पादन में बढ़ौतरी होने से बढ़े लाभ में हिस्सा पा सकती थी।

पूर्वी यमुना नहर आकार में छोटी लेकिन परिकल्पना और काम में ज्यादा प्रभावशाली साबित हुई। लम्बाई और क्षमता के हिसाब से यह पश्चिमी यमुना नहर से 1/3 ही थी लेकिन 1830 में शुरू की गई यह नहर 1850 तक मेरठ डिविजनके तीन जिलों में पश्चिमी यमुना नहर से लगभग आधे क्षेत्र को सिंचित कर रही थी। लेकिन कुशलता की यह वृद्धि – इस नहर पर पूँजी पर ज्यादा लागत से ही सम्भव हो पायी थी। इस नहर से 1829-33 के मध्य राजस्व के रूप में 1,02,605 रूपये की आय हुई जबकि 1844-46 के मध्य प्रतिवर्ष 330,511 रूपये राजस्व के रूप में प्राप्त हो रहे थे। नहर पर जल–वितरण का ढ़ाँचा शुरू में काफी अस्त–व्यस्त था। किसानों को निकास–मार्ग या मुख्य नहर पर सुविधा के अनुसार इंजीनियरिंग विभाग द्वारा निर्धारित माप के लकड़ी के बने बेलनाकार **कोलब** लगाने का अधिकार था। नहर का सुपरनिटैन्डैन्ट किसानों को कोलब से खेतों तक पानी ले जाने, नालियाँ आदि बनाने के लिए तकावी ऋण भी देता था। इस प्रणाली से हुइ नहरों को नुकसान से बचने के लिए और न्यायसंगत जल–वितरण के लिए एक व्यवस्थित व्यवस्था की जरूरतों को पूरा करने के लिए कौटले ने रजबाहा–व्यवस्था का खाका तैयार किया जो उत्तर–भारत में जल–वितरण प्रणाली का आधार बना। इसमें नहर के दानों तरफ उप–शाखायें बनाकर रजबाहों के द्वारा खेतों तक पानी ले जाने की व्यवस्था की गयी। एक निश्चित क्षेत्र की सिंचाई के बाद ये उप–शाखायें दुबारा मुख्य नहर में मिल जाती थी। रजबाहों का निर्माण–संयुक्त–पूँजी कम्पनी की कार्यविधि से मिलता–जुलता था। नहर का प्रबंधक रजवाहे के निर्माण का निर्देशक और खजांची के रूप में काम करता था और निश्चित क्षेत्र के जमींदार उसके निर्माण के लिए पैसा देते थे। यह लागत का हिस्सा व्यक्तिगत लाभ के अनुसार किसान और जमींदारों में बाँट दिया जाता था। किसान और जमींदारों को इस हिस्सेदारी की जिम्मेदारी पूरी करने के लिए सरकार ने तकावी कर्ज भी दिये।

1855 में मिलिट्री बोर्ड, जो सिंचाई के निर्माण कार्य की देख–रेख कर रहा था, को खत्म कर दिया गया और सरकार ने सार्वजनिक निर्माण विभाग का गठन करके उसके सैन्य और नागरिक उप–विभाग स्थापित किये। इस समय सरकार ने रेलवे निर्माण जैसे– निजी कम्पनियों के माध्यम से सिंचाई के विस्तार पर भी विचार किया लेकिन इस विचार को ज्यादा व्यवहारिक नहीं समझा गया।

ताज (Crown) के प्रबंधन में सिंचाई का विस्तार (1858-1946)

1858 में सर रिचर्ड सैट्रची की अध्यक्षता में बनी एक कमेटी ने सार्वजनिक निर्माण विभाग के कामों को दो श्रेणियों में बाँट दिया। राज्य के जरूरी निर्माण कार्य जैसे – मिलिट्री के बैरक, अदालतें और स्कूल आदि जिनसे आय कमाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी और आंतरिक–सुधार के निर्माण–कार्य (Works of Internal Improvement) जिन्हें तभी शुरू करना था जब उनसे लाभ कमाने की उम्मीद हो। सिंचाई–परियोजनाओं पर निर्माण–खर्च को इस दूसरी श्रेणी में रखा गया। सिंचाई पर होने वाले खर्चे पर नियंत्रण रखने के लिए एक मिलियन रूपये या उससे अधिक की लागत की परियोजना की मंजूरी, लंदन में इंडिया ऑफिस ने अपने पास रख ली। 1920 के विकेन्द्रीयकरण तक इंडिया ऑफिस का यह नियंत्रण बरकरार रहा। सरकार को उम्मीद थी कि सिंचाई–कार्यों के विस्तार से राजस्व के रूप में उसकी आय बढ़ जायेगी लेकिन प्रारंभ में सिंचाई के विस्तार के लिए जिस पूँजी–निवेश की जरूरत थी – उसकी पूर्ति एक अहम मुश्किल थी क्योंकि औपनिवेशिक सरकार अपने प्रशासनिक खर्चों (जैसे

– सेना, पुलिस, कानून–व्यवस्था आदि) की कटौती नहीं कर सकती थी। इस समस्या से निपटने के लिए इस समय सरकार ने नीजि पूँजी के निवेश का प्रयोग करने की कोशिश की। 1859-60 में इस तरह की दो नीजि कम्पनियों – मद्रास इरिगेशन एंड कैनाल कम्पनी को तुंगभद्रा परियोजना के लिए और ईस्ट इंडिया इरिगेशन कम्पनी को महानदी सिंचाई परियोजना के लिए – सरकारी मंजूरी दी गई और इन कम्पनियों को रेलवे कम्पनियों जैसे ही इनके द्वारा लगाई गई पूँजी पर गारंटी शुद्ध 5% ब्याज देने का प्रावधान सरकार ने किया। 1860-61 के उत्तर–पश्चिमी प्रांत के अकाल ने सिंचाई के क्षेत्र में नीजि पूँजी का विरोध करने वालों का पक्ष मजबूत किया। नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र इस अकाल के असर से बच गये थे और इससे सरकार को भू–राजस्व में छूट देने से राहत मिली और अकाल–राहत के लिए भी इन इलाकों में पैसा खर्च नहीं करना पड़ा था। सिंचाई में नीजि कम्पनियों का विरोध करने वालों ने यह तर्क भी पेश किया कि इससे जल–संसाधनों के वितरण और उपयोग में अवांछनीय नीजि हित काम करने लगेगें जो किसानों के हितों के विरूद्ध होगा और यह सरकार के राजस्व के रूप में होने वाली आय पर भी प्रभाव डालेगा। 1864 में उस समय के सैक्रेटरी ऑफ स्टेट, सर चार्ल्स वुड ने अपने प्रतिवेदन में खुल कर सिंचाई–परियोजनाओं को नीजि पूँजी को सौंपे जाने का विरोध किया और कहा कि अगर सरकार के पास धन की कमी हो तो इस तरह के निर्माण के लिए वह स्वयं सार्वजनिक ऋण लेकर यह उत्तरदायित्व निभायें। उन्होंने यह भी कहा कि जब सरकार पूरी तरह विफल हो जाये तभी इस तरह का काम नीजि कम्पनियों को सौंपे।

लघु–सिंचाई परियोजनाओं पर 500 पौण्ड से लेकर 30,000 पौण्ड तक खर्च आता था और इसके लिए स्थानीय सरकारों के इंजीनियरिंग विभाग ही अपने स्तर पर पूँजी का इंतजाम कर सकते थे लेकिन प्रमुख सिंचाई–कार्यों जैसे – यमुना नहर या बारी–दोआब नहर भारी मात्रा में पूँजी की माँग करते थे। इनके लिए मंजूरी देने में सरकार ने ("इंडिया ऑफिस) ने व्यापारिक लाभ के सिद्धांत को अपनाया। इसका मतलब था कि अगर पूँजी उधार ली गई हो तो उसके ब्याज की अदायगी के बाद भी सरकार को योजना से लाभ प्राप्त हो सके। इस समय महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि गंगा नहर, जिसका निर्माण उधार की पूँजी से किया गया था और जो काफी बड़ी और प्रतिष्ठित योजना थी, वह सरकार को घाटा ही दे रही थी। यह नहर अपनी क्षमता से कम काम ही कर रही थी। इसका कारण था कि नहर से लगातार रिसाव (Leakage) होने से जगह–जगह नीची जमीनों पर दलदलों के तालाब बन रहे थे। 1863 में भी 2 करोड़ रुपये की लागत से बनी गंगा नहर से सालभर में राजस्व के लगभग 7 लाख रुपये ही प्राप्त हो रहे थे। जो उधार ली गई निर्माण–कार्य में लगी पूँजी को ब्याज देने के लिए भी काफी नहीं था। इसके विपरित मद्रास प्रांत की परियोजनाओं से प्राप्त लाभ की दर 50 से 100% भी थी। जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं कि दक्षिण भारत के सिंचाई–कार्यों में बाँध के निर्माण को छोड़कर ज्यादा लागत सहायक–नहरों आदि पर नहीं आती थी। गंगा के मैदान की भौगोलिक बनावट ऐसी थी कि नदी आस–पास के क्षेत्र से नीचे स्तर पर बहती थी और इससे नहरें निकाल कर ले जाने में निर्माण–कार्य पर अधिक लागत आती थी। नहरों के जाल में उत्तर भारत में जगह–जगह पुलों के निर्माण में भी ज्यादा लागत आती थी। गंगा नहर एकदम नयी परियोजना थी। दक्षिण के बाँधों में और पश्चिमी यमुना नहर में पहले से मौजूद निर्माण कार्यों ने लागत कम कर दी थी। मद्रास प्रैजीडैंसी में सिंचाई के साथ नौपरिवहन से भी सरकार को आमदनी होती थी। गंगा नहर के निर्माण का उद्देश्य वैसे भी अकाल से बचाव करने का था और इसके लिए सिंचाई के लिए जल का वितरण काफी भू–भाग पर किया गया। तीस साल के भू–भाग पर किया गया। तीस साल के भू–राजस्व बंदोबस्त की वजह से एकदम से बीच में भू–राजस्वकी दर को भी बढ़ाया नहीं जा सकता था। इन सब कारणों से गंगा–नहर को अर्जित लाभ की दर कम रही।

1860 के दशक के अंत में सरकार ने सिंचाई परियोजनाओं के दोनों लक्ष्यों आय अर्जित करने का व्यापारिक सिद्धांत और अकाल में निवारण पर समान रूप से बल देना शुरू किया हॉलाकि लाभ प्राप्त करने का सिद्धांत किसी न किसी रूप में औपनिवेशिक सरकार की नीति पर हावी रहा। पंजाब की परियोजनाओं से शुद्ध लाभ 4.5%, बंगाल के सिंचाई कार्यों से 2.5 और मद्रास में 16% था लेकिन कई बार इस गणना में समय–समय पर मरम्मत आदि की लागत को शामिल नहीं किया जाता था। आलोचकों के बावजूद, उधार ली गई पूँजी से सिंचाई–कार्यों का विस्तार अब सरकार की घोषित नीति बन चुकी थी। 1877 में जैसा सैक्रेटरी ऑफ स्टेट ने कहा कि ये कार्य अधिकतर कोशिश होगी कि व्यापारिक मुनाफे के सिद्धांत पर विकसित किये जायेंगे लेकिन ऐसा हमेशा समीव नहीं था। औपनिवेशिक सरकार ने अपने को 'जमींदारों का जमींदार (Landlord-in-Chief) के रूप में स्थापित किया था इसलिए अपने अधीन काश्तकारों की आर्थिक दशा सुधारने का लक्ष्य भी उसे अपने सामने रखना पड़ा। 1870 के दशक के मध्य तक सरकार ने अकालों की बारम्बारता को स्वाभाविक मानते हुए इनसे निपटने के लिए रेलवे का विकास को वरीयता देना शुय किया था लेकिन अकालों से बचाव के लिए सिंचाई–कार्यों के विकास पर भी बल दिया गया। इन सिंचाई कार्यों के विस्तार की मुख्य शर्त अब भी वहीं रही कि ये पूँजी की लागत से अधिक राजस्व पैदा कर सकें लेकिन अकालों से संरक्षण देने के लिए कई बार इस व्यापारिक शर्तों को छोड़ना पड़ा। 1890 के दशक मे बड़े व्यापक पैमाने पर पूर्वी पंजाब में कई परियोजनाओं के माध्यम से (जैसे – निम्न चेनाब नहर) तेजी बाहर से लोगों को बसा कर बंजर और चरागाहों की जमीनों को कृषि योग्य बनाया गया।

1900–01 में सिंचाई आयोग ने अनुमान लगाया कि ब्रिटिश भारत में 226 मिलियन एकड़ पर कृषि हो रही थी और इसमें से केवल 44 मिलियन एकड़ भूमि ही सिंचित थी और इसमें से भी केवल 19 मिलियन एकड़ के लगभग सरकार की प्रमुख और लघु सिंचाई कार्यों के द्वारा सिंचित था। 25–26 मिलियन एकड़ किसान अपने नीजि–साधनों कुएँ, तालाब आदि से सींच रहे थे। बड़ी–बड़ी सिंचाई परियोजनाओं से 11 मिलियन एकड़ से कुछ ज्यादा भूमि ही सिंचित हो रही थी। कमीशन के अनुसार, यह 1880 की तुलना में 60% सिंचित क्षेत्रफल में वृद्धि थी और उत्पादक कार्यों से पूँजी की लागत पर 70% की दर से शुद्ध लाभ सरकार को मिल रहा था। सिंचाई कमीशन के अनुसार, केवल कुछ क्षेत्रों विशेषकर पंजाब और सिंध में उत्पादक सिंचाई कार्यों का विस्तार सम्भव था और विशेषकर दक्कन और मध्य प्रांत में, भौगोलिक कारणों से यह असम्भव सा था। कमीशन से कुँओं द्वारा सिंचाई के लिए भी 7.5 मिलियन रुपये निवेश करने की सलाह सरकार को दी जो ज्यादातर किसानों को तकावी कर्ज के रुप में दिया जा सकता था। 1900–01 तक सरकार द्वारा लगाई गई सिंचाई कार्यों की 29% – 30% लागत पंजाब में ही केन्द्रित थी और बाद में इसका और विस्तार किया गया। अगले दो दशकों में अंग्रेज सरकार की सबसे शानदार और महत्त्वाकांक्षी परियोजना ट्रिपल कैनाल (Triple Canal) चेनाब सिंचाई परियोजना, झेलम सिंचाई परियोजना और इन्हें निम्न बारी–दोआब नहर के द्वारा जोड़ने का निर्माण किया गया। इसमें 15 करोड़ रुपये से ज्यादा लागत से बनी 1055 मील लम्बी मुख्य नहरों और 7,468 मील लम्बी उनकी उपशाखाओं के द्वारा 54 लाख एकड़ से ज्यादा भूमि सिंचित की गई और औसत भू–राजस्व प्राप्ति कुल लगी पूँजी या लागत की 20% रही। इसी प्रकार पंजाब में सतलुज घाटी परियोजना, जिसका निर्माण 1926–33 के बीच किया गया और जो 91.4 मिलियन रुपये से पश्चिमी यमुना, सरहिन्द और बारी–दोआब नहरों के बीच बचे क्षेत्र की सिंचाई के उद्देश्य से बनाई गयी थी, काफी लाभप्रदसाबित हुयीं 1943 में इससे 2 मिलियन एकड़ की सिंचाई हो रही थी और इस पर शुद्ध लाभ की दर 12% थी। इसी प्रकार 1919 में चालू की गई निम्न सिंधु नदी पर सूक्कर बाँध परियोजना भी 1941–42 में 5% और 1945–46 में 9.5% शुद्ध लाभ अर्जित कर रही थी। इसके विपरीत अवध प्रांत में निर्मित रोहिल खण्ड तथा पश्चिमी और दक्षिण अवध को सिंचित करने वाली सारदा नहर परियोजना जिसका निर्माण 1919 में पूरा हो चुका था और जिसपर 90 मिलियन रुपये की लागत आई थी, अपेक्षाकृत विफल साबित हुई। 1941–42 में इस पर अर्जित लाभ की शुद्ध दर 3% ही थी जबकि सिंचाई कमीशन (1901–02) ने उत्पादक सिंचाई–परियोजना के शर्त निर्धारित की थी कि वह निर्माण के 12 साल बाद कम से कम 5% की दर से शुद्ध लाभ अर्जित करे। अंत में हम सिंचाई–कार्यों के आर्थिक प्रभावों की चर्चा करेगें।

सिंचाई कार्यों के आर्थिक प्रभाव

सिंचाई कार्यों के गैर–आर्थिक प्रभाव जैसे – अकाल से राहत या किसानों के जीवन में खुशहाली लाने में भी मिला–जुला असर नजर आता है। 1900 में मद्रास और पंजाब दोनों में सिंचित क्षेत्र का अनुपात समान था लेकिन मद्रास में अकालों की भीषणता ज्यादा नजर आती है। मद्रास में शुष्क महीनों में नहरें जल–आपूर्ति की समस्या का हल नहीं कर सकती थी अगर उस इलाके में ठीक–ठाक बारिश न हो। पंजाब में नहरी सिंचित इलाकों में ग्रामीण अंचलों में आय में बढौतरी हुई। लेकिन सिंचाई कार्यों पर मानवीय और आर्थिक लागत भी काफी आयी थी। यह लागत मुख्यता इंजीनियरिंग त्रुटि का ही नतीजा थी क्योंकि इसमें फालतू जल की निकासी की ठीक व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके नतीजे के रूप में, उत्तर भारत में जगह–जगह रेह या क्षारीय तत्वों के जमा होने से भूमि की उर्वरता खत्म होने के लक्षण उभरे या दूसरे इलाकों में मलेरिया का प्रकोप बढ़ा। ऐसा नहीं था कि अंग्रेज अधिकारी इन नुकसानदायक प्रभावों से अवगत नहीं थे लेकिन उनका मानना था कि दूसरे लाभों को देखते हुए सिंचाई–कार्यों का विकास ठीक ही था।

नहरी सिंचाई के प्रभावों के बारे में एलिजाबेथ विट कॉम्ब और इयान स्टोन के बीच काफी गहरे मतभेद हैं। दोनों ने गंगा–दोआब क्षेत्र पर शेध किया है। इस बारे में ज्यादा बहस की गुंजाइश नहीं है कि नहरी–सिंचाई के कारण सिंध और पंजाब की बंजर पड़ी जमीनें कृषि–योग्य बनाने में मदद मिली। दोआब और गंगा–घाटी में, विटकॉम्ब ने दर्शाया कि सिंचाई के पर्यावरण सम्बंधी प्रभाव काफी खराब रहे। इस क्षेत्र में नहरों के जाल ने प्राकृतिक निकासी के जल–मार्गों को अवरूद्ध कर दिया। इससे जगह–जगह जल इकठ्ठा हुआ और उससे जमीन के क्षारीय तत्व सतह पर आने से **रेह** की समस्या पैदा हुई। इससे काफी इलाकों में भूमि की उर्वरता का नाश हुआ। मलेरिया–बुखारों का प्रकोप भी काफी तेजी से बढ़ना शुरू हुआ। नहरों ने कृषि क्षेत्र में खाद्यान्नों की बजाय नगदी फसलों के उत्पादन को बढ़ावा दिया जिससे खाद्यानों में आत्म–निर्भरता खत्म हो गयी। कुँओं की जगह नहरी–सिंचाई ने ज्यादा फसलें प्राप्त करने की दिशा में किसानों का रुझान बढ़ाया और घूमंतू पशुपालकों को स्थायी खेती करने पर मजबूर किया। इससे पशु–पालन पर भी बुरा असर पड़ता था। नहरी–सिंचाई के लिए धन की जरूरत बढ़ी, काश्तकारों के लगान बढ़े और फसलों की संरचना बदलने का असर ग्रामीण वर्ग संरचना पर भी पड़ा और ग्रामीण समाज में गैर–बराबरी बढ़ाने लगी। इयान स्टोन ने अपने अध्ययन, **कैनाल इरिगेशन इन ब्रिटिश इंडिया** (1984) में इसके विपरीत सिंचाई के किसानों की आय और समृद्धि पर सकारात्मक प्रभावों की चर्चा की है। उनके अनुसार नहरी सिंचाई ने एकड़ पैदावार में बढ़ौतरी की, फसलों की पैदावार में होने वाले उतार–चढ़ाव खत्म किये और जीवन–स्तर को ऊपर उठाने में भी मदद की। नहरों द्वारा जल–वितरण हाँलाकि स्थानीय सामाजिक और राजनैतिक संरचनाओं द्वारा प्रभावित होता था और इसके किसानों के विभिन्न वर्गों के बीच असमान वितरण ने निस्संदेह मौजूदा वर्ग–ढाँचे को ही मजबूती प्रदान की।

UNIT - II

अध्याय - 1(a)

शहरी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सततता

शहरी मंडियों और शहरी केन्द्रों का उभरना

उन्नीसवी सदी के शुरू में आर्थिक गतिविधियों के विसतार से गंगा घाटी में तेजी से शहरों और कस्बों का विकास होता है। अंग्रेजी राज के पहले की शासन व्यवस्थओं में शहरों का विकास स्थानीय प्रशासनिक केन्द्रों की पुर्नस्थापना से जुडा हुआ था। इसके विपरीत 19वीं सदी के शुरू में, शहरी मंडियों और केन्द्रो का उभरना घनिष्ट रूप से महानगरीय अर्थव्यवस्था की व्यापारिक जरूरतों से जुडा हुआ था। विभिन्न किस्म के उत्पादों के वाणिज्यीकरण ने भूमि, श्रम और साख मी मंडियों को विकसित करने में मदद की, शहरीकरण को प्रोत्साहन दिया और ग्रामीण उद्योगों को भी प्रभावित किया। इसने शहरों के विकास को भी बढ़ाया क्योंकि ये मंडियों के केन्द्र थे और व्यापारी–महाजनों के निवास–स्थल भी। व्यापारी–बनिये, यातायात के विशेषज्ञ तथा अनेक कृषि उत्पादों को संसोधित करने वाले विशेषज्ञ पहले से बसे शहरों जैसे आगरा और बनारस तथा व्यापार की दृष्टि से नई औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में लाभप्रद स्थिति में आये नये कस्बे जैसे मिर्जापुर और अनूप शहर आदि में आकर बसने शुरू हो गये। इन शहरों में आकर इन्होंने नयी मंडियों की स्थापना, गोदामों की स्थापना और निवास–स्थलों का निर्माण शुरू किया। उदाहरण के लिए मिर्जापुर का आकार 1815 और 1850 के बीच दुगना हो गया क्योंकि यह कपास के व्यापार में माल–गोदाम की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। इसी प्रकार की वृद्धि और विकास ब्रिटिश क्षेत्र के अन्य मुख्य शहरों में भी महसूस की गई–हाँलाकि यह वृद्धि की दर कम थी। इन शहरों में प्रमुख थे–बरेली, आगरा, इलाहाबाद, बनारस, कानपुर और फरूखाबाद आदि। यहां तक कि दिल्ली भी 18वीं सदी की उथल–पुथल के बाद दुबारा पुर्नजीवित हो रही थी।

उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रों की तस्वीर इतनी साफ नहीं है। इन क्षेत्रों में प्रशासनिक–दरबारी–शहर जो 18वीं सदी में प्रमुख शहरीकरण के नमूना पेश करते थे–अब भी अहम भूमिका निभाते नजर आते है। लखनऊ इस समय उत्तरी भारत का एक बड़ा समृद्ध और महत्त्वपूर्ण शहर था जो अभी भी विस्तार की दिशा में बढ़ रहा था क्योंकि यह प्रांतीय राजधानी भी था और दिल्ली के पतन के बाद अपेक्षाकृत इसका महत्व ज्यादा बढ़ गया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू में लाहौर भी पुर्नजीवित हुआ क्योंकि रणजीत सिंह की शक्ति बढ़ने के साथ–साथ लाहौर का विस्तार भी हुआ हॉलाकि 1847 में इसकी जनसंख्या को अनुमान दिखाता है इसमें 85,000 लोग निवास करते थे। इसका मतलब है कि यह अपनी सत्तरहवी सदी की उस बुलंदी पर नही पहुचा था जहाँ इसे लंदन से तुलना करके देखा जाता था। अमृतसर भी इस वक्त का एक और अभरता हुआ व्यापारिक केन्द्र था जो गंगाघाटी और कश्मीर और अफगानिस्तान के बीच लम्बी दूरी के विलास की वस्तुओं के व्यापार के कारण मशहूर हो रहा था। इसके विपरीत नागपुर तथा अन्य मध्य–भारत के शहर इस समय अवनति के रास्ते पर चल रहे थे खास कर 19वीं सदी के पहले 20-25 सालों में इनकी अवनति के लक्षण ही मिलते हैं। पहले युद्ध और बाद में दरबारों के स्थान बदल जाने से इन मध्य–भारत के शहरों ह्रास हुआ। 1830 और 1840 के दशकों में इनका पुर्नउत्थान शुरू होता है। इसके विपरीत राजस्थान के शहर ज्यादा स्थायी थे। लेकिन खास बात यह थी किसी भी दरबारी–प्रशासनिक केन्द्र का उतनी तेजी से विस्तार नहीं हो रहा था जैसा ब्रिटिश–विजित क्षेत्र के व्यापारिक केन्द्रों का हो रहा था। अवध में इसके ब्रिटिश–साम्राज्य में विलय के समय कुद ही शहर थे और पंजाब में भी 1855 में 10,000 से ज्यादा आबादी वाले कस्बों और शहरों की संख्या 34 ही थी।

1757 और 1857 के बीच उत्तर भारत में महानगरीय अर्थव्यवस्था के प्रभाव के कारण कलकत्ता और गंगा नदी के माध्यम से इस क्षेत्र में आर्थिक क्रिया कलाप बढ़ते हैं। दो कारणों से इन आर्थिक किया–कलापों का विस्तार होता है :

1. इस समय की प्रेरक शक्ति जो इस समय को दूसरे वक्तों से अलग करके विशिष्ट बनाती है वह मुख्यतया निर्यात–फसलों की मांग थी। इसके कारण पूरे उत्तर भारत की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हुए और ये गंगा नदी के मार्ग से कलकत्ता तक व्यापारिक गतिविधियाँ बढ़ाने में मदद करते हैं। इसने यातायात–व्यवस्था में भी बदलाव लाने में मदद की। गंगा नदी पर बड़ी और ज्यादा नौकाएं चलनी शुरू हो जाती है और स्थल यातायात के लिए बोझ ढोने वाले पशुओं की जगह ग्रामीण अंचलों से आगरा, फरूखाबाद और आजमगढ़ आदि तक बोझ और माल ढोने के लिए बैलगाड़ियों का इस्तेमाल शुरू होता है। उन जिलों में जहाँ नदी का बहाव था वहां कृषि में गंभीर परिवर्तन हुए। ये कपास, चीनी, नील और अफीम के उत्पादक क्षेत्र बन गये। बाकी क्षेत्रों में भी भूमि–उपयोग बढ़ गया और इससे स्थानीय आंतरिक अन्न का व्यापार भी बढ़ाता है। शहरी केन्द्रों का विकास नदी के साथ–साथ ज्यादा नजर आता है क्योंकि उत्तर और पश्चिम भारत से व्यापारी

विस्तृत हो रहे निर्यात–व्यापार का लाभ उठाने के लिए इन इलाकों में आकर बसना शुरू हो जाते हैं। यहाँ कलकत्ता शहर के महत्त्व पर बल देना जरूरी है क्योंकि चाहे यह भले ही उत्तरी भारत के इस इलाके से बाहर था, फिर भी यह इस क्षेत्र के यातायात और मंडियों के जाल का केन्द्र–बिंदु था और तमाम उत्तर भारत के व्यापारियों की नजर इसके व्यापार पर रहती थी।

2. उत्पादन और वितरण का पूरा विस्तार 1757 से पहले के मौजूद व्यापारिक संगठन के ढांचे और स्वरूप पर आधारित था। उत्तर भारत में मुगल काल से ही पारस्परिक रूप से जुड़े व्यापारिक केन्द्रों का श्रेणीबद्ध ढाँचा काम कर रहा था। मंडियों का विलास की वस्तुओं, आम जरूरत की वस्तुओं और स्थानीय जरूरत की वस्तुओं के रूप में विभाजन काफी पुराना था और 1857 तक भी मंडियों में इस तरह का विभाजन कायम रहा। हॉलाकि इस तरह के व्यापार के विभाजन में बदलाव आना शुरू हो चुका था। इस समय ग्रामीण यूनाइटेड प्रॉविन्स में मशीन के बने सूती कपड़े की खपत बढ़ रही थी, विलास की वस्तुओं के निर्यात की जगह आप जरूरत की वस्तुओं का निर्यात जैसे शालों का निर्यात भी बढ़ रहा था। कारीगर और किसान अपने उत्पादों को पहले बसे कस्बों या ग्रामीण अंचलो में समय–समय पर लगने वाले हाटो में ही बेचते थे। स्थानीय व्यापारी–बनियें अपने माल को खुदरा स्तर गॉव वालों को बेचते थे तथा थोक के आधार पर बीच के स्तर के शहरी केन्द्रो के व्यापारियों के हाथ बेचते थे। इन कस्बों का अपना अलग महत्व था – खुदरा व्यापार के लिए भी और इसलिए भी ये क्षेत्रीय व्यापारिक केन्द्रों जैसे अमृतसर, नागपुर और जयपुर से जोड़ने वाली बीच की कड़ी का काम करते थे। ये क्षेत्रीय व्यापारिक केन्द्र ही गंगा की घाटी में से होने वाले लम्बी–दूरी के व्यापार को संचालित करते थे इस तरह के व्यापार में परिवार ही मुख्य आधार था यानि सभी स्तरों पर व्यापरिक गतिविधियॉ पारिवारिक आधार पर ही संगठित थी। हॉलाकि अलग–अलग स्तर के व्यापारियों के व्यापार का आकार, पूँजी तथा दूसरे व्यापारिक घरानों से संबंध अलग–अलग किस्म के थे। 1757 के बाद भी व्यापारी किसानों, ठेकेदारों और औद्योगिक उत्पादन में लगे कारीगरों को अग्रिम धन–राशि के जरिये व्यापारी मंडियों पर भी नियंतत्र कायम रखते थे। इस तरह के सबूत उत्तर भारत में नहीं मिलते जिससे यह साबित हो कि व्यापारी पूर्वी भारत के जैसे अग्रिम राशि देकर उत्पादन और वस्तुओं के परिष्करण पर नियंतत्र स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे क्योंकि उत्तर भारत के व्यापारी उत्पादन में सीधा हस्तक्षेप किये बगैर भी पर्याप्त मात्रा में उत्पादित माल हासिल कर पर रहे थे। यहॉ तक कि व्यापारियों द्वारा भूमि पर नियंतत्र स्थापित करने की कोशिश भी उत्पादन को वित्तीय–सहायता प्रदान करने का या प्रभाव और प्रतिष्ठा बढ़ाने का नतीजा था ना कि स्वयं उत्पादन–प्रक्रिया में भागीदार बनने का। कारीगरी उत्पादन या कृषि के क्षेत्र में इस समय कोई तकनीकी बदलाव भी नहीं आता है।

मौजूदा आंकड़ों के आधार पर यह कहना मुश्किल है कि 19वीं सदी के पूर्वाध मे शहरों की अवनति हो रही थी या नहीं। हॉलाकि कुछ पुराने शहरों और व्यापारिक केन्द्रों जैसे मुर्शिदाबाद, ढाका, बर्धवान की जनसंख्या में कमी आने या जनसंख्या के स्थिर रहने के संकेत और सबूत मिलते है जिन पर भरोसा भी किया जा सकता है लेकिन साथ ही साथ हमें नये औपनिवेशिक महानगरों जैसे कलकता आदि के तेजी से विस्तार के सबूत भी दिखाई पड़ते हैं। इसके साथ –कई नये प्रशासनिक और व्यापारिक केन्द्र जैसे भागलपुर आरा, छपरा, सेरामपुर, कटक और छिनसुरा जैसे छोटे शहरों के विस्तार के लक्षण भी देखने को मिलते हैं। 1815 में वाल्टर हैमिलटन के अनुमान के अनुसार ढाका की जनसंख्या 1,50,000 थी लेकिन ढाका के मजिस्टेट द्वारा किये गये सर्वे के अनुसार यह लगभग 67,000 ही थी। 1830 और 1872 के बीच ढाका की जनसंख्या 68000-69000 के लगभग ही रही यानि शहर का विस्तार बिल्कुल जैसे बंद पड़ा था। मुर्शिदाबाद में भी जनसंख्या कम होने के संकेत मिलते हैं जबकि कलकत्ता का तेजी से विस्तार होना शुरू होता है – 1821-22 में 1,80,000 से बढ़ कर इसकी जनसंख्या 1872 में 4,28,00 हो जाती है। बिहार और उड़ीसा के कई कस्बों का भी प्रशासनिके और व्यापारिक केन्द्रों के रूप में विस्तार 19वी सदीं में होता है।

इसी प्रकार राजनैतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप अठारहवी और उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी भारत की व्यापारिक परिस्थिति में भी महत्वपूर्ण बदलाव आता है। इसमें बहुत से शहरों के आर्थिक स्तर के तेजी से उतार–चढ़ाव आता है। पूना, जो 1750 तक एक छोटा सा कस्बा ही था, अठारहवी सदी के उतरार्ध में पेशवाओं की गद्दी का प्रशासनिक केन्द्र बन जाने से ब्राह्मण–साहकारों खासकर चितपावन समुदाय की व्यापारिक और महाजनी की गतिविधियों और उन्हें मराठा–राज्य के संरक्षण मिलने से, बहुत तेजी से समृद्धि की बुलंदियों को छू लेता है। 1818 में पेशवाओं की हार के बाद पूना फिर अपनी व्यापारिक महत्ता को तेजी से गवॉ देता हे और दुबारा 1850 के बाद ही यह अपनी पहली स्थिति प्राप्त कर पाता है। पेशवाओं की यह सामान्य नीति थी कि महाजन और सेठों को रियायतें देकर और आनुवंशिक भू–सम्पति के अधिकार या वतन के अधिकार देकर उन्हें शहरों में नये–नये मौहल्लों में बसाया जाये। अठारहवी सदी के उत्तरार्ध में पूना, नासिक, शोलापुर और धारावाड़ आदि शहरों में व्यापारी–महाजनों के नये मोहल्ले इसी प्रकार बसाये गये थे। 1818 में अंग्लों–मराठा युद्ध में पेशवाओं की हार के कारण पूना का व्यापारिक महत्व बहुत तेजी से कम हो गया लेकिन दक्कन प्रदेश के कुछ अन्य शहर जैसे शोलापुर ओर हुबली का व्यापारिक महत्व तेजी से बढ़ा क्योंकि ये व्यापारिक मार्गो पर स्थित थे और मराठा–शासन से पहले भी ये महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे।

सिंध में, अठारहवीं के सदी के दूसरे भाग में पुराने व्यापारिक केन्द्र थाटा की तेजी से अवनति हुई और दूसरे व्यापारिक केन्द्र जैसे कराची, शिकारपुर और 1768 में गुलाम शाह कल्होरा द्वारा स्थापित नया शहर, हैदराबाद तेजी से विकसित होते हैं। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में ही भावनगर के रावलों की कोशिश की वजह से काठियावाड़ में भावनगर का महत्व बढ़ जाता है। लेकिन इसी समय काठियावाड़ के दूसरे व्यापारिक केन्द्रों गोधा और धोलेरा की अवनति भी होती है। सत्रहवीं सदी में डच और अंग्रेज व्यापारिक कम्पनियों की व्यापारिक गतिविधियों के कारण सूरत पश्चिमी भारत का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र बन जाता है जबकि काम्बे जो सदियों से इस क्षेत्र का महत्वपूर्ण व्यापारिक बंदरगाह रहा था–उसका समुद्री–व्यापार में योगदान कम होता चला जाता है और अठारहवीं सदी के अंत तक इससे समुद्री–व्यापार लगभग खत्म हो जाता है। यही हाल भड़ुच का भी हुआ जो उन्नीसवीं सदी के शुरू होते होते पतन के कगार पर पहुँच जाता है। अठारहवी सदी के प्रारंभ में अहमदाबाद का व्यापारिक प्रभाव भी कम होता है लेकिन अंग्रेजी राज के दौरान उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में यही दुबारा से व्यापारिक प्रगति की तरफ बढ़ना शुरू होता जाता है। लेकिन धीरे–धीरे सूरत बंदरगाह क व्यापार भी तथा दक्षिण के बंदरगाहों जैसे कारवाड़, कुमरा और होनावर का व्यापारिक महत्तव भी कम होने लगता है। उन्नीसवीं सदी के शुरू से ही बम्बई बंदरगाह ईस्ट इंडिया कम्पनी के पश्चिमी भारत में राजनैतिक और व्यापारिक राजधानी के रूप में उभरता है और सारा समुद्री–व्यापार यहाँ पर केन्द्रित होता नजर आता हैं 1795 के बाद से सूरत के व्यापारियों का लगातार बम्बई में आकर बसना शुरू हो जाता है। 1818 में पूना के पतन के बाद बम्बई का पश्चिमी भारत के व्यापार में महत्व और अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार व्यापारिक केन्द्रों के घटते–बढ़ते महत्व का असर देश के अंदर के व्यापारिक मार्गो की दिशा पर भी पड़ता है। जैसे सूरत की जगह बम्बई सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र जब बना तो जो व्यापार देश के अंदरूनी भागों से पहले खानदेश के रास्तें से सूरत पहुँचता था अब अहमदनगर से होते हुए बोर और थाल दरों से होते हुए बम्बई पहुँचने लगा। इस तरह का एक और महत्त्वपूर्ण व्यापारिक परिवर्तन 1820 के दशक में हुआ। अंग्रेजी सूती कपड़ों के बढ़ते आयात के कारण बंगाल के सादे सूती कपड़ों का निर्यात–मूल्य तेजी से कम हुआ–यह 1816 में 17 मिलियन रुपये से कम होकर 1826 में 3 मिलियन रुपये का ही रह गया। इसकी वजह से बंगाल के जुलाहों की बेराड़ की कपास की माँग खत्म सी हो गयी। यह कपास अब दक्कन होते हुए बम्बई बंदरगाह शाह पर निर्यात के लिए आने लगी। दक्षिण भारत में युरोपीय कम्पनियाँ व्यापारिक गतिविधियों में काफी लम्बे समय से सक्रिय थी। अठारहवीं सदी में यहाँ अनेक शहरी केन्द्र और व्यापारिक बंदरगाहों का अस्तित्व देखने को मिलता है। पश्चिमी तट पर कोचीन, मैंगलूर, होनावर तथा पश्चिमी तट पर मच्छलीपट्टम्, पुलीकट और नेगापट्टिनम महत्त्वपूर्ण बंदरगाह–शहर थे। इसके अलावा दक्षिण भारत में कई देशी–शासकों की राजधानियाँ जैसे मदुरैई और तंजादूर और औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र जैसे कांचीपुरम और आंतरिक व्यापार के केन्द्र जैसे बैगंलूर भी महत्वपूर्ण केन्द्र थे। बड़े–बड़े शहर और व्यापारिक केन्द्रों के इर्द–गिर्द छोटे शहरों और अर्ध–शहरी कस्बों का जमघट और घेराव भी था जहाँ। बड़े पैमाने पर व्यापारी–व्यावसायी तथा कारीगर बसे हुए अपने उत्पादन और वितरण के आर्थिक कियाकलापों में अहम भूमिका अदा कर रहे थे। सामन्यतया यह तर्क दिया जाता है कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में देशी राजाओं और शासकों और उनके दरबारी वर्ग के खत्म होने से उन पर आश्रित विलास की वस्तुओं का उत्पादन और वितरण–प्रणाली दोनों नष्ट होने लगते है। इससे यह अंदाजा लगाया जाता है कि शहरीकरण की भी तेजी से अवनति होती है। लेकिन ब्रिटिश व्यापारी और प्रशासकों को ऐसे भारतीय सहायकों और दलालों की जरूरत थी जो उनके आर्थिक और प्रशासनिक उत्तरदायित्वों में मदद कर सकते और बहुत से भारतीय समृद्ध वर्ग के लोग इसमें उनके सहायक बने।

युरोपीय कम्पनियों और ब्रिटिश शासकों द्वारा विकसित किये गये बंदरगाह–शहरों की एक विशेषता यह थी कि इनमें शहरों के प्राकृतिक स्थान को निवास के लिए रंग और नस्ल के आधार पर बाँटा गया था। यूरोपीय व्यापारियों और अन्य निवासियों के रहने के भाग को उंची दीवारों और बागों के द्वारा बाकी शहर से अलग किया गया था हाँलाकि शहर–निर्माण में भारत की वास्तुकला के कुछ पहलुओं को भी शमिल किया गया। प्रायः सभी नये बसाये शहरों में युरोपीय उपनिवेशवादियों ने निवास स्थलों, धार्मिक स्थलों और समुदाय की आंतरिक व्यवस्था इसी आधार और डिजाईन के अनुसार की। इन नये व्यापारिक केन्द्रों में भारतीय व्यापारी वर्ग की स्वतंत्रता उन्नीसवीं सदी से पहले ही खत्म हो चुकी थी लेकि यूरोपीय नीति व्यापारियों और निर्यात–व्यापार में लगे एजेन्सी घरानों ने बिचौलियों के रूप में इनकी सेवायें लेनी जारी रखी। कुछ बड़ी व्यापारिक जातियाँ जैसे तमिलनाडुके चेट्टियार तेलूगू क्षेत्र के कोमती और कन्नड़ प्रदेश के बालिजा या मुसलमान लब्बाई व्यापारी सदियों से सुसंगठित रूप से काम कर रहे थे और यूरोपीय नये व्यापारिक केन्द्रों के विकास ने इनकी सामाजिक स्थिति डॉवाडोल करने की बजाय कई बार इन्हें व्यापार और साहूकारी व्यवसाय के नये सुअवसर प्रदान किये। यूरोपीय व्यापारियों के विचौलियों के रूप में काम करते हुए कई व्यापारी समुदाय जैसे कलकता में मारवाड़ी और बम्बई में पारसी काफी सम्पन्न बने और बाद में दलाली के रूप में अर्जित और संचित पूँजी को मौका पकर इन्होंने नये औद्योगिक क्षेत्रों में भी लगाया। बिड़ला और टाटा के घरानों का उत्थान इसी तरह की प्रक्रिया का नमूना पेश करता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि औपनिवेशिक काल में शहरीकरण का स्वरूप यूरोप से एकदम अलग किस्म का था। यूरोप में औद्योगिकरण के कारण ही तमाम आधुनिक शहरीकरण पैदा हुआ। हिन्दुस्तान के औपनिवेशिक ढंग के शहरीकरण में नये शहर

और महानगर व्यापार और प्रशासनिक केन्द्रों के रूप में ही उभरे। कल कारखाने कहीं–कहीं कभी–कभी महानगरों के आसपास या उनके बीच में बाद में उठ खड़े हुए। यह प्रक्रिया 19वीं सदी के उत्तरार्ध में कलकता में जूट–उद्योग और बम्बई में सूती–कपड़ा मिलों की स्थापना से शुरू होती है और कई बार बाद में अन्य आधुनिक मशीन उद्योगों जैसे लोहे और इस्पात जमशेदपुर चमड़ा–उद्योग मद्रास अहमदाबाद और कानपुर कपड़ा–उद्योग में धीरे–धीरे फैलती है। 1853–54 से रेलवे के विकास और फैलाव का उद्देश्य कुछ समुद्र तटों पर स्थित बंदरगाह शहरों को जैसे कलकता, मद्रास, बम्बई और कराची आदि को देश के भीतर के भागों से जोड़ना था ताकि औपनिवेशिक व्यापार का ढॉचा मजबूत हो सके कृषि–उत्पाद का निर्यात और इंग्लैण्ड के औद्योगिक माल की देशी मंडियों में पहुँचाने की कोशिश यहीं इसकें मूल उद्देश्य थे। इन महनगरों में इस विदेशी व्यापार को चलाने के लिए कई तरह की अन्य आर्थिक संस्थाएं उठ खड़ी होती है जैसे आयात–निर्यात की बड़ी कम्पनियॉ, बीमा–कम्पनियॉ, विनिमय बैकों की शाखायें, जहाजरानी कम्पनियों के दफतर आदि। शुरू से ही ये बंदरगाह–शहर प्रशासनिक केन्द्रों के रूप में भी उभरते है और इनकी सुरक्षा के लिए इनकी किलेबंदी शुरू से ही की गयी। ब्रिटिश शासन काल में भारत का सीमित स्तर का ही औद्योगिकरण हुआ लेकिन विदेशी व्यापार के लिए आधुनिक परिवहन या यातायात व्यवस्था और अन्य व्यापारिक सुविधायें उपलब्ध होने के कारण इनमें कपास, जूट जैसे कृषि उत्पाद आसानी से सस्ती दरों पर मिल जाते थे जिसका फायदा उठा कर औद्योगिक उद्यमियों ने यहॉ कारखाने भी स्थापित कर डालें। यहॉ पर दूसरे किस्म की स्थानीय और प्रशासनिक सुविधायें भी उपलब्ध थी। इसका मतलब है कि ये शहर औद्योगिक नगरों के रूप में नही उभरे थे बल्कि विभिन्न स्थानीय कारणों से इनमें थोड़ा–बहुत औद्योगिकरण भी हो जाता है। लेकिन इसके विपरीत कुछ अपेक्षाकृत छोटे शहर–जैसे कानपुर, शोलापुर, कोयम्बतूर और अहमदाबाद–निश्चय ही औद्योगिक नगरों के रूप में विकसित हुए। लेकिन औपनिवेशिक काल के ज्यादातर शहर औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र न होकर मुख्यतयाः परिवहन, प्रशासनिक और व्यापारिक सेवाओं के ही केन्द्र थे।

दो विश्वयुद्धों के बीच के अंतराल में हम पाते है कि औद्योगिकरण की विविधता के कारण छोटे नगरों में अनेक तरह के लघु–उद्योग जैसे चावल और तेल की मिलें, चीनी की मिलें, कपास से बिनौला निकालने वाली मिलें आदि भी स्थापित होती है। इन लघु–उद्योगों में खाद्य–सामग्री का उत्पादन, पेय–पदार्थ तथे तम्बाकू की फैक्टरियॉ, लकड़ी और चीनी–मिटी के बर्तन बनाने का काम, कॉच की फैक्टरियॉ आदि प्रमुख थे। इनमें से काफी किस्म की मिलें और फैक्टिरियॉ मौसमी (seasonal) आधार पर काम करती थी खासकर खाद्य और कृषि उत्पाद से जुड़ी छोटी औद्योगिक ईकाईयॉ इसी आधार पर उत्पादन और परिष्करण के काम में लगी हुई थी। ये ज्यादातर कच्चे माल की आसानी से आपूर्ति हो सकने वाले क्षेत्रीय–कस्बों में समूह के रूप में विकसित होती हैं।

औतनिवेशिक शहरों में – चाहे वे बड़े थे या छोटे – सभी में कुछ खास रूप–विधान (morpholoty) नजर आती है। इनमें गोरे और काले लोगों के निवास अलग–अलग थे। इसी तरह इनमें जातिगत भेद (थोड़े से सुसंस्कृत रूप में) दिखाई देते है। धन कमा कर कुछ भारतीय जैसे कलकत्ता में जमींदार और बम्बई के व्यापारी अंग्रेजी मोहल्लों के आसपास ही रहते थे लेकिन फिर भी अंग्रेज साहबों और स्थानीय 'नैटिव' के बीच सामाजिक दूरी–निवास स्थलों के अलग–अलग होने में भी झलकती नजर आती है। यह सामाजिक विभेद और दूरी ल्यूटेन्स द्वारा निर्मित नयी दिल्ली में खुल कर दिखाई देता है। जैसे वायसराय का निवास (वर्तमान प्रेजीडैन्ट हाउस) किंग्सवे (आजकल का राजपथ) और क्वींसवे (अब जनपथ) और रायसीना की पहाड़ियों पर अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों के बंगले इस स्थानिक प्रथक्करण (Spatial separation) को साफ रूप से दिखालते हैं। यही नहीं कहीं कहीं शहर की परिकल्पना में स्थानी निवासियों के भेद (जातिगत) को भी अंग्रजों ने बनाये रखा जैसे मद्रास में 'उंची जाति' और 'नीची जाति' के बीच भेद करने की कोशिश की गयी थी। सामन्यतया औपनिवेशिक विचारधारा के प्रभाव से विद्वान अंग्रेजी काल के दौरान उभरे शहरी और व्यापारिक केन्द्रों को आधुनिकता का और सामाजिक परिवर्तन का पर्याय मानने की भूल करते आये हैं। हॉलाकि इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि नये शहरों के विकास से कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं हुआ। लकिन यह सामाजिक बदलाव सीमित ही था और हम सीधे शहरीकरण को समाज के आधुनिकरण का प्रतीक नहीं मान सकते। समाजशास्त्री सतीश सब्बरवाल का मानना है कि 19वीं सदी के पहले जैसे जाति के कठोर बंधन शहरों में थोड़े ढीले पड़ रहे थे और उनमें बदलाव के लक्षण दिखाई पड़ते है पर शहरीकरण के कारण पुरानी जाति–व्यवस्था में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आया। यह इसलिए सम्भव है कि शहरी तकनीकी के नये पहलू–जैसे रेल यातायात, डाक व्यवस्था आदि, छापाखाना और संचार व्यवस्था अपने आप में आधुनिकता को जन्म नहीं दे सकते। यह भी हो सकता है कि इनके माध्यम से साम्प्रदायिक भेदभाव और विचार, जाति–पॉति की भावना और धार्मिक मनोवृतियों का और ज्यादा प्रभावशाली तरीके से प्रसार समाज में होने लगे। हॉलाकि नये शहरों में कहीं–कहीं जातिगत पेशे में बदलाव के उदाहरण दिखाई पड़ते हैं लेकिन फिर भी बड़े पैमाने पर जातिगत पेशे के पुराने ढॉचे में नगरीकरण कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में कामयाब नहीं रहा।

अध्याय - 1(b)

भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास

भारत में आधुनिक उद्योगों से हमारा मतलब है बड़े स्तर के उद्योग–धंधे जिनको तीन मुख्य विशेषताओं–तकनीकी, संगठन और सरकारी नियतंत्र की विधि से परिभाषित किया जा सकता है। बड़े उद्योग धंधों में आधुनिक मशीनों की तकनीकी का इस्तेमाल किया गया, औद्योगिक संगठन की दृष्टि से बड़ी–बड़ी फैक्टिरियों में उत्पादन किया गया और ब्रिटिश सरकार के श्रम कानून लागू किये गये। भारत में इन उद्योगों की स्थापना करने की प्रेरणा इग्लैण्ड के साथ बढ़े आर्थिक सम्बंध ही प्राप्त हुई थी। आंरभिक आधुनिक मिलों में, फैक्टरी का विचार, तकनीकी जानकारी, मशीनें, पूंजी का एक भाग और इजीनियर तथा मैनेजर ब्रिटेन से ही आये सूती कपड़े की मिलों और जूट कह मिलों में अधिक पूंजी लगाकर और नये किस्म का औद्योगिक संगठन अपना कर ब्रिटेन की तर्ज पर औद्योगिक ईकाईयाँ स्थापित करने का काम भारत में 1850 के दशक में शुरू होता है। इसी तरह राज्य के द्वारा कानून बनाकर फैक्टरी में श्रमिकों की कार्य करने की परिस्थितियों का नियंतंत्र या कम्पनी के प्रबंधन का स्वरूप निर्धारित करना एक दम अनूठा था।

बड़े पैमाने के उद्योगों में भारत में अंगेज शासन काल के दौरान कुल औद्योगिक श्रम का एक छोटा हिस्सा ही काम कर रहा था लेकिन इसकी उत्पादकता और कुशलता अन्य आर्थिक क्षेत्रों से अधिक होने के कारण राष्ट्रीय आय में इसका योगदान अपेक्षाकृत अधिक था। इन उद्योगों के आने से शहरीकरण की प्रवृत्ति में भी गुणात्मक बदलाव आता है। इससे शहर की श्रम, मंडियों का स्वरूप बदला और आर्थिक आधारभूत ढाँचे के निर्माण को जैसे रेलवे का विस्तार, बैंकों की स्थापना, तकनीकी विद्यालयों और संस्थाओं की स्थापना आदि को प्रोत्साहन मिलता है। इसके जरिये प्रबंधन की नयी विधियाँ अपनायी गई औ सेवाओं के आधुनिकीकरण खासकर व्यापार और बैंकों के आधुनिकीकरण को बल मिला।

अगर हम सरकार द्वारा पंजीकृत फैक्टरियों को ही आधुनिक बड़े उद्योगों में शामिल मान ले तो 1891 में ब्रिटिश भारत में इस तरह के उद्योगों में कुल औद्योगिक श्रम–शक्ति का 5% ही रोजगार प्राप्त कर रहा था। 1983 में यह प्रतिशत बढ़कर मात्र 11% तक पहुँचता है। लकिन बड़े फैक्टरी स्तर के औद्योगिक उत्पादन का हिस्सा कुल औद्योगिक उत्पादन में 1900 में 15% था जो 1947 में बढ़कर 45% हो जाता है। इसी प्रकार फैक्टिरियों में काम कर रहे श्रमिकों की संख्या 1891 में 3,16,815 से बढ़कर 1938 में 17,37,755 हो गयी। फक्टरी श्रमिकों में पुरूष श्रमिकों का अनुपात हमेशा 80-85% के बीच रहा जबकि महिला–श्रमिकों का अनुपात 14% - 15% तक ही सीमित रहता है। 19वीं सदी के अंत तक बाल–श्रमिकों का अनुपात भी लगभग 6% तक रहा जो बाद में विशेष कर प्रथम विश्व युद्ध के बाद तेजी से कम हो जाता है। बीसवीं सदी में महिला की सूती–कपड़े और जूट की मिलों में श्रमिकों के रूप में भागीदारी कम हो जाती है हॉलाकि औद्योगिक–उत्पादन में उनका कुल अनुपात स्थिर ही रहता है। ऐसी सम्भवतया महिला–श्रमिकों को लघु–उद्योगों से जुड़ी फैक्टरियों में बड़े पैमाने पर लगाये जाने से होता है।

औपनिवेशक काल में फैक्टरी–उत्पादन व्यवस्था में वस्त्र–उद्योगों का वर्चस्व देखने को मिलता है। इसमें सूती और जूट की कताई औ बुनाई करनें वाली मिलों के अलावा कपास से बिनौले निकालने वाली जिन तथा जूट की प्रेस भी शामिल थी। इसके अलावा कुछ रेशम और उन के वस्त्रें की फैक्टिरियाँ भी व्यापक औद्योगिक उत्पादन का हिस्सा थी। इसके बाद खाद्य सामग्री को परिष्कृत करने वाली फैक्टरियाँ जैसे चावल और तेल की मिलें, चीनी मिलें और तम्बाकू–उत्पाद की फैक्टिरियाँ थी। रासायनिक, धातु तथा मशीन–निर्माण के उद्योग पूंजीगत वस्तुओं (Capital Goods) के उत्पादन के मुख्य क्षेत्र थे। इन पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों में रोजगार का हिस्सा बहुत कम था। धातु और मशीन–निर्माण उद्योग फैक्टिरियों कां एक मिजा–जुला समूह था जिसमें छोटी–छोटी मरम्मत करने वाली वर्कशॉपों के साथ–साथ टाटा स्टील जैसा बड़ा कारखाना भी शामिल था। एक तरह से बम्बई और कलकत्ता में सबसे अधिक मिलें स्थित थीं। ये दोनों शहर व्यस्त बंदरगाह थे तथा यहाँ यातायात का जाल भी बिछा था। दोनों ही शहरों का विस्तार 19वीं सदी के शुरू में निर्यात–व्यापार बढ़ने से हुआ था। कलकत्ता में यूरोपीय बस्ती भी काफी बड़ी थी। 1850 के दशक से कलकत्ता में ब्रिटिश पूंजी की मदद से जूट–उद्योग और बम्बई में देशी पूंजी के माध्यम से सूती–वस्त्र का विकास शुरू हुआ था। बाद में दो विश्वयुद्धों के अंतराल में अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर आदि में भी सूती–मिलों की तेजी से स्थापना होती है।

प्रथम विश्व–युद्ध से पहले के औद्योगिक विकास के बारे में सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है कि 1850 के दशक से विकसित हो हि उद्योगों के लिए पूंजी कहाँ से आती है? और दूसरा यह कि इन लोगों ने क्यों बड़े उद्योगों में पूंजी का निवेश शुरू किया। पहले सवाल का जवाब है कि यह पूंजी 19वीं सदी में तेजी से बढ़ रहे वाणिज्यीकरण और विदेशी व्यापार के माध्यम से प्राप्त सुअवसरों के माध्यम से देश में पूंजी के आंतिरक संचय से आती है और कुछ हद तक विदेशी निवेश से भी। भारत का चीन के साथ बढ़ता व्यापार और भारत–चीन व्यापार में ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार खत्म होने से (1830-1834), भारतीय

व्यापारियों और आयात–निर्यात कम्पनियों के लिए बिचौलियों का काम करने वाले एजेन्टों को काफी फायदा मिला। अपने अर्जित मुनाफों को इनके द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में लगाया गया। दूसरे सवाल के बारे में कहा जा सकता है कि 1850 के दशक में पूंजीवादी समृद्धि के कारण औद्योगिकरण का यूरोप से बाहर विस्तार होना भी शुरू हो जाता है। इग्लैण्ड के पूंजीपति अपनी संचित पूंजी को लाभकारी ढंग से निवेश करनें के माध्यम ढूँढ़ना शुरू करते हैं और यातायात संचार साधनों के सुधार से महाद्वीप नजदीक आ जाते हैं। भाप से चलने वाले समुद्री–जहाज, टैलीग्राफ का इस्तेमाल और स्वेज नहर का खुलनाइस प्रकिया मदद देने वाले कारक थे। 1860–65 मे कपास के मूल्यों हुई तेजी से वृद्धि के कारण भारतीय व्यापारी–महाजन खूब मुनाफे कमाते हैं और इन मुनाफों में से कुछ सूती मिलों के निर्माण के रूप में दुबारा निवेश किये जाते हैं। आसाम के चाय–बागानों में और कलकत्ता के जूट उद्योग में भी यूरोपीय मैनेजिंग घराने इस समय काफी का निवेश करते हैं। भारत में शुरू की फैक्टरियों में बम्बई और अहमदाबाद मे लगाई गई सूती–कपड़े की मिलें और कलकत्ता की जूट मिले ही प्रमुख थी। इसीलिए इस समय के औद्योगिकरण में इन शहरों के आर्थिक इतिहास का वर्णन मिलता है।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारत के औद्योगिकरण पर कई प्रभाव पड़े। यूरोपीय राष्ट्र युद्ध में उलझे हुए थे और उन्हें अपने अपने उत्पादक–साधनों को युद्ध के लिए साजो–सामान के निर्माण में लगाना पड़ा। भारत प्रत्यक्ष रूप ये युद्ध में शामिल नहीं था लेकिन इग्लैण्ड के उपनिवेश होने के कारण उस पर दो तरह के प्रभाव पड़े। औद्योगिक वस्तुओं की आपूर्ति कम होने से अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में भारतीय उद्योगों के माल की मॉग बढ़ी और साथ ही साथ भारत को मशानों, रसायनों तथा कच्चे माल के आयात में कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। हथकरघा बुनाई जिसके लिए सूत इग्लैण्ड की मिलों से आता था–वह बुरी तरह प्रभावित हुई। लेकिन भारत के स्टील, जूट और सूती कपड़ा उद्योग को भारी लाभ हुआ। युद्ध के कारण राष्ट्रवादी दबाव के कारण सरकार की औद्योगिक नीति में भी इस दौरान बदलाव आया। युद्ध के पहले तक ब्रिटिश सरकार सेना, रेलवे और प्रशासनिक उपयोग के लिए आवश्यक औद्योगिक–उत्पादों का आयात इग्लैण्ड से ही करती थी। इससे यह आरोप लगता रहा कि औपरनिवेशिक सरकार देशी उद्योगपतियों के हितों का ध्यान नहीं रखती। चयनात्मक संरक्षण (Selective Protecgtion) की नीति के तहत अब सरकार ने कुछ चुनिंदा भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन और संरक्षण देना शुरू किया। भारतीय वित्त आयोग (1921-22) ने उन शर्तों का निर्धारण किया जिसके आधार पर किसी देशी उद्योग को संरक्षण देकर उसके द्वारा उत्पादित माल पर (बाहर से आयात करने पर) ज्यादा आयात शुल्क लगाया जा सकता था। 1923 और 1939 के मध्य 11 भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया गया। ये उद्योग थे : नमक, भारी रसायन, लौह और इस्पात, सूती वस्त्र, चीनी, कागज, माचिश, रेशम–उत्पादन, सोने के धागे बनाने का काम, मैग्निशियम क्लोराईड और प्लाईवुड। इस संरक्षण का लाभ उठाकर दोनों विश्व युद्धों अंतराल में इस उद्योगों के विकास में काफी सहायता मिली। इससे इन उद्योगों की प्रगति और विविधीकरण दोनों को बल मिला। पुराने उद्योग और मिलों के द्वारा उनकी उत्पादन–क्षमता बढ़ाई गई और कई जगहों पर नये औद्योगिक केन्द्र पनपते हैं।

बड़े उद्योगों में वित्त, प्रबंधन और उद्यम की समस्यायें

भारत के आधुनिक उद्योगों के विकास में पूंजी या वित्तिय संसाधन की भारी कमी महसूस की जाती रही। आधुनिक औद्योगिक निवेश के लिए भली भॉति विकसित साख की जरूरत पड़ती है। यह तीन तरह के साधनों से प्राप्त हो सकता है– बैंक, पूंजी के बाजार या घरेलू बचत। 1850 में भारत में आधुनिक बैंक प्रणाली का अभाव था और इसके बाद भी धीरे–धीरे इसका विकास होता है। राज्य द्वारा समर्थित ज्यादातर बैंक अपते ग्राहकों का चुनाव करनें में काफी रूढ़िवादी थे और आसानी से भारतीय उद्योगपतियों और उद्यमियों को साख की सुविधा नहीं देते थे। अमिया कुमार बागची के अनुसार, बैक ऑफ बंगाल के ग्राहक मुख्यतया स्थानीय ब्रिटिश कम्पनियॉ ही थी। बैंक प्रणाली का समुचित विकास न होने से इसमें जोखिम और अस्थायित्व ज्यादा था। ज्यादातर भारतीय बैंक, स्थायी पूंजी के लिए निवेश का पैसा न देकर केवल कार्यशील पूंजी ही उद्योगों और मिलों को उपलब्ध कराते थे। इसलिए मिलें अपनी स्थायी पूंजी जरूरतों के लिए पूंजी–बाजारों पर ही निर्भर रहती थी। लेकिन भारत में पूंजी–बाजार छोटे और प्रभावहीन थे। सट्टा बाजारी ने भी पूंजी–बाजारों को बुरी तरह से प्रभावित किया। 1939 में भी शेयरों के माध्यम से पूंजी–बाजारों में निवेशित राशि अर्थव्यवस्था में कुल बचत का नगण्य हिस्सा ही थी। बम्बई और कलकत्ता दोनों प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में सट्टोरियों के दबदबे के कारण छोटे निवेशकर्त्ता पूंजी–बाजारों से दूर रहना ही पंसद करते थे। आर. एस. रूंगटा इस सट्टेबाजी के लिए मारवाड़ियों को जिम्मेदार बताते हैं लेकिन पूंजी की आपूर्ति कम होने से ही यह रूझान बढ़ता था। औद्योगिक समृद्धि की अवधि में ही निवेशकर्त्ता मिल या कम्पनी का पर्याप्त पूंजी उपलब्ध कराते थे क्योंकि ऐसे समय में ही कम्पनी निवेशकर्ताओं को उनके पूंजी के साधनों का भुगतान कर सकती थी लेकिन इसका अर्थ था कि कम्पनी को मशीनरी आदि स्थायी पूंजी की खरीदारी भी ऊँचे दामों पर ही करनी पड़ती थी। सामान्य अवधि में मिलों को पर्याप्य पूंजी उगाहने में कठिनाई होती थी।

भारत में उद्योगों से लगे उद्यमियों (enterpreneurs) का बड़ा समूह थ इसमें विभिन्न समुदायों के उद्यमी थे। जैसे पारसी (टाटा) मारवाड़ी (बिड़ला, डालमिया), गुजराती बनिये (बालचन्द हीराचन्द, अम्बालाल साराभाई, कस्तूर भाई लाल भाई आदि), पंजाबी

हिन्दू बनिया (लाला श्रीराम) तमिल ब्राह्मण) और नट्टकोट्टाई के चेट्टियार आदि। इनमें से बहुत से उद्यमी व्यापार और बैंक–प्रणाली से जुड़े रहे थे। शुरू में उद्यमियों ने सूती मिलों और जूट की मिलों में ही पूंजी लगाई लेकिन खासकर 1920 और 1930 के दशकों में आयात–प्रतिस्थापन वाले विभिन्न औद्योगिक क्रियाकलापों जैसे चीनी, सीमेन्ट और कागज में दखिल हो जाते हैं। बाद में इन उद्योगों के अर्जित मुनाफों का इस्तेमाल करके ये नये क्षेत्रों जैसे जहाजरानी (हीराचन्द), टैक्साटाईल मशीनरी (बिड़ला), सिलाई मशीने (श्रीराम) तथा हवाई परिवहन और जल विद्युत उत्पादन (टाटा) में भी कदम रखते है। भारतीय उद्यमियों ने जोखिम, अनिश्चिता और पर्याप्त जानकारी के अभाव में भी ब्रिटिश औपनिवेशिक संस्थाओं और नीतियों से पैदा अड़चनों से सामना करते हुए आधुनिक उद्योगों की नींव भारत में रखी। इनके ब्रिटिश उद्यमियों जैसे अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में सम्बंध नहीं थे लेकिन भारत के आंतरिक बाजारो की इनकी जानकारी अंग्रेज उद्यमियों से कहीं ज्यादा थी। सबसे महत्वपूर्ण बात जो भारतीय उद्यमियों के पक्ष में जाती थी और जिसके कारण वह आगे बढ़ पाये वह थी एक जाति–विशेष पर आधारित उद्यमियों में एक शक्तिशाली सामुदायिकता की भावना का होना।

पंश्चिमी भारत में सूती-वस्त्र उद्योग का विकास

भारत में सूती–वस्त्र उद्योग का विकास पश्चिम भारत में उसी वक्त शुरू हुआ जब कलक्ता में जूट मिलों का विकास हो रहा था। जूट मिल, विदेशी पूंजी और प्रबंधन के माध्यम से स्थापित किया गया जबकि सूती मिलों का उदभव पूरी तरह भारतीय था, भारतीय निवेशकर्ता इसका नियतंत्र कर रहे थे और स्थानीय मैनेजर और तकनीशियन इसे संचालित कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार के द्वारा निर्धारित नीतियों की अड़चनों तथा लंकाशयर और मैनचेस्टर के सूती–वस्त्रों की प्रतियोगिता के बावजूद इसका विकास सम्भव हो सका। कोवेश जी नाना भाई डाबर ने 1851 में एक सूती मिल स्थापित करने की कोशिश की लेकिन वे वित्तिय संसाधन नहीं जुटा पाये। लेकिन 1854 में वे 5 लाख रुपये की पूंजी के साथ एक कताई की मिल स्थापित करने में कामयाब रह। ज्यादातर निवेशकर्ता पारसी थे लेकिन दो अंग्रेजों ने 13% शेयर लिये थे। इस मिल ने 1856 में उत्पादन शुरू किया। इसी समय 1854 में दो अन्य सूती मिल प्रोत्साहित की गई और 1860 तक बम्बई में 10 सूती मिल कम्पनियाँ थीं हॉलाकि सबका निर्माण पूरा नहीं हो पाया था। जूट उद्योग की तुलना में, बम्बई की मिलों का विकास घरेलू मंडियों पर निर्भर करता था। सूती मिलों का विकास एकदम शुरू नहीं हो गया था। 1850 के दशक में इसके लिए आर्थिक परिस्थितियाँ तैयार थी। कुछ भारतीय व्यापारी आधुनिक बैंकों, जहाजरानी और कपास से बिनौले निकालने के व्यवसाय में काम कर रहे थे। कपास के निर्यात और अफीम के व्यापार में पश्चिमी तट के भारतीय व्यापारी बिचौलियों के रूप में काम करते हुए मुनाफे अर्जित कर रहे थे। बहुत से व्यापारी लंकाशायर से आने वाले सूत और कपड़े को मंडियों में बेचने में मदद कर रहे थे। सूती मिलों की स्थापना के लिये कपास सस्ती दर पर मंडियों में आसानी से उपलब्ध थी, सस्ता अकुशल श्रम भी उपलब्ध था और सूती कपड़ों के लिए भारतीय मंडियों में, विस्तार की वजह से काफी माँग थी। लंकाशायर की दूरी की वजह से यातायात की लागत कुछ संरक्षण देशी सूती मिलों को दे सकती थी। हॉलाकि पूंजी की लागत मँहगी थी और कोयला (या उसकी जगह लकड़ी भी) मँहगा था और मशीनो का आयात बाहर से ही करना था। 1860 का दशक सूती–वस्त्र उद्योगों के लिए उतना लाभकारी नहीं रहा। सूती वस्त्र उद्योग का वास्तविक विस्तार 1870 के दशक में शुरू होता है। ब्रिटिश सूती मिलों में कताई और बुनाई की मिलों में अलग–अलग विशिष्टीकरण था। भारतीय सूती मिलें कताई करने वाली मिलों के रूप में शुरू हुई थी लेकिन बाद में उन्होंने कपड़ा बुनने का काम भी अपना लिया था। भारतीय मिलों ने जो सूत की कताई की उसका अधिकांश भाग हथकरघा के बुनकरों को बेचा। इसके अलावा चीन की मंडियों और दूसरे प्रांतो को भी निर्यात किया जाता था। 1870 और 1890 के बीच भारत की सूती मिलों से सूत और धागों का निर्यात तेजी से बढ़ा लेकिन इसके बावजूद लंकाशायर से भारत में सूत और कपड़े का आया भी बढ़ता जाता था। यह इसलिये सम्भव हो सका कि भारतीय मिलें हथकरघों में इस्तेमाल होने वाला छोटे रेशे की कपास का सूत बनाती थी लेकिन महीन कपड़ा बुनने के लिए आवश्यक बड़े रेशे की कपास का सूत लंकाशायर की मिलों की विशिष्टता थी। इसी प्रकार लंकाशायर से आयात होने वाले सूती वस्त्रो की मात्रा और मूल्य में भी तेजी से वृद्धि 1870–90 के बीच होती है। भारतीय सूती मिलें अभी लंकाशायर का अपना बाजार के जाल पर नियतंत्र था–साथ ही साथ बैंकों की साख, जानकारी तथा अन्य आधारभूत क्षेत्रों में लंकाशायर प्रतियोगिता की दृष्टि से ज्यादा लाभप्रद स्थिति में था। चूँकि भारतीय उद्योग के पास पूंजी का अभाव था और महीन कपड़ा बुनने में मशीनों के रूप में स्थायी पूंजी की जरूरत ज्यादा होती थी इसलिये उनहें अपने उद्देश्य को सीमित करना पड़ा कि वह स्थानीय या पड़ौसी देशो की मंडियों में ही मोटे किस्म का सूत उत्पादित करेगा और धीरे–धीरे मोटे बुने हुए सूती कपड़े के उत्पादन में अपना पैर फैलाएगा।

प्रारंभिक सूती मिलें बहुत ज्यादा लागत भी नहीं चाहती थी। एक सूती मिल 5 लाख से एक मिलियन रुपये में अपनी जमीन, मशीनों और मिल के लिए दूसरी सामानों की सूची की लागत पूरी कर सकती थी। 1857 से भारत में सीमित उत्तरदायित्व वाली संयुक्त पूंजी कम्पनियों का गठन कानूनी रूप से आसान और सरल बना दिया गया था। इसके बावजूद छोटे निवेशकर्ताओं से पूंजी प्राप्त करने की कोशिश नहीं की जाती है। सूती मिल या कम्पनियों के शेयर सामान्यतया 2500 रुपये की इकाईयों में जारी किये जाते थे। इतनी बड़ी रकम हिन्दुस्तान जैसे मुल्क में जहाँ प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम थी, केवल धनाड्य वर्ग के गिने–चुने लोग ही जुटा सकते थे।

1870 में ब्रिटिश सरकार को अपने बढ़ाते हुए बजट के घाअै की पूर्ति के लिए लंकाशायर से आयात किये जा रहे सूत और धागों पर 3.5% की दर से और सूती कपड़ों पर 5% की दरसे आयात शुल्क लगा दिया था। लंकाशायर के आक्रामक सूती उद्योग ने इसका जमकर विरोध दिया और तर्क दिया कि इससे भारत में सूती–वस्त्र अद्योग को संरक्षण मिलता है। लंकाशायर के दबाव में 1879 में सरकार ने मोटे किस्म के सूती कपड़ों पर से आयात शुल्क हटा लिया और 1882 में आयातित कपड़ों से सभी प्रकार का आयात शुल्क हटाकर 'मुक्त–व्यापार' के सिद्धांत को व्यवहार में पूरी तरह अपना लिया गया। सरकार को विवश होकर जब बाद में 1896 में वित्तिय घाटे को कम करने के लिए सूती कपड़ों के आयात पर 3.5% की दर से आयात शुल्क लगाना पड़ा तो भारतीय सूती मिलों पर भी इसी दर से (यानि 3.5%) उत्पादन कर (Exciseduty) लगाना शुरू कर दिया। इस मुक्त व्यापार नीति का ही नतीजा था कि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग को लगातार लंकाशायर की बढ़ती प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। भारत की मंडियों में लंकाशायर के सूती कपड़े का अनुपात कुल सूती कपड़े की खपत का 1850–51 से 31.5% था जबकि 1880–81 में यह 43.5% तक जा पहुँचा था। 1881–1900 के मध्य लंकाशायर के सूती कपड़े की खपत का अनुपात कम होकर फिर 35% के आसपास मँडराता रहा। जैसा कि हमने देखा कि सरकार की सीमा–शुल्क नीति भारतीय सूती–कपड़ा उद्योग की कोई संरक्षण नहीं दे रही थी फिर 1880–1900 के मध्य भारतीय सूती मिलें कैसे लंकाशायर के मिलों के सती कपड़े की मंडियों पर आंशिक रूप से कब्जा जमाने में कामयाब हो जाती है। इस समय इसके तीन कारण थे :

(1) लंकाशायर के सूती कपड़े के मुल्य में वृद्धि
(2)) इंग्लैण्ड से भारत के बीच माल–भाड़े में वृद्धि
(3) रुपये का अवमूल्य

इन तीनो कारणों से भारतीय सूती–वस्त्र उद्योग को आंशिक संरक्षण मिल पा रहा था और बम्बई की मिलों का कपड़ा अपेक्षाकृत सस्ता पड़ रहा था। हाँलाकि लंकाशयर का मंडियों में अनुपात भले ही कम हो गया हो, आयतित कपड़े की माँग कम नहीं होती है। इस विरोधाभास को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि अब लंकाशायर की मिलों का कपड़ा बम्बई की तुलना में कलकत्ता बंदरगाह पर ज्यादा पहुँच रहा था। लंकाशायर से आयात किये जा रहे कपड़े काा अनुपात कलकत्ता बम्बई में 3 : 1 का था और बम्बई में आने वाले लंकाशायर के कपड़े का बड़ा हिस्सा अब पश्चिमी भारत की मंडियों की बजाय फारस काी खाड़ी और अफगानिस्तान आदि को पुनर्नियात re-export) किया जाने लगा था। देशी सूती मिलों द्वारा पूर्वी भारत की मंडियों पर कब्जा न जमा सकने का कारण उस क्षेत्र में भारत के आंतरिक बाजार पर युरोपीय व्यापारियों का कब्जा होना था जो मारवाड़ी एनेन्टों की मदद से यह काम कर रहे थे। दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह था कि विदेश–व्यापार को वित्त की सुविधा देने वाले विनिमय बैंकों पर भी युरोपीय बैंकरों कप पूर्ण नियंतत्र था और ये भारतीयों को विदेश व्यापार में दाखिल होने पर तरह–तरह से रोक लगा कर रखते थे। इन सब रुकावटों और प्रतिबंधों के बावजूद भारतीय सूती वस्त्र का 1883–1914 के मध्य तेजी से विकास हुआ जैसा नीचे दी गई तालिका से देखा जा सकता है।

तालिका

भारत में सूती मिलों का विकास, 1875-76 से 1913-14 तक

Year वर्ष	No. of Mills (मिलों की संख्या)	No. of Spindles सं. (तकुओं) (हजारों में)	बुनाई की मशीनें या लूम (हजारों में)	प्रतिदिन रोजगार (हजारों में)
1875-76	47	1,000	9.1	–उपलब्ध नहीं–
1883-84	79	2,002	16.3	60
1893-94	142	3,650	31.1	130
1903-04	191	5.118	45.3	185
1913-14	271	6.779	104.2	260

यहाँ पर एक बात ओर साफ हो जानी चाहिये कि भारतीय उद्योगों का उपनिवेशवाद का प्रभाव केवल सरकार की सीमा–शुल्क नीति के जरिये देशी उद्योगों का संरक्षण न देने तक ही सीमित नहीं था बल्कि यह ब्रिटिश उत्पादन पद्धति और तकनीकी पर निर्भरता के रूप में भी पेश आता है। इंग्लैण्ड औद्योगिकरण के क्षेत्र में तथा नयी तकनीकी विकास में 1875 के बाद विश्व में अग्रणी नहीं रह जाता है। नये औद्योगिकृत राष्ट्र विशेषकर जर्मनी और अमेरिका उत्पादन के तौर–तरीकों और औद्योगिक संगठन

में महत्वपूर्ण बदलाव लाना शुरू करते है। जैसे शुरू से ही भारतीय सूती मिलों ने इस विचार को स्वीकार कर लिया कि महीन और उत्तम किस्म का सूती कपड़ा लम्बे रेशे की कपास से बुना जा सकता है। चूँकि भारतीय मिलों में मशीनें लँकाशयर से ही आयात की गई थी इसलिये 1880 और 1890 के दशकों में भी उनके द्वारा कताई के लिए म्यूल स्पिंडल (Mule-spindle) मशीनो का ही इस्तेमाल किया जा रहा था जबकि जर्मनी तथा यूरोप के कई अन्य देश नयी रिंग–स्पिंडल की तकनीकी का इस्तेमाल करके छोटे रेशे की कपास से भी महीन और उत्तम किस्म के कपड़े बुन रहे थे।

1870 के दशक से ही भारतीय सूती मिलों ने चीनकी मंडियों मे सूत का निर्यात करना शुरू कर दिया था। 1885 के बाद वे ब्रिटिश सूत को चीनरी मंडियों से खदेड़ने में कामयाब होते है और यहाँ तक कि भारत इंग्लैण्ड के बाद सूत का सबसे बड़ा निर्यातक बना जाता है। विस्तृत होते सूदूर–पूर्व के बाजारों ने बम्बई की सूती मिलों के विकास का प्रभावित किया और काफी मिलों ने केवल सूत–उत्पादन तक ही अपने को सीमित रखा। बम्बई की मिलों में इसीलिए बुनाई की मशीनों की तुलना में कताई के लिए स्पिंडलों की तादाद ज्यादा थी। जहाँ बम्बई की मिलें सूत का निर्यात कर रही थी वहीं देश के दूसरे हिस्सों की सूती मिलें (जैसे कानपुर, शोलापुर और अहमदाबाद) भारतीय मंडियों में हथकरघा उत्पादकों को सूत उपलब्ध करा रही थी। इससे यह भी साबित होता है कि हथकरधा उद्योग पूरी तरह नष्ट नहीं हो पाया था बल्कि एक अनुमान के अनुसार 1913–14 में भी हथकरघा भारत की मंडियों में कपड़े की बिक्री का 20% उत्पादन कर रहा था। 1890 में बम्बई की प्लेग ने श्रम की स्थिति को अनिश्चत बना दिया और 1896–1902 के बीच पश्चिमी भारत में कई बार फसलें तबाह होने से घरेलू मंडियों पर भी बुरा असर पड़ा। लेकिन सबसे गंभीर समस्या–घरेलू और विदेशी मंडियों में सूत बेचने को लेकर बढ़ती प्रतियोगिता थी। बम्बई की मिलें अब उत्पादित सूत से स्वयं ही ज्यादा कपड़ा बुनने लगी। इस समय सुदूर–पूर्व की सूत की मंडियों में चीन और विशेषकर जापान की सूती मिलों की प्रतियोगिता बढ़ रही थी। स्वंय घरेलू–मंडियों में बम्बई की मिलों को देश के अन्य क्षेत्रों की मिलों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा था। 1896–1900 के बीच भारतीय मिलें उत्पादित सूत का 17–18% ही कपड़ा निर्माण में इस्तेमाल कर रही थी लेकिन 1913–14 में उत्पादित सूत का 36–37% कपड़े के निर्माण में इस्तेमाल किया जा रहा था। भारत की सूती मिलों द्वारा निर्मित कपड़े की खपत पूर्णतः घरेलू ही थी। यह कपड़ा मुख्यतया मोटे सूत से ही तैयार किया जाता था। भारतीय मिलों द्वारा कपड़े का उत्पादन बढ़ाने का भी वही प्रभाव हुआ जो सूत के उत्पादन बढ़ने का हुआ था। इंग्लैण्ड से आयातित कपड़े की कुल मात्रा बढती रही चाहे अब यह धीरे–धीरे ही बढ़ रही थी। मोटे कपड़े का आयात खास तौर से कम हो गया लेकिन महीन, रंगीन और विरंजित कपड़ों का आयात बढ़ता रहा। भारतीय मिलें धीरे–धीरें ही सही लेकिन भारतीय मंडियों में लंकाशायर की भागीदारी कम करने में सफल होती हैं। बढ़ते उत्पादन के साथ मिलों का आकार भी बढ़ता है और मिल स्थापित करने की लागत भी वैसे ही बढ़ती जाती है। यह कहना मुश्किल है कि सूती–कपड़ा उद्योग में कुल कितनी पूंजी का निवेश किया गया था। इस पूंजी के स्थायी पूंजी और कार्यशील पूंजी के अवयवों का बड़ा हिस्सा किसी न किसी प्रकार के ऋण से प्राप्त किया गया था। प्रथम विश्व युद्ध के समय भी उद्योग की कुल जमापुँजी का 50% ऋणों के रूप में ही था। पूँजी बाजारों की कमियों और बैंक से प्राप्त अपर्याप्त वित्त की समस्या से निपटने के लिए उद्योग ने कई नये विकल्प ढूँढ निकाले थे। निर्माण में लर्ग ठेकेदार और मिल की मशीनें तथा स्टोरों के लिए सामान देने वालों को इस बात के लिए राजी करने की कोशिश की जाती थी कि मिल को लम्बे समय के लिए उधार में सेवाएँ दे ताकि मिल को कठिनाई ना हो या कई बार उन्हें शेयर जारी किये गये जिन्हें वे बाद में मिल की सफलता के बाद बेच सकते थे। मिल सार्वजनिक रूप से निश्चित अवधि के एक स्थायी ब्याज पर धन–राशि इकट्ठा करने का काम भी करती थी। यह जनता से पैसा स्थायी जमा–राशि के रूप में लेने की विधि अहमदाबाद में ज्यादा प्रचलित हुई लेकिन बम्बई की मिलें भी बहुदा इस तरीके से अपने वित्त की जरूरतें पूरी करती थी। वित्त के साधन के रूप में, मैनिजिंग एजेन्सी व्यवस्था की भी, खासकर बम्बई में, अहम भुमिका रहती है। मैनिजिंग एजेन्ट एक कम्पनी से संसाधन दूसरे मिल में लगा सकते थे और बैकों से भी ज्यादा आसानी से मिल के लिए कर्ज प्राप्त कर सकते थे। इस सबके बावजूद पूंजी और साख की कमी युरोपीय और देशी पूँजीपतियों का सामान रूप से झेलनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए ग्रीव्स कॉटन एण्ड कम्पनी बम्बई में कताई की सात मिलों को नियंत्रित करती थी लेकिन इस बड़ी मैनेजिंग एजेन्सी को भी उस वक्त पूंजी इकट्ठा करने में मुश्किल हुई जब चीन की सूत की मंडियाँ छीन जाने से बुनाई के क्षेत्र में मिलों को जाना पड़ रहा था और 1915 में ग्रीव्स कॉटन एंड कम्पनी को अपनी मिलें बेचनी पड़ी। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि सूती मिलों का वित्त और प्रशासन (प्रबंधन) पूरी तरह भारतीय ही था युरोपीय पूँजी का अवयव इसमें कभी भी 10–20% पूँजी के अंश से ज्यादा नहीं रहा। कुछ युरोपियन ने भारत की प्रारंभिक मिलों में पूंजी जरूर लगाई थी लेकिन 1874 के बाद ही जब 17 भारतीय मिलें काम कर रही थी, तब कहीं एकाध ब्रिटिश मिल बम्बई में लगाई जाती है। प्रथम विश्व युद्ध से पहले कुल 95 मिलों मे से केवल 15 ही युरोपीय पूंजी से स्थापित की गई और इसमें भी 12 मिलें दो बड़ी युरोपीय मैनेजिंग एजेन्सी घरानों जेम्स ग्रीव्स और जार्ज कॉटन के हाथों में थी ये पहले लम्बे समय से भारत में कपास के निर्यात–व्यापार में सक्रिय थे और बाद में उद्योगपति बने थे। युरोपीय पूँजीपति अक्सर उन्हीं क्षेत्रों में पूंजी लगाते हैं जहाँ या तो उन्हें ब्रिटिश राज्य से मदद मिलती है या फिर जो क्षेत्र निर्यात के लिए उत्पादन करते हैं जैसे जूट और चाय। देश के अंदर की मंडियों के लिए उत्पादन करने वाले उद्योगों के अंदर केवल वे भी युरोपीय निवासी पूँजी लगाते है जो लम्बे समय से भारत में रह रहे थे और जिन्हें यहाँ की मंडियों तथा स्थानिय आर्थिक परिस्थितियों का अच्छा

ज्ञान था। बम्बई की भारतीय सूती मिलों के विकास के लिए अक्सर पारसी पूँजीपतियों की भूमिका पर बल दिया जाता है। यह कहा जाता है कि पारसी वैचारिक और सांस्कृतिक रूप से भारतीय सामाजिक जीवन से अलग थे और नये आर्थिक सुअवसरों का ज्यादा आजादी के साथ फायदा उठा सकने में समर्थ थे। पारसी निस्संदेह, पश्चिमी भारत के औद्योगिक विकास में अहम भूमिका निभाते है। 1914 में बम्बई की 95 मिलों में से 34 का निर्माण पारसी–समुदाय के उद्योगपतियों ने किया था। लेकिन पारसी पश्चिम भारत के सफल और आक्रमक पूंजीपतियों में एक समूह था। इस समूह में हिन्दू और बोहरा मुसलमान भी शमिल थे। पारसी निस्संदेह काफी लम्बे समय से पश्चिमी भारत के आर्थिक क्रियाकलापों में अत्यंत सक्रिय थे। 17वीं सदी से ही ये व्यापार में अहम भुमिका निभा रहे थे और इनका एक समूह पहले सूरत और बाद में बम्बई में ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए समुद्री जहाज के निर्माता के रूप में उभरता है। धन का संचय करते हुए पारसी समुदाय एक सफल वर्ग के रूप में स्थापित हो चुका था। 19वीं सदी में पारसी विदेशी व्यापार में ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ–साथ अहम भूमिका निभा रहे थे अतः आर्थिक अवसर मिलते ही सूती मिलों के विकास में भी पारसियों की भागीदारी कोई अचरज की बात नहीं थी। लेकिन केवल उद्योगपतियोंकी सामाजिक पृष्टिभूमि पर ही ध्यान देने से हम बम्बई के औद्योगिक विकास के एक सबसे अहम पहलू को अनदेखा कर देते हैं– वह था पूँजीपतियों के विभिन्न समुदायों के बीच सहभागिता। जैसे आरियंटल मिल पारसियों द्वारा चालू की गई लेकिन इसे वित्त की मदद दो अंग्रेज, एक सफल बगदादी व्यापारी इ.डी ससून तथा एक धनी हिन्दू बनिये बनिये वीर जीवनदास माधवदास ने दी थी। 1875 में बम्बई मिलऑनर्स एसोसियेशन की स्थापना इस सहयोग की भावना को और अधिक बढ़ाता है। मूल्यों में गिरावट के समय इस एसोसियेशन का उद्देश्य उत्पादन को सीमित करने का रहता था। सूती मिलों की तकनीकी भारत के लिए एकदम नयी थी और इस औद्योगिक तकनीकी को सुचारू रूप से चलाने के लिए तकनीशियन और मैनेजर भी शुरू में आयात किये गये। उनकी सेवाओं के अनुबंधों में यह शामिल होता था कि वे देशी प्रशिक्षकों को भी प्रशिक्षण देने का काम करेंगे। यह 'भारतीयकरण' मिलों के लिए लागत की दृष्टि से भी महत्वप्रर्ण था क्योंकि देशी तकनीशियनों तथा मैनेजरों को कम वेतन देना पड़ता था।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारत कपड़ा उद्योग पर मिला–जुला प्रभाव पड़ा। युद्ध के कारण एक ओर तो धागे तथा कपड़े के कुछ महत्वपूर्ण बाजार भारतीय उद्योग के हाथ से निकल गये। दूसरी ओर वह इग्लैण्ड से मिलों के लिए आवश्यक मशीनों का अयात भी नहीं कर पाया। इन कारणों से मिलो की उत्पादन–क्षमता पर भी असर पड़ा। लेकिन साथ ही साथ युद्ध के कारण लंकाशायर से होने वाले कपड़े का आयात भी कम हो गया इसलिए घरेलू मंडियों में सूती मिलों के माल की खपत बढ़ गयी। लकिन विश्व युद्ध के बाद उद्योग की प्रगति के रास्ते में कई नयी कठिनाईयाँ आई। जापान की प्रतियोगिता लगातार बढ़ती जा रही थी और कपास के मूल्यों में भी वृद्धि हो रही थी। नई औद्योगिक नीति के तहत 1927 में सूती उद्योग को संरक्षण दिया गया लकिन उसके बावजूद इसकी समस्यायें खतम नहीं हुई। 1929.30 में जी.एस. हार्डी की सूती मिल उद्योग की स्थिति की रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने 1930 में सूती कपड़ा अधिनियम पास किया। इसमें इग्लैण्ड से आने वाले सूती कपड़ो पर आयात–शुल्क 15% तथा ब्रिटेन के अलावा अन्य देशों से आने वाले सूती कमड़ों पर आयात पर 20% की दर से आयात–शुल्क लगाया गया। लेकिन युद्ध के बाद की मंदी और जापान की प्रतियोगिता के कारण सूती मिलों की समस्यायें यथावत बनी रही। हाँलाकि सरकार 1926 में भारतीय मिलों पर लगाये जाने वाले उत्पादन–शुल्क को भी हटा चुकी थी। 1931में दुबारा आयात शुल्क में बदलाव किया गया। ब्रिटिश सूती कपड़ों पर 25% तथा गैर ब्रिटिश सूती कपड़ों के आयात पर 31ण्25% की दर से आयात–शुल्क लगाया गया। 1932–33 में जापान की सूती मिलों के साथ जैसे युद्ध छिड़ गया। गैर ब्रिटिश सूती कपड़े पर आयात शुल्क जुलाई 1932 में 50% और जून, 1933 में 75% तक कर दिया गया। इससे जापान ने भी भारतीय कपास के बहिष्कार करने की धमकी दी और 1934 में इंडो–जापानी व्यापार समझौते के तहत आयात शुल्क घटा कर 30% कर दिया गया और जापान से कपड़ों के आयात का कोटा 400 मिलियन गज कपड़े का निर्धारित कर दिया। साथ ही साथ जापान को भारतीय कपास का निश्चित कोटा–1 मिलियन कपास की गाँठें तय की। 1935–36 में इसी प्रकार के व्यापार समझौते के तहत जिसे ओटावा व्यापार समझौते के नाम से जाना गया, लंकाशायर के आयातित कपड़े का कोटा निश्चित कर दिया गया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान एक बार फिर भारतीय कपड़ा उद्योग को विकास का मौका मिला और घरेलू माँग तथा युद्ध के कारण बढ़ी माँग का लाभ भारतीय वस्त्र उद्योग को मिला। युद्ध के दौरान जापानी मिलों का कपड़ा भारत में आना बंद हो गया और लंकाशायर का आयात भी कम हो रहा था। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर भारतीय मिलों ने अपनी उत्पादनों की क्षमताओं को बढ़ाने पर जोर दिया। 1947 में कपड़ा उद्योग भारत की औद्योगिक संरचना का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका था और लगभग 430 मिलें इसका उत्पादन घरेलू मंडियों तथा विदेशी बाजारों के लिए कर रही थी।

पूर्वी भारत में जूट-उद्योग का विकास

भारत में जूट की कताई और बुनाई का काम अंग्रेजी–राज से पहले भी होता रहा था लेकिन आधुनि किस्म की जूट की मिलें 19वीं सदी में ही स्थापित की गई। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के साथ–साथ जूट की रस्सी, बोरियाँ आदि की माँग तेजी से बढ़ रही थी। ब्रिटेन पटसन और इससे बने सामान के लिए 18वीं सदी में रूस तथा बाल्टिक सागर के देशों पर निर्भर रहा था। 1820 के दशक में भारत से पटसन का निर्यात करके इग्लैण्ड ने डंडी में अपना जूट मिल उद्योग शुरू कर दिया था। 1832

में ही डंडी की मिलें अच्छी किस्म की पटसन की वस्तुओं का उत्पादन करनें में कामयाब होती हैं। 1840 के दशक में मशीनों में कई मशीनों में कई यांत्रिकी परिवर्तन इस उद्योग में किये गये। इस इग्लैण्ड के उद्योग के विकास के कारण भारतीय कच्चे जूट की माँग इंग्लैण्ड में तेजी से बढ़ी थी। साथ ही साथ 1830 और 1840 के दशकों में भारत के हस्त–शिल्प उत्पादन ने भी प्रगति की। इन विस्तृत होते जूट के सामान की माँग को देखते हुए अंग्रेज उद्यमियों ने कलकत्ता के आसपास सस्ते जूट के स्त्रोतों और सस्ते श्रम का इस्तेमाल करके जूट–उद्योग की स्थापना करने की सोची। जार्ज एकलैंड ने 1855 में पहली मशीनी तकनीकी पर आधारित जूट की मिल स्थापित की। इसके लिए आवश्यक पूंजी, मशीने और तकनीशियन सब डंडी से ही लाये गये थे। एकलैंड की कम्पनी ज्यादा सफल नहीं हुई और काती गई पटसन हस्त–शिल्प उद्योग में लगे कारीगरों को ही बेचती थी लकिन इसने दूसरी जूट मिलों को प्रोत्साहन दिया।1859 में बोर्नियों कम्पनी ने कलकत्ता में जूट की कताई और बुनाई की मिल स्थापित की। 1860 के दशक में कई अन्य जूट की मिलों की स्थापना कलकत्ता तथा इसके आसपास के क्षेत्र में की गई। प्रारंभ में यं जूट की मिलें केवल घरेलू मंडियों के लिए ही उत्पादन कर रही थी। लेकिन 1870 के दशक में इन्होंने विदेशी मंडियों में जगह बनाने की और डंडी के साथ प्रतियोगिता करने की कोशिश शुरू कर दी थी। इसमें टॉमस डफ नामक उद्यमी की महत्वपूर्ण भूमिका रही। वे बोर्नियों मिल के साथ जुड़े रहे थे और 1873 में उन्होंने स्वयं सामनगर जूट मिल की स्थापना की। 1870 के दशक में जूट मिलों की लाभ कमाने की प्रवृति बढ़ रही थी और इससे ज्यादा पूंजी उद्योग की तरफ आकर्षित होती है। जूट का निर्माण कोई जटिल प्रक्रिया नहीं थी। श्रम और कच्चे माल की स्थानीय आपूर्ति दोनों ही उद्योग के लिए प्रचुर मात्रा में लाभ कमाने में सहायक कारक सिद्ध हुए। 1870 के दशक में में कई तरह के निवेशक जूट की मिलों में आते हैं–पहली किस्म के पूंजी के निवेशक मुख्यतया मुनाफे को देखते हुए आये थे तथा उन्हें ज्यादा तकनीकी तथा मंडियों की जानकारी नहीं थे। जार्ज एकलैण्ड की फॉर्ट ग्लोस्टर मिल इस किस्म को मिल की मिशाल थी। दूसरी किस्म की मिलों के पास वित्त की कमी नहीं थी। जैसे बोर्नियों कम्पनी तथा शिबपुर और गोड़पुर जूट कम्पनियाँ। तीसरे किस्म की जूट मिलों के पास वित्तिय संसाधन, तकनीकी ज्ञान और प्रबंधन का अनुभव सब उपलब्ध था और इसलिए ये ज्यादा सफल रही। टॉमस ड़फ और उनके मित्रों को मिलों को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। श्रम तथा कच्चे माल पर कार्यशीज पूंजी पर कम लागत होने से उद्योग के लिए अंतर्राष्ट्रीय में प्रतियोगिता कर पाना सरल हो गया। 1870 के दशक में 'भारतीय' जूट मिलों ने आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका की मंडियों में जगह बनाना शुरू कर दिया और 1880 ये इगलैण्ड की मंडियों में भी अपना माल बेचने लगती हैं। बीच में एकाध अस्थायी उतार को छोड़कर जूट मिलों की प्रगति निर्बाध रूप से 1870–1910 के बीच होती रही। इस उद्योग में मुनाफे की दरों से आकर्षित होकर बाद में कई बड़ी मैनेजिंग एजेन्सी घरानों ने जैसे एन्ड्रयू यूल, बर्ड एंड कम्पनी, जार्डिन मैन्डरसन एंड कम्पनी आदि ने भी पूंजी का निवेश जूट की मिलों में किया।

1875–76 और 1913–14 के मध्य भारत से निर्यात किये जा रहे कच्चे जूट की मात्रा में 195% की वृद्धि होती है लेकिन जूट की बोरियों के निर्यात ने 19 गुणा वृद्धि दर्ज की तथा जूट के कपड़े के निर्यात मकं 272 गुणा वृद्धि हुई। श्रम की लागत कम होने भारत की जूट मिलें जूट के सामान की मुख्य निर्यातक बन गई। 1897–1913 के बीच डंडी की मिलों से अमेरिका को आयात में 7% कमी आई जबकि भारत की मिलों के निर्यात में नौ–गुणा वृद्धि दर्ज की गई। 1913 में भारतीय मिलों ने अमेरिका को **7.2 मिलियन** जूट के उत्पादित माल का निर्यात किया। 1870 के बाद उभरे इन आर्थिक सुअवसरों के कारण ज्यादातर जूट मिलों ने अपनी क्षमतायें बढ़ायी तथा साथ ही तेजी से ब्रिटिश पूंजी और वित्त की मदद से नयी मिलें भी स्थापित की गई। 1914 तक आते–आते जूट मिल उद्योग निवेशित पूंजी और रोजगार की दृष्टि से फैक्टरी उत्पादन का एक सबस महत्वपूर्ण क्षेत्र बन चुका था। इस विकास को निम्न तालिका से देखा जा सकता है:

तालिका

जूट मिलों का विकास 1854-55 से 1913-14 के बीच

वर्ष	मिलों की संख्या	लूम या बनाई की मशीनें	रोजाना का रोजगार
1854-55	1	N.A	N.A
1868-69	5	950	N.A.
1883-84	23	6,132	47,863
1893-94	28	9,580	69,179
1903-04	38	18,400	123,869
1913-14	64	36,050	216,288

महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अंतर्राष्ट्रीय मंडियों के विकास का लाभ इस उद्योग को मिल रहा था तथा डंडी का उद्योग सूती कपड़े के लंकाशायर जैसी प्रतियोगिता नहीं पेश करता था तथा डंडी तथा कलकत्ता के पूंजीपतियों के बीच नस्ल के कारण पारस्परिक मधुर सम्बंध थे। कलकत्ता के जूट उद्योग के लिए आयात की गई तकनीकी तथा मशीनें डंडी से ही निर्यात की जाती थी। जूट मिल मालिकों 1884 में अपने को जूट मिल मैनुफक्चररस ऐसोशियशन में संगठित कर लिया था और यह संगठन कच्चे माल की खरीदारी तथा अपने उत्पादन के स्तर का निर्धारण मिल मालिकों के फायदे के लिए करने के के लिए एक तरह के एकाधिकार के अधिकारों का प्रयोग कर रहा था। इस एशोशियेशन ने उद्योग के लाभ बढ़ाने के लिए या तो काम के दिन और घंटे कम कर दिये या करघों के एक निश्चित प्रतिशत से ही काम लेने का फैसला किया जैसे उत्पादन को सीमित करने के लिए 1886 में मिलों में 4–5 दिन ही उत्पादन किया जाता था या 1890 में 10% करघों का प्रयोग मिलों ने बंद कर दिया था। इन प्रतिबंधों के कारण जूट मिलों में मुनाफे की दरें सूती मिलों की अपेक्षा ज्यादा रही। एशोसियेशन का दूसरा प्रतिबंध था कि मुनाफे को देखते हुए जो नयी मिलें या कम्पनियाँ निवेशकर्ता खोलता चाहते थे उसकी अनुमति नहीं दी गई। इसी कारण इस उद्योग में मौजूदा मिलों के विस्तार की प्रवृति ज्यादा दिखाई पड़ती है। मिलों की संख्या 1893-94 में बढ़कर 64 ही हुई लेकिन इस अवधि में करघों, तकुओं तथा रोजगार में वृद्धि का अनुपात अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा था। 1914 में 64 मिलों में से केवल 9 मिलें ही रूपये की कम्पनियाँ थीं। रूपये की कम्पनियाँ भारत के देशी निवेशकर्ता से पैसा प्राप्त करती थी लेकिन अधिकांश जूट की मिलें पूंजी इग्लैण्ड से ही प्राप्त करती है और स्थानीय स्तर पर जो पूंजी प्राप्त की जाती है–उसके शेयर धारक भी ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारी और व्यापारी आदि ही थे। 1914 में औसतन एक जूट मिल में 40 लाख रूपये की जमा पूँजी लगी थी। कुछ जूट की मिलें प्रारंभ में नीजि पार्टरनरशिप के संगठनात्मक आधार पर खड़ी हुई थी लेकिन बाद में ये सार्वजनिक संयुक्त पूँजी कम्पनियों के रूप में बदल गई थी। बाकी सब कम्पनियाँ वैसे ही मैनेजिंग एजेन्सी घरानों द्वारा संचालित संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ थी। कानूनी रूप से इन कम्पनियों में निवेश करने या नयी कम्पनी शुरू करनें में देशी भारतीय निवेशकों पर कोई प्रतिबंध नहीं था लकिन व्यवहारिक रूप से इसमें काफी कठनाईयाँ थी। बर्ड एड कम्पनी जो जूट की मिलों में सबसे बड़ी मैनेजिंग एजेन्सी थी, उसकी आठ मिलों में 2,294 शेयर धारकों में से केवल 423 ही भारतीय शेयर धारक थे। यह स्थिति 1914 में बाकी मिलों में भी थी। जो पूँजी भारतीय निवेशकों ने जूट मिलों में लगाई थी– विशेषकर प्रथम विश्व युद्ध से पहले, वह मुख्यतया छोटे निवेशकों से आयी थी या लगानभोगी जमींदार वर्ग से। 1914 से पहले भारतीय व्यापारिक उद्यमी वर्ग की अर्जित आय कलकत्ता में बम्बई की अपेक्षा कम थी और आक्रामक ढंग से यह वर्ग जूट की मिलों में अपनी संचित पूंजी नहीं लगा पा रहा था। 1881-82 में जूट मिल की स्थापना में लगभग 10 लाख जमा–पूँजी और 1900–01 में 15 लाख रूपये की जमापूँजी की जरूरत पड़ती थी। यह बम्बई की सूती मिलों में आवश्यक पूँजी के समान ही थी लेकिन स्थानीय व्यापारियों को साख तथा मंडियों में प्रवेश पाने में नस्ल के कारण काफी कठिनाईयाँ थी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही जूट मिल उद्योग में भारतीय पूँजीपतियों की भागीदारी बढ़नी शुरू होती है। जूट की मिलें बाद तक भी यूरापीय तकनीशियन तथा प्रबंधकों को इस्तेमाल करती रही। देशी तकनीशियन तथा प्रबंधकों को मिलों में लगाकर इन पर होने वाली लागत कम की जा सकती थी लेकिन ब्रिटिश निवेशकर्ता यूरोपियन प्रबंधन के होने से ज्यादा सुरक्षित महसूस करते थे।

प्रथम विश्व–युद्ध ने जूट–मिलों को प्रगति के और अधिक अवसर प्रदान किये। युद्ध के दौरान जूट–वस्तुओं विशेषकर रेत के बोरों की माँग काफी तेजी से बढ़ती है। इसके अलावा सरकार ने जूट–मिलों को श्रमिक कानूनों को लागू करनें में कुछ छूट देकर तथा कच्चे जूट के निर्यात पर प्रतिबंध लगाकर भी प्रोत्साहन दिया। इसका फायदा उठाकर मिल–निर्माताओं ने अपनी क्षमताओं को बढ़ाया। 1914-15 और 1918-19 के बीच जूट वस्तुओं का निर्माण 25-82 करोड़ रूपये से बढ़कर 52.65 करोड़ रूपये हो गया था। उद्योग की जमा पूंजी 794 लाख से बढ़कर 1064 लाख रूपये इस बीच हो गयी थी। इस अवधि पें तकुओं और करघों की संख्या में भी बढ़ौतरी होती है लकिन यह वृद्धि निर्यात के मूल्य और जमा–पूंजी में वृद्धि के अनुपात में कम थी। इसका मतलब था कि मिलों के मुनाफों में काफी तेजी से वृद्धि इस अवधि हुई लेकिन रोजगार उत्पन्न करने वाली उद्योग की क्षमता में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं आता है। युद्ध के बाद भी जर्जर अर्थव्यवस्थाओं और खाद्यानों के बढ़ते व्यापार के कारण जूट–उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग बनी रही और जूट उद्योग का विस्तार जारी रहा लेकिन 1921-22 में उद्योग को मंदी का सामना करना पड़ा और इसके निर्यातों में 44% कमी आयी। 1921–22 और 1929–30 के बीच जूट मिलों की संख्या 81 से 98ए करघों की संख्या 43,025 से बढ़कर 53,900 तथा उद्योग में जमा पूजी की राशि 1387 लाख रुपये से बढ़कर 1872 रुपये हो गयी थी। इस उद्योग में रोजगार पर रहे श्रमिकों की तादाद 2.88 लाख से बढ़कर 3.43 लाख तक पहुँच गई थी। 1929 की विश्वव्यापी महान आर्थिक मंदी का उद्योग के लाभों पर बुरा असर पड़ा। मंदी के कारण जूट तथा जूट निर्मित मसामान दोनों में भारी माँग की कमी हुई परिणामस्वरूप 1930–31 से 1933–34 के मध्य उद्योग के निर्यात के मूल्य तथा मिलों में जमा पूंजी तथा तकुओं और करघों की संख्या कम हो जाती है। कुछ समय मंदी के हालातों में सुधार हुआ लेकिन 1938 में उद्योग फिर से भंयकर मंदी की चपेट में आ जाता है। लेकिन मंदी के दिनों में उद्योगों की उत्पादन–लागत भी होती है–मिलें मजदूरी की दरें कम करके अपने नुकसान की श्रमिको पर लादने की कोशिश करती है। मंदी के दौरान कृषि–उत्पाद के रूप में कच्चे जूट की कीमतें तेजी से गिरने के कारण कार्यशील पूँजी की लागत में कमी आ जाती है। उद्योग इस मंदी के दौर से 1939 के

बाद फिर युद्ध की माँग बढ़ने से निकल पाता है और 1939–40 और 1945–46 के मध्य मिलों की संख्या 111 तक जा पहुँचती है। मंदी के दौरान जूट उद्योग की मिलें अपने को संगठित कर उत्पादन में कटौती करके न कि तकनीकी सुधारों द्वारा कार्य कुशलता बढ़ाकर आर्थिक संकट से उभरने की कोशिश कर रहा था। छोटे भारतीय उद्यमी जो इस ब्रिटिश मिलों के संगठन (Cartel) से बाहर थेए उनका इस अवधि में तेजी से विस्तार हुआ था। 1920 तथा 1930 के दशक में जूट मिलों में–नई मिल लगाने की लागत (पुरानी मशीने खरीदकर और कोयले की बजाये बिजली का उत्पादन प्रक्रिया में इस्तेमाल करके) काफी कम हो चुकी थी और इस अवधि में कई भारतीय उद्यमी विशेषकर मारवाड़ी व्यापारी (जैसे बिड़ला घराना) जूट मिल उद्योग में प्रवेश पा सकने में समर्थ हो जाते है। 1930 और 1940 के दशक में जूट मिलों के स्वामित्व में तथा कच्चे जूट की खरीदारी तथा जूट–निर्मित वस्तुओं के निर्यात में इस प्रकार से, भारतीयों की भूमिका बढ़ जाती है।

भारत में लौह और इस्पात उद्योग का विकास

भारत में आधुनिक पद्धति से लोहा गलाने की प्रक्रिया को लागू करने के प्रयास सबसे पहले उन्नीसवी सदी के प्रारंभिक वर्षो में किये गये थे। ये प्रयास शुरू में जे.एम. हीथ नामक अंग्रेज अधिकारी ने किये थे। 1830 में ईस्ट इंडिया कम्पनी की मदद से दक्षिणी अर्काट में एक आयरन वर्क्स स्थापित किया था। यह ज्यादा सफल प्रयोग नहीं हुआ और 1853 में इस काम को ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने हाथ में ले लिया। इस कम्पनी ने दक्षिणी अर्काट में दो लोहा गलाने की भट्टिया लगाई और मालाबार तट पर भी इस तरह का काम शुरू किया। ये प्रयोग भी सफल नहीं हुए और 1874 में कम्पनी को अपना काम बंद कना पड़ा। लगभग इसी समय बंगाल प्रेजीडेन्सी में भी इस तरह के प्रयास किये गये। 1875 में बाराकर आयरन वर्क्स की स्थापना की गई लेकिन इसे 1879 में ही बंद करना पड़ा। इसके बाद 1881 में सरकार ने इसे अपने हाथ में ले लिया और 1889 में इसे बंगाल आयरन एंड स्टील कम्पनी को सौंप दिया। 1900 तक आते–आते यह कम्पनी 35000 टन लोहे का उत्पादन हर साल करने लगी थी और 1905 में इस कम्पनी ने लोहे के साथ–साथ स्टील का उत्पादन बढ़ाकर 1,20,000 टन तक कर लिया था। 1919 में बंगाल आयन कम्पनी के नाम से एक नई कम्पनी सरकार ने बनाई और इसने बंगाल आयरन ओर स्टील कम्पनी की सब परिसम्पति को भी अपने अधिकार में ले लिया। इसने पुरानी कम्पनी को सुधार कर इसकी उत्पादन क्षमता दुगना कर दी। लेकिन भारत में लोह और इस्पात के पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन का श्रेय जमशेदजी टाटा को दी दिया जा सकता है। 1885 में एक जर्मन विशेषज्ञ आर.वी.श्वातर्ज की रिपोर्ट के आधार पर जमशेद जी टाटा ने मध्य भारत में चंदा जिले में लोह और इस्पात उद्योग करने की सोची लेकिन ब्रिटिश सरकार ने इस योजना को मंजूरी नहीं दी। 1899 में जमशेद जी टाटा ने सैक्रेटरी ऑफ स्टेट जार्ज हेमिलटन को अपनी योजना के लिए मना लिया। भारत में लोह–प्रगलन के लिए आवश्यक उत्तम स्तर के कोयले का अभाव था और स्टील के उत्पादन के लिए यह बहुत ही जरूरी था। 1902 अमेरिका और ब्रिटेन के लोह क्षेत्रों का दोरा करके जमशेद जी प्रयोग तथा अन्वेषण के लिए सी.एम.वेल्ड नामक इंजीनियर को साथ लेकर आये। जमशेद जी टाटा का निधन 1904 में ही हो गया लेकिन टाटा आयरन और स्टील कम्पनी (TISCO) की स्थापना 1907 में 1,630,000 पौण्ड की पूंजी के साथ की गई। यह ज्यादातर पूँजी स्वदेशी आंदोलन के प्रभाव के कारण भारतीय निवेश कर्ताओं न ही उपलब्ध कराई थी। इस कारखाने पर निर्माण कार्या 1908 में सिंहभूम जिले में साकची नामक गाँव में शुरू किया गया यँहा बाद में आधुनिक औद्योगिक नगर जमशेदपुर के नाम से विकसित हुआ। कारखाने की प्रारंभिक क्षमता 1,60,000 टन कच्चे लोहे की और 1,00,000 टन वार्षिक उत्पादन की स्टील की थी। कारखाने में पहली बार लोह–उत्पादनप 1911 में शुरू हुआ और 1913 में स्टील का उत्पादन शुरू होता है। कारखाने के लिए मयुरमंज और रायपुर से लौह अयस्क, झरिया के कोयले की खानों तथा बालाघट से मैगनीज आसानी से उपलब्ध था।

टाटा आयरन और स्टील कम्पनी की कोशिश थी कि वह 19वीं सदी के सरकारी कम्पनियों गलतियों को न दुहराये। उत्तम किस्म के कोयले साथ लौह–प्रगलन तथा ब्लास्ट फर्नेस की तकनीकी को इस्तेमाल न करके शुरू की कम्पनियों ने लौह–प्रगलन के लिए लकड़ी के कोयले का इस्तेमाल किया था। बंगाल आयरन वर्क्स कम्पनी भी तकनीकी पिछड़ेपन और संगठनात्मक कमजोरियों का शिकार रही थी। टाटा आयरन और स्टील कम्पनी पहले के प्रयोग से अलग थी। टाटा बम्बई का एक महत्वपूर्ण औद्योगिक–व्यापारिक घराना था–इसके पास बम्बई के अंदर सूती मिलें और मध्य भारत में कई उद्योग थे। कम्पनी को धातु उत्पादों में घरेलू मंडियों की भी अच्छी जानकारी थी क्योंकि टाटा सन्सज एंड कम्पनी लौह और इस्पात के आयात करने वाली बड़ी कम्पनी थी और इसकी शाखायें चीन और जापान में भी थी जहाँ के निर्यात–बाजारों में टाट आयरन और स्टील कम्पनी को लाभ मिल सकता था। नया कारखाना काफी सर्वेक्षण और अन्वेषण के बाद ही लगाया गया था। तकनीकी के हस्तातंरण का काम सलाहकारों की बजाय कम्पनी ने कुशल विदेशी इंजीनियरों को नौकरी देकर किया। कम्पनी में बहुत से छोटे निवेशकों ने अधिमानी शेयरों (Preferrence Shares) में पूँजी लगाई लेकिन ज्यादातर समदृष्टि शेयर (equity shares) टाटा परिवार, दूसरे व्यापारिक घरानों तथा रजवाड़ों के शासकों ने खरीदे। टाटा आयरन और स्टील कम्पनी ने 1913–14 में 1,55,000 टन कच्चा लोहा और 78,000 टन स्टील निर्मित किया। इस समय सरकारी ऑर्डर के जरिये कारखाने को 20,000 टन स्टील की रेलवे–पटरियाँ अगले दस साल के लिए आयात–मूल्य पर ही बनानी थी। इस सरकारी माँग ने कम्पनी की मदद की। युद्ध शुरू

होने से कारखाने के उत्पादित माल की माँग और अधिक बढ़ी और टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी का लगभग सारा उत्पाद सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यों पर खरीद लिया गया। कम्पनी के मैनेजरों ने जान–बूझ कर सरकार के युद्ध प्रयासों में सहयोग करते हुए सरकारी सदभाव अर्जित किया। इससे कम्पनी को तत्कालिक मुनाफे कम प्राप्त हुए लेकिन मध्यम दर्जे का सरकारी समर्थन मिलता रहा। इस नीति का लाभ कम्पनी को 1917 में हासिल हुआ जब सरकार ने कम्पनी के विस्तार की एक मुख्य योजना को मंजूरी दी। इससे कम्पनी को मशीनें आदि के आयात में काफी सुविधा हुई। इस विस्तार को 1924 में कार्य–रूप दिया गया और कम्पनी ने अपनी उत्पादन–क्षमता को तीन गुणा करते हुए बढ़ाकर 4,20,000 टन तक कर दिया। हाँलाकि इस विस्तार की लागत बहुत ज्यादा थी और कम्पनी पर 1921–23 के बीच विश्व व्यापार में मंदी का बुरा असर पड़ा। इस समय जर्मनी और बेल्जियम जैसे देशों ने कम मूल्य पर भारत को स्टील आयात करना शुरू किया और डॉलर की तुलना में रूपये का मूल्य कम हो जाने से टिस्को कम्पनी द्वारा अमेरिका से आयात की गई मशीनें बहुत मँहगी साबित हुई। इस संकट से उभरने के लिए कम्पनी ने 1923 में लंदन के मुद्रा पूंजी बाजारों में 2 मिलियन पौंड के ऋण–पत्र (debentures) प्राप्त किये तथा प्रबंधन को चुस्त किया। 1925–26 तक टिस्को कम्पनी भारतीय मंडियों की खपत की 30% भाग की आपूर्ति अकेले कर रही थी और यह सरकार की रेलवे पटरियों की जरूरत का 2/3 हिस्सा भी निर्मित कर रही थी। संरक्षित स्टील उत्पादन के अलावा कम्पनी कच्चे लोहे के निर्यात में भी सक्रिय थी। दो विश्व–युद्धों के बीच के समय में भारत कच्चे लोहे का विश्व में सबसे सस्ता स्त्रोत माना जाता था। यहाँ भारतीय सीमा शुल्क बोर्ड के अनुसार 1926 में प्रतिटन कच्चे लोहे के उत्पादन पर लागत 25 रूपये ही थी जो विश्व–स्तर के हिसाब से काफी कम थी। समय–समय पर बाद में भी टिस्को के कारखाने की क्षमता का विस्तार जारी रहा और 1930 के दशक के अंत में कम्पनी 7,00,000 लाख टन का वार्षिक उत्पादन कर रहर थी जो कुल घरेलू उपभोग का 2/3 से भी ज्यादा था।

इस बीच 1918 मे भारत में स्टील और लौह–उत्पादन का एक और कारखाना इंडियन आयरन एंड स्टील कम्पनी द्वारा शुरू किया गया। यह बंगाल का कारखाना मार्टिन बर्न एंड कम्पनी नामक मैनेजिंग एजेन्सी के माध्यम से बंगाल कम्पनी से सम्बंधित था।1920 के शुरू के सालों में कारखाने ने उत्पादन शुरू किया और जापान और अमेरिका को कच्चे लोहे का निर्यात शुरू किया। बंगाल कम्पनी 1930 के दशक में उत्पादन बंद कर देती है और 1936 में बंगाल कम्पनी तथा इंडियन आयरन एंड स्टील कम्पनी दोनों का विलय हो जाता है। 1937 में बंगाल सरकार बंगाल के स्टील कॉरपोरेशन की स्थापना करती है और यह स्टील का उत्पादन भी शुरू करता है। 1940 में बंगाल का स्टील कॉरपोरेशन इंडियन आयरन एंड स्टील कम्पनी द्वारा उत्पादित कच्चे लोहे का इस्तेमाल करके स्टील बनना शुरू करता है और 1945 तक यह भारतीय मंडियों में उपभोग का 20% के लगभग स्टील बना रहा था। कारखाने के सम्मुख प्रंबधन ओर पूंजी की कठिनाईयाँ मुख्य थी और यह लाभकारी ढंग से नहीं चल पा रहा था। 1923 में मैसूर सरकार ने भी मैसूर आयरन एंड स्टील वर्क्स के नाम से एक लकड़ी के कोयले और झाँका भट्टी (blast furnace) की तकनीकी पर आधारित कारखाना खोला। यह मुख्यतया निर्यात के बाजारों में कच्चा लोहा उत्पादन करके बेच रहा था। इसमें भी यह ज्यादा सफल नहीं हो पा रहा था और इसके द्वारा ढँलवा–लौह और इस्पात बनाने का प्रयोग विफल हो गया। सीमा शुल्क आयोग ने इसे संरक्षण दिया तथा मैसूर राज्य से इसे काफी सहायता सबसीडी के रूप में मिलने के कारण ही यह जीवित रह पाया।

टाटा आयरन और स्टील कम्पनी आधुनिक किस्म के बड़े पैमाने के अधिकारी औद्योगिक प्रतिष्ठान की सफलता का अद्वितीय उदाहरण था। यह पूरी तरह भारतीय पूंजी तथा प्रबंधन और रम ने निर्मित किया था। हाँलाकि तकनीकी विशेषज्ञ शुरू में विदेशी इंजीनियर ही थे इसमें ज्यादा पूंजी पारसी उद्यमियों ने लगाई थी। पारसी निवेशकर्ताओं की पूंजी का अनुपात 36% हिन्दू जैन तथा सिख समुदाय के निवेशकर्ताओं का योगदान पूंजी का 50%, मुसलमानों का 6%, अंग्रेज तथा एंग्लो–इंडियन का 5% तथा अन्य का 3% पूंजी का योगदान रहा। अर्थात यह उद्योग विभिन्न समुदायों के निवेशकर्ताओं का साझा प्रयास था। टिस्को कम्पनी को स्थानीय श्रम प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कारखाने के प्रारंभिक निर्माण में पहले स्थानीय आदिवासी श्रमिकों को ही लगाया गया हाँलाकि 1920, 1922 और 1928 में श्रमिकों ने जीवन–निर्वाह की लागत बढ़ जाने से ज्यादा वेतन की माँग को लेकर जबरदस्त हड़तालें की। 1932-37 के बीच 1/3 श्रमिक दूर से लाये गये। प्रबंधन तथा निर्देशन के काम में स्थायीत्व के लिए कम्पनी ने स्थायी और अच्छे वेतन पर मैनेजर आदि रखें। 1920 तक कारखाने में विदेशी इंजीनियरों का दबदबा रहा लेकिन 1925-26 के बाद देशी तकनीकी इंजीनियर काम कर रहे थे।

कम्पनी को राज्य का भी अच्छा समर्थन हासिल रहा। 1916-18 में विदेशों से स्टील की आपूर्ति कम हो जाने का लाभ भी टाटा के कारखाने को मिला। 1920 के दशक में कम्पनी की रेल की पटरियाँ तथा अन्य साजो–सामान सरकार ने खरीदना शुरू कर दिया। साथ ही साथ इस समय उद्योग का यूरोप के सस्ते स्टील से संरक्षण की जरूरत थी जो सरकार ही दे सकती थी। सरकारी रेलों के लिए स्टील का उत्पादित माल सप्लाई करके और 1924-1927 और 1934 के सरकारी संरक्षण का लाभ कम्पनी ने उठाया। 1911-1939 के बीच कारखाने का उत्पादन औसत रूप से हर साल 8% की दर बढ़ता है और श्रमिकों की उत्पादकता में भी इस अवधिक में 7 गुणा वृद्धि होती है। यही कारण था कि टाटा स्टील और लोहे के उत्पादन का सबसे कुशल और पूंजीगत वस्तुओं के उद्योग का उत्कृष्ट नमूना था। यह भारतीय पूंजीपतियों के द्वारा किये औद्योगिक विकास के प्रयासों में सबसे सफल प्रयोग साबित हुआ।

अध्याय - 1(c)

औद्योगिक नीति

औपनिवेशक भारत की अर्थव्यवस्था मुख्यतया एक निजी पूँजीके प्रतिष्ठानों की ही अर्थव्यवस्था थी। इस अर्थव्यवस्था में वित्तीय तथा अन्य संसाधनों के आबंटन का निर्णय नीजि क्षेत्र के द्वारा ही किया जाता था। राज्य का राष्ट्रीय आय के निर्माण में 1872–1947 के बीच औसत हिस्सा 10% से ज्यादा नहीं था लेकिन आधनिक भारत के आर्थिक इतिहास को हम ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य की नीतियों को समझे बिना समझ नहीं सकते। सम्पति के प्रति रज्या का दृष्टिकोण, इसके सार्वजनिक निर्माण कार्यो पर खर्च करने की नीति, राज्य की मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियाँ, सीमा–शुल्क नीति आदि सभी का प्रभाव औद्योगिकरण पर पड़ता है। राज्य की संस्थाओं, समाज की संरचना, आर्थिक अवसरों के बँटवारे तथा उद्योग तथा व्यापार और औद्योगिक उत्पादों के लिए मंडियाँ सभी राज्य के संस्थामूलक विकासों से जुड़े हुए थे। सिद्धांत रूप में सरकार ने अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने का फैसला किया लेकिन बहुत से आर्थिक क्रिया–कलापों पर राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप झलकता था। ब्रिटिश महानगरीय पूंजी या प्रवासी अंग्रेज व्यापारी ओर प्रशासकों ने राज्य के आर्थिक संस्था मूलक ढांचे में कुछ हद तक भागीदारी की। इनमें सार्वजनिक सेवाओं जैसे सुरक्षा संबधी साजो–सामान की आपूर्ति तथा रेलवे के स्टोरों (माल गोदामों) को सामान की आपूर्ति करने वाले ठेकेदार आदि शामिल थे। इसी प्रकार लंदन स्थित विनिमय बैकों का 1890–1925 के बीच ब्रिटिश मुद्रा के विनिमय पर पूरा नियंतत्र था। सार्वजनिक निर्माण कायो। को नीजि पूंजी के एकाधिकारी कंपनियों को सौंप देने की व्यवस्था 19वीं सदी और 20 सदी के प्रारंभ में औपनिवेशिक पूंजीवाद की एक मुख्य विशेषता थी। 1860 से 1920 तक, विशेषकर पूर्वी भारत में, बड़े पैमानें के उद्योग, विदेश व्यापार, वित्त के संस्थान जैसे बैंक आदि सब पर युरोपीय (विशेष कर ब्रिटिश) पूंजी का ही आधिपत्य बना हुआ था ओर उनका औपनिवेशिक प्रशासन से गहरा सामाजिक सम्बंध था। प्रशासन का रवैया आर्थिक संगठन और नीतियों के उस समूह को प्रोत्साहन देने का था जिससे भारत का व्यापक औद्योगिकरण नहीं हो सकता था।

अंग्रेज सरकार की नीति एव दृष्टिकोण

भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का सर्वाधिक प्रमुख कारण तत्कालीन सरकार की भेदभावपूर्ण एवं उपेक्षापूर्ण नीति ही था। ईस्ट इण्डिया कंपनी के शासन के प्रारम्भिक दिनों में तो इसने भारतीय उद्योगों को सहायता देना अनुचित नहीं माना और उसके अनुसार यह समय–समय पर उनको वित्तीय एव संगठनात्मक सहायता प्रदान करती भी रहती थी। इसका कारण यह था कि ईस्ट इण्डिया कंपनी तो मूलतः एक व्यापारिक कंपनी थी। अतः भारत से जिन वस्तुओं का निर्यात होता था उन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को सहायता देने में वह अपना लाभ ही देखती थी किन्तु कंपनी की इस नीति का ब्रिटिश निर्माताओं पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा था। अतः इंग्लैण्ड में विभिन्न वस्तुओं के निर्माताओं ने संगठित होरक इसका विरोध करना शुरू कर दिया और उन्होंने कंपनी शासन पर भारतीय उद्योगों को सहायता न देने का दबाव डाला तभी से अंग्रेज सरकार की नीति भारतीय उद्योगों के प्रति एकदम बदल गई। 1858 में भारत का शासन जब कंपनी से ब्रिटिश सम्राट के हाथों के आया तब भी सरकार भारतीय उद्योगों के विकास के प्रति घोर उपेक्षा की नीति ही बरतती रही।

अंग्रेज सरकार ने अपनी वाणिज्य, राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों को भारत की बजाय ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर ही बनाया और लागू किया था। प्रथम विश्व युद्ध तक भारत की वाणिज्य व राजकोषीय नीति बहुत कुछ लंकाशयर मिल उद्योग के हितों से प्रभावित होती रही। वस्तुतः 1914 तक ब्रिटिश साम्राज्यावाद भारत का खुले तौर पर और साफ–साफ विरोध करता रहा। किन्तु इस बीच भी यदा–कदा देश के परम्परागत हस्तशिल्प उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण खेती पर जनसंख्या के लगातार बढ़ते हुए दबाव को देखकर उद्योगों के विकास की बात उठती रहती थी किन्तु इसके बावजूद सरकार का रवैया लापरवाही का ही रहा। इससे अनेकों उदाहरण देखें जा सकते है। 1880 के अकाल आयोग ने भारत में औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं और सीमा की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया था किन्तु इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि सरकार ने अकाल आयोग के सुझावों के इस पहलू की ओर कोइ। विशेष ध्यान नहीं दिया।

अकाल आयोग के सुझावों से प्रेरित होकर मद्रास सरकार ने कुछ काम अवश्य प्रारम्भ किए थे। 1905 में लार्ड कर्जन की पहल पर वाणिज्य उद्योग विभाग की स्थापना हुई और 1908 में मद्रास सरकार द्वारा उद्योग विभाग के लिए डायरेक्टर की नियुक्ति की गई, किन्तु मद्रास के उद्योग विभाग के कार्यो का स्थानीय युरोपीय व्यापारिक समुदाय ने यह कहकर विरोध करना शुरू रिद दिया कि यह निजी उद्योग के लिए गंभीर खतरा है और राज्य सरकार द्वारा सरकार के दायरे से बाहर के क्षेत्र में किया गया अनुचित हस्तक्षेप है। इसी प्रकार जब भारत सरकार के सैक्रटरी ऑफ स्टेट ने लॉर्ड मारले से उद्योगों के लिए स्थाई विभाग के लिए इजाजत मांगी तो उसने साफ मना कर दिया।

भारतीय औद्योगिक विकास को हतोत्साहित करने के लिए अंग्रेज सरकार ने अपनी सीमा शुल्क नीति भी उसी के अनुसार तैयार की थी। उन्नीसवीं सदी के सातवें और आठवें दशक में जब भारतीय कपड़ा उद्योग अपनी कमजोर स्थिति से कुछ तरक्की करने लगा तो तत्काल इंग्लैण्ड में इस बात के लिए आंदोलन शुरू हो गया कि इंग्लैण्ड से आयत किए जाने वाले सूती कपड़े पर लगने वाले चुंगी समाप्त की जाए। 1874 में मैनचेस्टर के चैम्बर ऑफ कामर्स ने इस आशय का ज्ञापन दिया और 1877 में हाउस आफ कामन्स ने एक प्रस्ताव पारित किया । तदनुसार 1879 में मोटे सूती कपड़ों पर आयात शुल्क समाप्त कर दिया गया। वास्तव में यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि ये आयात शुल्क उस समय समाप्त किए गए जब अकालों के कारण भारत की वित्तीय स्थिति बहुत ही खराब अवस्था में थी। इससे यह साफ जाहिर होता है कि सरकार के सामने भारत की बजाय ब्रिटेन का हित ही प्रमुख था। इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि जब 1894 में सरकार को अपनी वित्तीय जरूरतों के कारण भारत में ब्रिटिश कपड़े के आयात पर 5 प्रतिशत की दर से आयात शुल्क लगाना पड़ा तो भारतीय कपड़ा निर्माताओं को इससे मिलने वाले लाभ को निरस्त करने के लिए उन पर भी 5 प्रतिशत की दर से उत्पादन शुल्क का भार लाद दिया गया। शायद ही सभ्य संसार में ऐसा कोई अन्य उदाहरण मिलेगा। वास्तव में कपड़ा शुल्क नीति के इस सवाल पर ही तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थ ब्रुक ने सैक्रेटरी ऑफ स्टेट लॉर्ड साल्सबरी के साथ मतभेद हो जाने के कारण 1874 में त्याग पत्र दे दिया था। नार्थ ब्रुक का यह कहना था कि भारत की शुल्क नीति का निर्धारण भारत की सरकार को करना चाहिए न कि लन्दन की सरकार को। किन्तु साल्सबरी ने उसकी इस बात को मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया।

इस प्रकार बम्बई के कपड़ा उद्योग को सरकार से सहायता व प्रोत्साहन मिलना तो दूर रहा उसे तो उत्पादन शुल्कों के बोझ से पूरी तरह दबा दिया गया।

इन परिस्थितियों में 1914 तक भारत का औद्योगिक विकास बेहद धीमा रहा। इसके बाद जब प्रथम विश्व युद्ध शुरू हो गया तो सरकार को मजबूर होकर अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसमें भारतीय औद्योगिक विकास की इच्छा जागी। शायद यह विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थिति का ही तकाजा था कि सरकार ने 1916 में एक औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की घोषणा की और उसे निम्नलिखीत विषयों के संदर्भ में सुझाव देने का काम सौंपा गया –

(1) क्या भारतीय पूंजी को वाणिज्य एवं उद्योगों में लाभप्रद लगाने की दृष्टि से कुछ नये काम शुरू किए जा सकते हैं।

(2) और यदि यह सम्भव है तो सरकार औद्योगिक विकास को किस तरह अच्छी प्रकार और प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित कर सकती है।

इस औद्योगिक आयोग ने 1918 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में भारत सरकार की भावी औद्योगिक विकास नीति के बारे में दो प्रमुख बातें कही। प्रथम, सरकार को औद्योगिक विकास में पिछले समय की तुलना में भविष्य में अधिक सक्रिय भुमिका अदा करने की आवश्यकता है और द्वितीय, यदि सरकार देश के आर्थिक विकास में समुचित भूमिका अदा करना चाहती है तो उसे आगे आने वाले वर्षो में एक योग्य प्रकार का प्रशासनिक ढांचा तेयार करना होगा। औद्योगिक विकास की इस रिपोर्ट के बाद कुछ मात्रा में तो अवश्य ही सरकार ने देश में कुछ उद्योग–धन्धों के विकास में मदद की किन्तु फिर भी कुल मिलाकर यह मदद ऐसी नहीं थी जिससे कि देश में तेजी से औद्योगिक विकास को पर्याप्त प्रेरणा और प्रोत्साहन मिल पाता।

उद्योग–धन्धों के विकास के लिए जो साधन जरूरी होते है वे काफी मात्रा में भारत में विद्यमान थे। भारत में लोहा और कोयला जेसी प्रमुख खनिज सम्पदा के पर्याप्त भण्डार थे। इनके अलावा और भी विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ काफी अच्छी मात्रा में पाये जाते थे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत में जल शक्ति के पर्याप्य साधन उपलब्ध थे जिनका उपयोग करके सारे देश में बिजली के तारों का जाल फैलाया जा सकता था। किन्तु ब्रिटिश सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए इन प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के बारे में बराबर उदासीन बनी रही। उसका सारा ध्यान तो भारत के प्राकृतिक साधनों का ब्रिटेन के उद्योगों के लिए उपयोग करने पर ही लगा रहा। इसीलिए तो प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी भारत अपने औद्योगिक विकास से वंचित रह गया।

सरकार की और से कई ऐसी नीतियां थी जिनसे भी यही स्पष्ट होता है कि अंग्रेज सरकार का रूख भारत के उद्योगों के प्रति सहयोग, सरंक्षण व समर्थन का न होकर विद्वेष का ही था। इसका एक बहुत बड़ा सबूत उनकी भण्डार क्रय नीति (Store Purchase Policy) में देखा जा सकता है। सरकार की अपने स्टोर्स के लिए सामान खरीदने की नीति भी भारतीय उद्योगों के विरूद्ध और ब्रिटिश निर्माताओं को लाभ पहुंचाने वाली ही थी। सरकार अपने स्टोर्स तथा रेलों के लिए विभिन्न प्रकार के साज–सामान भारतीय उद्योगों से न खरीदकर ब्रिटेन के उद्योगों में से माल को खरीदती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी यूरोप, जापान और अमेरिका आदि सभी देशों में अपने–अपने घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए उनमें बने सामान को सरकारी खरीद में प्राथमिकता देने की ही नीति अपनायी गई थी। किन्तु इसके ठीक विपरीत भारत में तो सरकार ने अपनी खरीद के लिए भारत की बजाय ब्रिटेन के उद्योगों में बने माल को ही प्राथमिकता दी थी। ऐसी स्थिति में भला क्योंकर भारतीय उद्योग पनप पाते।

सरकार की इस क्रय नीति की देश के अन्दर काफी तीव्र आलोचना हो रही थी और सरकार भारतीय उद्योगों में बने माल को प्राथमिकता देने के लिए बराबर दबाव डाला जा रहा था। अतः दिसंबर 1919 में स्टोर परचेज कमेटी की नियुक्ति करके भारत में सरकारी स्टोर्स की खरीद को प्रोत्साहित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। इस कमेटी का एक सुझाव यह था कि सरकारी खरीद के लिए भारत के उद्योगों को एक न्युनतम आर्डर की गांरटी दी जाए। इस कदम से युद्ध के बाद के दिनों में लोहा व इस्पात उद्योग के विकास को काफी सहायता मिली। इसी समय बहुत से ब्रिटिश एवं युरोपीय उद्योग भी भारतीय बाजार में अपने कम होने के आधार को फिर से प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। वे सरकारी खरीद के लिए कई बार उत्पादन लागत से भी कम कीमत पर माल सप्लाई करने के लिए तैयार रहते थे। 1922 में सरकार की स्टोर्स क्रय नीति के बारे में फिर से जांच करने के लिए जो कमेटी बनाई गई उसने स्पष्ट तौर पर यह कह दिया था कि भारत में नये–नये स्थापित उद्योगों को युरोप में पुराने उद्योगों के साथ कीमत के आधार पर खुली प्रतियोगिता करने के लिए कहना अनुपयुक्त व अन्यायपूर्ण है। अतः कमेटी ने भारतीय उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीति जारी रखने की ही सिफारिश की। इस प्रकार बाद के वर्षो में सरकार की क्रय नीति में अवश्य ही कुछ बड़ी मात्रा में भारतीय उद्योगों के पक्ष में बदलाव आया था।

अंग्रेज सरकार ने भारत उद्योग को भी जानबूझकर समाप्त कर देने की नीति अपनायी और जब भारतीय जहाजों में ब्रिटेन को माल जाने लगा तो ब्रिटेन के जहाज निर्माता चिल्ला उठे और उन्होंने ब्रिटेन और भारत के बीच व्यापार के लिए भारतीय जहाजों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग की और सरकार ने यह प्रतिबन्ध लगा दिया।

यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि भारत में औद्योगिक विकास का काम एकदम उल्टे क्रम से शुरू हुआ। भारत के उद्योगों का विकास कपड़ा व जूट जैसे उपभोक्ता सामान के उद्योगोंसे शुरू होता है। वास्तव में किसी भी देश के औद्योगिक विकास की दृष्टि से ऐसे उद्योगों का विकास निर्णायक महत्व का नहीं होगा। इसके लिए तो आवश्यक था कि लोहा व इस्पात तथा मशीनरी व इंजीनियरिंग जैसे आधारभू उद्योगों का विकास पहले शुरू होता। जब भारी व आधारभूत उद्योगों का विकास हो जाता है तो अन्य उद्योगों का विकास तो अपने आप ही होने लगता है। परन्तु भारत में औद्योगिक विकास के इस आधारभूत सिद्धांत की पूर्णतया उपेक्षा की गई थी। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शासक भारत में कोई स्थायी एवं दीर्घकालीन औद्योगिक विकास नहीं चाहते थे। वे तो भारत का औद्योगिकरण भी उसी हद तक करना चाहते थे जहां तक उनके शोषण का कार्य चलता रहे।

इन सब परिस्थितियों के बीच बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत ने जो थोड़ी बहुत औद्योगिक प्रगति की उसका एक कारण देशी पूंजीपतियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बीच निहित स्वार्थो का तालमेल भी था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत ने आजादी की मांग जोर पकड़ने लगी थी और देश का राजनैतिक वातावरण काफी अशांत हो चुका था। ऐसी स्थिति में भारत पर अपना शोषण जारी रखने के लिए अंग्रेजों ने यह जरूरी समझा कि भारत के ही एक वर्ग को अपने इस काम में शामिल कर लिया जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर उन्होंने भारत के पंजीपति वर्ग का सहयोग प्राप्त करने की नीति बनायी। इस सहयोग को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि इन पूंजीपतियों को कुछ आर्थिक और राजनैतिक सुविधाएं दी जाए। अतः बीसवीं शताब्दी में भारत में जो कुछ कल–कारखाने खुले उनका मुख्या उद्देश्य भारत का औद्योगिक विकास करना नहीं था बल्कि कुछ लोगों को भागीदार बनाकर शोषण की प्रक्रिया को जारी रखना था।

इस प्रकार विश्व युद्धों के दौरान भारत के औद्योगिक क्षेत्र में जो थोड़ी–बहुत हलचल हुई, वह कोई अंग्रेज सरकार की सकारात्मक नीति के कारण नहीं हुई। वह तो युद्धजनित मजबूरी थी इस बारे में सर वेलेंटाइन किरोल ने 2 अप्रैल 1922 के आब्जर्वर में प्रकाशित अपने एक लेख में स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हुए लिखा था कि भारतीय औद्योगिक विकास के बारे में अतीत के हमारे कार्य हमेशा कोई बहुत सराहनीय नहीं रहे हैं और यह युद्ध के कारण पड़ने वाला दबाव ही था जिसने विशुद्ध भारतीय उद्योग के प्रति यदि ईर्ष्या नहीं तो अलगाव की पुरानी प्रवृत्ति को त्यागने के लिए मजबूर किया यदि ध्यान से देखा जाए तो युद्ध की इस नाजुक घड़ी में भी साम्राज्यवादियों की औद्योगिक नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया। युद्धकाल में औद्योगिक कारोबार में तेजी अवश्य आई पर इसका कारण कुद दूसरा ही था। जैसा कि फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री के अध्यक्ष बद्रीदास गोयनका ने कहा था युद्धकाल में भारत के उत्पादन में जो कुछ भी उन्नति हुई वह मौजूदा कलकारखानों और मशीनों को अंधाधुंध चलाकर और मजदूरों से कई–कई पालियों में काम कराके हुई है। युद्ध में शामिल दूसरे देशों में जिस तरह नए कारखाने खोलकर उत्पादन बढ़ाया गया । उस तरह हमारे यहां नहीं हुआ। हमारे यहां यह चीज नहीं के बराबर हुई। इस प्रकार वास्तविकता तो यह थी कि युद्ध के दौरान भी भारत के वास्तविक औद्योगिक विकास के लिए ईमानदारी से प्रयास नहीं किए गऐ। इसके विपरीत, इस काल में भारत का जैसा भंयकर शोषण हुआ वैसा ब्रिटिश शासन के पूरे इतिहास में कभी नही हुआ। भारत के औद्योगिक विकास के प्रति अंग्रेज सरकार का रवैया कितना उपेक्षापूर्ण था, इसके बारे में कलकत्ता के दैनिक स्टेटसमैन के सम्पादक सर एलफ्रेड वाट्सन ने 1933 में रायल एम्पायर सोसायटी की एक बैठक में चेतावनी देते हुए कार था–'यद्यपि भारत में एक महान आद्योगिक देश बनने के लिए सभी आवश्यक तत्त्व पर्याप्त रूप से मौजूद है, फिर भी आज वह आर्थिक दृष्टि से दुनिया का एक पिछड़ा हुआ देश है और उद्योग–धन्धों की दृष्टि से तो बहुत ही पीछे है। .....

भारत में उद्योग–धन्धों का विकास करने की क्षमता असन्दिग्ध रूप से मौजूद है, लेकिन हमने हस समस्या को हल करने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की है... यदि आने वाले वर्षो में भारत अपनी विशाल आबादी की बढ़ी हुई मांग के आधार पर एक अभूतपूर्व ढंग से अपना औद्योगिक विकास नहीं कर सका तो देश के जीवन–निर्वाह का स्तर, जो आज भी हद दर्जे का नीचा है, भूखों मरने के स्तर से भी नीचे गिर जाएगा।'

अंग्रेज सरकार की विद्वेष एवं उपेक्षापूर्ण नीतियों ने भारत के औद्योगिक विकास को कितना नुकसान पहुंचाया था और इसके कारण भारत औद्योगिक जगत में कैसे पिछड़ गया था, इसको समझने के लिए राज्य के सक्रिय सहयोग से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जापान के औद्योगिक विकास का उदाहरण दिया जाता है। इसी अवधि के दौरान जहां जापान ने तेजी से औद्योगिक प्रगति की वहां भारत में औद्योगिक विकास की गति बहुत ही निराशाजनक रही। जब हम भारत और जापान की तुलना करते है तो पाते है कि पूर्व के देशों में शायद भारत पहला देश था जिसने औद्योगिकरण के प्रभाव को सबसे पहले महसूस किया किन्तु फिर भी वह परिवर्तन व संक्रमण अवस्था को पूरा नहीं कर सका। जापान अपनी आवश्यकता के 90 प्रतिशत कच्चे तेल, 88 प्रतिशत अयस्क लोहे और 11 प्रतिशत कोयले का आयात ही करता रहा। जापान में कपड़ा उद्योग काफी समय से प्रमुख उद्योग होते हुए भी उसे कच्चा माल बाहर से ही मंगाना पड़ता था। इसके विपरीत भारत इन सभी चीजों के मामले में काफी लाभप्रद स्थिति में था। परिवहन के साधनों की दृष्टि से जापान भारत की तुलना में अधिक अच्छी स्थिति में नहीं था। परिवहन के साधनों की दृष्टि से जापान भारत की तुलना ने अधिक अच्छी स्थिति में नही था अठारहवीं शताब्दी तक भारत के हस्तशिल्प उद्योग काफी विकसित अवस्था में रहे थे, अतः तकनीकी कौशल की दृष्टि से भारत पूरी तौर पर कोरा नहीं था। 1880 तक तो जापान औद्योगिक प्रगति की। प्राकृतिक साधनों की कमी और सामन्ती राजनीतिक परम्परा वाला पश्चिम से अलग–अलग देश जापान एशिया को औद्योगिक नेतृत्व प्रदान करेगा इसकी शायद ही किसी ने कल्पना की होगी। दूसरी ओर प्राकृतिक साधन सम्पदा से युक्त तथा सम्पन्न औद्योगिक परम्परा वाला भारत औद्योगिक क्षेत्र में इतना पिछड जाएगा। यह भी शायद ही किसी ने सोचा होगा। तो फिर यह क्योंकर हुआ। जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि इसका सबसे प्रमुख कारण यह रहा कि जापान में तो सरकार की सहयोग व सर्मथन की सक्रिय व सकारात्मक भूमिका रही और वहां के उद्योग–धन्धों पर सदैव ही सरकार का वरदहस्त बना रहा। किन्तु दूसरी ओर, भारत में सरकार की भूमिका सदैव नकरात्मक ही रही। औद्योगिक विकास को प्रेरित व प्रोत्साहित करना तो दूर रहा बल्कि उसने यहां के औद्योगिक विकास के मार्ग में तरह–तरह की बाधाएं ही खड़ी की। अतः सच तो यही है कि अंग्रेजी शासन काल में भारत औद्योगिक विकास के क्षेत्र में जो पिछड़ गया उसका मुख्य कारण अंग्रेज सरकार की दुर्भावनापूर्ण नीतियां व पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण ही था।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के औद्योगिक विकास मी जानबूझकर उपेक्षा भारत और ब्रिटेन के सम्बधों के इतिहास का सबसे काला अध्याय है। भारत के परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग, जो सदियों से देश के एक बहु बड़े भाग को रोजगार देते रहे थे, नष्टप्राय कर दिए गए थे। इन हस्तशिल्प उद्योगों के स्थान पर न तो कोई नए उद्योग ही स्थापित किए गए और न ही जापान की तरह हस्तशिल्प की इस पुरानी प्रणाली को नयी औद्योगिक रचना के साथ मिश्रित किया गया। इंग्लैण्ड के हितों को ध्यान में रखते हुए नये मशीनी उद्योगों को विकसित होने की भी खुली इजाजत नहीं दी गई। वस्तुतः अंग्रेजों की नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को दोहरा नुकसान हुआ। व्यवसायों की विविधता को, जो जनसंख्या विस्फोट का सामना कर सकती थी, कठोरता से नियंत्रित कर दिया गया; शीघ्र व ऊंचे लाभ कमाने वाले पूंजी उद्योगों को जन्म ही नहीं लेने दिया गया और इस प्रकार मध्य युगीन दरिद्रता के साम्राज्य का ही अनावश्यक रूप से विस्तार होने दिया गया। अंग्रेजी शासन काल में व्यापार तो तेजी से बढ़ा किन्तु औद्योगीकरण के अभाव में उसने उपनिवेशवादी अर्थव्यस्था के दुर्गुणों को हर बढ़ावा दिया।

भारत में वाणिज्य के विकास ने यूरोप की तरह औद्योगीकरण को बढ़ावा नहीं दिया। विदेशी पूंजी का निवेश मुख्यतः रेलवे, बागान, खनिज, बैंकिग, बीमा और सार्वजनिक ऋण के लिए ही हुआ किन्तु इसने चाय बागानों, खनिज और जूट मिलों को छोड़कर भारत में अन्य किसी आधुनिक उद्योग के विकास को प्रेरित नहीं किया। किंग्स्ले डेविस ने जर्मनी और जापान की तुलना में भारत में औद्योगीकरण की धीमी प्रगति के लिए सरकार की कुछ नीतियों को ही जिम्मेवार ठहराया था। उसने इसके लिए प्रमुख रूप से जिन नीतियों को जिम्मेवार माना था वे थीं : राष्ट्रीय हित के विपरीत प्राकृतिक साधनों का दोहन करने वाल विदेशी उद्यमों को प्राथमिकता देना तथा भारत के कच्चे माल के प्रयोग के लिए देश के उत्पादकों की तुलना में विदेशी उद्यमियों का प्राथमिकता देना; सेना, नागरिक प्रशासन और रेलवे के लिए सामान की खरीद भारतीय फर्मो की बजाय ब्रिटिश फर्मो से करने की नीति; करेन्सी नियंत्रण एवं बैंकिग क्रियाकलापों को भारतीय हितों के खिलाफ संचालित करना आदि।

रेल निर्माण का औद्योगीकरण पर प्रभाव

अंग्रेजी शासन काल के दौरान भारत में रेलों का निर्माण एक काफी बड़ी आर्थिक घटना थी। ऊपरी तौर पर तो लग सकता है। कि यह कदम भारत के विकास में मदद देने वाल था किन्तु गहराई से अध्ययन करने पर यह बात साफ हो जाती है कि इसने भी भारत में शोषण की प्रक्रिया को बढ़ाने में ही मदद की।

भारत में रेलवे निर्माण की दृष्टि से सबसे पहले 1845 में जिन दो कंपनियों की स्थापना की गई वे थीं– ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी ओर ग्रेट इंडियन पेनिसुला रेलवे कम्पनी। बाद में कुछ और भी प्राइवेट कम्पनियों काम सौंपा गया। रेलवे निर्माण का काम भारत में वस्तुतः 1848 में ही शुरू हो सका था। 1853 में भारत में केवल 20 मील लम्बी ही रेलवे लाईन थी। यह बढ़कर 1901 में 25 हजार 3 सौ तिहत्तर मील हो गई थी। जब तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन रहा तब तक रेलवे निर्माण का काम सरकार ने इंग्लैण्ड की प्राइवेट कम्पनियों का सौंपा। रेल निर्माण के लिए इन कम्पनियों के साथ जो समझौता हुआ था उसके अनुसार इनके द्वारा खर्च पर 5 प्रतिशत अथवा साढ़े चार प्रतिशत वार्षिक दर की लाभ की गारण्टी दी गई थी। उदाहरण के लिए यदि किसी कम्पनी को अपनी लगाई हुई पूंजी पर रेलवे ट्रैफिक से 4 प्रतिशत की आय होती थी तो सरकार उसे एक प्रतिशत अपनी ओर से दे देती थी। दूसरी ओर यदि कम्पनी को 5 प्रतिशत से अधिक आय होती थी तो इस अतिरिक्त आय का आधा भाग उस कम्पनी को मिलता था और आधा भाग भारत सरकार को देना होता था। इस न्यूनतम लाभ की गारण्टी प्रणाली का नुकसान यह हुआ कि इन कम्पनियों ने रेलवे निर्माण कार्य में काफी लापरवाही बरती और उसके कारण उनकी फिजूल खर्ची बढ़ती चली गई। यह एक स्वाभाविक–सी बात थी कि जब कम्पनियों को न्यूनतम लाभ की गारण्टी मिल गई तो उन्होंने मितव्ययता बरतना बन्द कर दिया। उनका पता था कि व चाह जितनी लापरवाही बरतें अथवा चाह जितनी गलतियाँ करे उन्हें अपने पूंजी निवेश पर एक न्यूनतम लाभ तो मिल ही जायेगा। इससे ब्रिटेन के पूंजीपतियों को तो भारत में अपनी पूंजी का निवेश करके लाभ कमाने का एक बहुत अच्छा अवसर मिल गया किन्तु दूसरी ओर इसका भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत बोझ पड़ा। कम्पनियों की लापरवाही के कारण साधनों का तो अपव्यय हुआ ही किन्तु साथ–ही–साथ इन कम्पनियों को न्यूनतम लाभ की रकम देने के लिए भारतीय करदाताओं को ऊंचे करों का बोझ भी सहन करना पड़ा। इस प्रकार रेलों का निर्माण भारत को एक घाटे का ही सौदा था।

सरकार की रेल निर्माण नीति का एक बहुत बड़ा दोष यह भी था कि रेलों के निर्माण के लिए देश में उपलब्ध लोहा आदि साधनों का उपयोग नहीं कि गया। चूंकि प्रारम्भ में रेल यातायात से सम्बिधत लगभग सारी सामग्री इंग्लैण्ड से ही आयात की जाती रही। अतः भारतीय रेलों के विकास ने भारत की बजाय इंग्लैण्ड के लोहा व इस्पात आदि के उद्योग के लिए अधिक मदद की। उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास यह बताता है कि पश्चिमी यूरोप, जापान और अमरीका आदि लगभग सभी देशों में रेलवे निर्माण ने इन देशों के औद्योगिकरण को काफी कुछ गति प्रदान की थी। ये देश अपने यहां लोहा व इस्पात तथा अन्य आधारभूत उद्योगों का इसलिए विकास कर पाए कि रेलवे निर्माण के कारण इन उद्योगों के उत्पादन की मांग की जाती रही। किन्तु भारत के पास संसार के लोहे का काफी बड़ा भण्डार होने के बावजूद यहाँ रेलवे निर्माण का काम औद्योगीकरण की प्रक्रिया को गति नहीं दे सका।" इसे वास्तव में संसार का आश्चर्य ही कहा जाएगा। वास्तव में अंग्रेज सरकार ने न तो सवयं ही आगे होकर लोहा उद्योग प्रारम्भ किया और न ही किसी को प्रारम्भ करने की अनुमति दी। 1880 के दौरान प्रसिद्ध उद्योगपति जे. एन. टाटा को संयुक्त प्रान्त में लोहा उद्योग लगाने की अनुमति नहीं दी गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत लौह साधन अविकसित ही पड़े रहे और काफी समय तक देश में औद्योगिकरण प्रारम्भ ही नहीं हो सका।

अंग्रेजों ने भारत में रेलों का निर्माण मुख्य रूप से भारत के विभिन्न भागों से अनाज व कच्चा माल ब्रिटेन भेजने के लिए बन्दरगाहों तक पहुंचाने तथा ब्रिटेन से आए तैयार माल को देश के विभिन्न भागों तक पहुंचान के उद्देश्य से किया गया। अंग्रेज कारखानेदार नो इसी उद्देश्य को सामने रखकर भारत में रेलें बनावा रहे थे इसके माध्यम से वे कम खर्च में कपास और दूसरा कच्चा माल अपने उद्योग–धन्धे के लिए आसानी से निकाल सकेंगे। इस प्रकार रेलवे का प्रयोग भी भारत के शोषण के लिए ही किया गया था। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दौरान अंग्रजों को यह आभास होने लग गया था कि अब भारत में जगह–जगह पर स्वाधीनता की चिंगारी सुलग चुकी है और वह कभी भी कहीं पर भी विद्रोह का रूप ले सकती है। भारतीय राजनीति की इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर भी अंग्रेजों ने रेलों का निर्माण व विकास किया। वे रेलों के माध्यम से देश के विभिन्न इलाकों को इसलिए जोड़ देना चाहते थे जिससे कि किसी भी भाग में विद्रोह होने पर तुरन्त सेना भेजकर दबाया जा सके। इस प्रकार भारत में रेलों के विस्तार के पीछे अंग्रेज सरकार की राजनैतिक व प्रशासनिक मजबूरी भी एक कारण रही थी। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि रेलों पर खर्च की गई धनराशि को उस समय यदि हम सिंचाई सुविधओं पर लगाते तो वह भारत के लिए शायद ज्यादा लाभप्रद हुआ होता। किन्तु जब एक बार देश में रेलों का निर्माण कार्य शुरू हो गया और देश के विभिन्न भाग रेलवे लाइन से जुड़ गये तो इससे होने वाले लाभों से भी देश को वंचित नहीं रखा जा सकता था। यह सम्भव नहीं था कि देश में रेलवे लाइनों का जाल तो बिछता चला जाए किन्तु रेल यातायात की आवश्यकताओं में से उत्पन्न औद्योगिक प्रक्रियाओं को प्रारम्भ होने से रोक रखा जाए। अतः इस रेल निर्माण से देश को कुछ लाभ भी हुए जैसे अकालों पर नियंत्रण, राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन, छुआछूत में कमी, आन्तरिक व्यापार में तरक्की, आवागमन की सुविधा आदि। इनके अलावा रेल परिवहन के विकास ने भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को भी कुछ–न–कुछ आगे बढ़ाने में अवश्य मदद की है। इस प्रकार रेलवे निर्माण से भारतीय अर्थव्यवस्था को कुछ मात्रा में लाभी अवश्य ही हुए हैं किन्तु अंग्रेज सरकार का उद्देश्य लाभ पहुंचाना नहीं था। उन्होंने तो रेलों का निर्माण अपनी प्रशासनिक पकड़ मजबूत करने और औपरिवेशिक शोषण की प्रक्रिया को जारी रखते हुए भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया को गति न पकड़ने देने के उद्देश्य से ही किया था।

विभेदकारी संरक्षण एवं औद्योगीकरण

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय उद्योगों के प्रति सरकार की नीति में कुछ परिवर्तन आया। सरकार ने भारतीय उद्योगों को एक सीमा तक संरक्षण देना स्वीकार किया और इसके लिए सरकार ने विभेदकारी राजकोषीय संरक्षण की नीति अपनाई। ऊपर से तो यह ब्रिटिश उद्योगों के मुकाबरले भारत के नए–नए ही शुरू हुए उद्योगों को संरक्षण व सहायता देने के लिए अपनाई गई थी किन्तु इस नीति को भी अंग्रेज सरकार ने जिस चालाकी और आधे–अधूरे मन से लागू किया उससे भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के नाम पर उसके लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों को ही मिले। इस प्रकार संरक्षण की इस नीति को भी भारत की बजाय ब्रिटिश हितों को पूरा करने वाली ही बना लिया गया। अतः यहां हमें अंग्रेजों की इस संरक्षण नीति की गहराई में जाकर जांच करना होगा और यह समझना होगा कि इसने भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को कैसे और कहां तक प्रभावित किया।

1918 के भारतीय औद्योगिक आयोन ने भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए सरंक्षण की नीति अपनाने का सुझाव दिया था। कुछ वर्षो से देश के राष्ट्रवादी नेता एवं भारतीय उद्योगपति भी संरक्षण की मांग कर रहे थे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए काफी सोच–विचार के बाद सरकार ने अक्तूबर 1921 में प्रथम राजकोषीय आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों मे अथ्वा अनुचित विदेशी प्रतियोगिता के दबावों से बचाने के लिए कुछ उद्योगों को राजकोषीय संरक्षण देने के नीति बनाई। इस संरक्षण की नीति में यह कहा गया कि जो उद्योग निम्नलिखीत तीन कसौटियों को पूरा करेंगे उन्हें संरक्षण दिया जाएगा।की नीति में यह कहा गया कि जो उद्योग निम्नलिखीत तीन कसौटियों को पूरा करेंगे उन्हें संरक्षण दिया जाएगा।

(1) उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक लाभ प्राप्त होने चाहिए जैसे कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती बिजली, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और एक बड़ा विस्तृत घरेलू बाजार

(2) यह उद्योग ऐसा हो जिसके लिए संरक्षण के बिना बिलकुल भी विकसित हो पाना सम्भव न हो अथवा उतनी तेजी से विकसित हो पाना सम्भव न हो जितना देश के हित में आवश्यक है।

(3) यह उद्योग ऐसा भी होना चाहिए जो अन्ततोगत्वा संरक्षण के बिना ही विश्व प्रतियोगिता का मुकाबला कर सकने की क्षमता रख सकता हो।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राजकोषीय आयोग द्वारा संरक्षण के लिए बताई गई ये तीनों कसौटियां तर्क संगत है और काफी आवश्यक है। ऐसे किसी भी उद्योग को संरक्षण देना जिसमें विकास की क्षमता ही न हो और जो संरक्षण दे देने के बाद भी विश्व प्रतियोगिता में टिक पाने की क्षमता न रखता हो, आर्थिक दृष्टि से गलत ही कहा जाएगा। किन्तु इस त्रिसूत्री सिद्धांत में इस बात की ओर ध्यान नहीं रखा गया कि कभी–कभी कुछ मामलों में आर्थिक तर्को की भी अनदेखी करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए ऐसे उद्योग को कभी–कभी काफी लम्बे समय के लिए भी संरक्षण देना पड़ता है जो या तो देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक है अथ्वा जो एक ऐसा आधारभूत उद्योग है जिसका राष्ट्रीय हित की दृष्टि से देश के भीतर ही विकास करना होता है। इसके अलावा जब देश में काफी बड़ी मात्रा में बेरोजगारी अथवा अल्प रोजगार की स्थिति हो तब भी केवल योग्य अद्योगों को ही संरक्षण देने के तर्क से चिपका नहीं रहा जा सकता।

विभेदकारी संरक्षणकारी नीति के विरोध में ऊपर दिए गए सामान्य तकों के अलावा भारत सरकार की 1923-39 के बीच संरक्षण की नीति की इसलिए भी आलोचना की गई कि उसने राजकोषीय आयोग द्वारा बताई गई कसौटियों को बहुत की कठोर और असहानुभूति तरीके से लागू किया। उदाहरण के लिए उसने किसी उद्योग को केवल इसलिए संरक्षण देने से मना कर दिया क्योंकि उसके पास उसके लिए आवश्यक अनेकों प्रकार के कच्चे माल में से केवल एक कच्चा माल उपलब्ध नहीं था जबकि दूसरी और उन्ही दिनों जापान में ऐसे उद्योगों को सरंक्षण दिया गया और उन्होंने सफलतापूर्ण काम भी किया जो अपना सारा कच्चा माल बाहर से आयात करते थे। वास्तव में राजकोषीय आयोग की मंशा यह नहीं थी कि उसके प्राकृतिक लाभों वाले प्रथम सिद्धान्त की इतनी कटोर और शब्दिक व्याख्या की जाए, किन्तु भारत सरकार ने तो बहुत छोटे–छोटे बहाने बनाकर अनेकों उद्योगों की संरक्षण की प्रार्थना को अस्वीकार कर इस नीति की वास्तविक मंशा को ही समाप्त कर दिया।

संरक्षण प्रदान करने के लिए अधिकारियों ने जो तरीका अपनाया वह भी काफी असन्तोषजनक था। राजकोषीय आयोग ने तो संरक्षण प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले उद्योगों के प्रार्थना पत्रों पर विचार करने के लिए एक स्थाई प्रशुल्क मण्डल बनाने की सलाह दी थी किन्तु सरकार तो अस्थाई प्रशुल्क बोर्ड ही बनाती थी जो किसी उद्योग विशेष के संरक्षण के मामले पर विचार करने के बाद भंग कर दिया जाता था। इससे एक ओर तो प्रशुल्क बोर्ड की मशीनरी ठीक से काम नहीं कर पाती थी दूसरी ओर प्रशुल्क बोर्ड में काम करने वाले कर्मचारियों के पिछले अनुभवों का पूरा–पूरा लाभ भी नहीं मिल पाता था, क्योंकि अलग–अलग उद्योग के लिए अलग–अलग प्रशुल्क बोर्ड बनता था। अतः यह विभिन्न उद्योगों के बीच ठीक से तालमेल भी नहीं

बिठा पाता था। इस नीति के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में अधूरा, असंतुलित और विकृत विकास हुआ। इसके अलावा किसी भी उद्योग को संरक्षण तब दिया जाता था जब वह संरक्षण पाने के लिए स्वयं आगे होकर प्रार्थना पत्र देता था। सरकार ने स्वयं कभी भी देश की औद्योगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग को संरक्षण देने की पहल नहीं की।

संरक्षण प्रदान करने के लिए अधिकारियों ने जो तरीका अपनाया वह भी काफी असन्तोषजनक था। राजकोषीय आयोग ने तो संरक्षण प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले उद्योगों के प्रार्थना पत्रें पर विचार करने के लिए एक स्थाई प्रशुल्क मण्डल बनाने की सलाह दी थी किन्तु सरकार तो अस्थाई प्रशुल्क बोर्ड ही बनाती थी जो किसी उद्योग विशेष के संरक्षण के मामले पर विचार करने के बाद भंग कर दिया जाता था। इससे एक ओर तो प्रशुल्क बोर्ड की मशीनरी ठीक से काम नहीं कर पाती थी दूसरी ओर प्रशुल्क बोर्ड में काम करने वाले कर्मचारियों को पिछले अनुभवों का पूरा–पूरा लाभ भी नहीं मिल पाता था, क्योंकि अलग–अलग उद्योग के लिए अलग–अलग प्रशुल्क बोर्ड बनता था। अतः यह विभिन्न उद्योगों के बीच ठीक से तालमेल भी नहीं बिठा पाता था। इस नीति के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में अधूरा, असंतुलित और विकृत विकास हुआ। इसके अलावा किसी उद्योग को संरक्षण तब दिया जाता था जब वह संरक्षण पाने के लिए स्वंय आगे होकर प्रार्थना पत्र देता था। सरकार ने स्वयं कभी भी देश की औधोगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग को संरक्षण देने की पहल नहीं की।

इन सब सीमाओं के बावजूद सरकार की विभेदकारी संरक्षण की नीति से निश्चित ही औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाने में कुछ मदद की। संरक्षण की इस नीति के तहत सबसे पहले लोहा व इस्पात उद्योग को 1924 में संरक्षण दिया गया था। इसके बाद तो अनेकों उद्योगों को संरक्षण दिया गया जैसे 1925 में कागज उद्योग को, 1926 व 1930 में सूती वस्त्र उद्योग को, 1928 में माचिस उद्योग को, 1931 में भारी रसायन उद्योग को, 1932 में चीनी उद्योग को और 1934 में सिल्क उद्योग को संरक्षण दिया गया। कुछ ऐसे भी महत्वपूर्ण उद्योग रहे जिन्हें सरंक्षण दिया जाना चाहिए था किन्तु नहीं दिया गया जैसे सीमेंट, शीशा एवं पैट्रोलियम उद्योग। यहां यह बात ध्यान देने की है कि 1924 में लोहा उद्योग को संरक्षण मिल जाने के बाद कई अन्य उद्योगों ने भी संरक्षण के लिए प्रार्थना पत्र दिये। अधिकांश मामलों में इन आवेदनों को मजूंर नही किया। क्या यह बात आश्चर्य जनक नहीं है कि सीमेंट और पैट्रोलियम जैसे उद्योगों के आवेदनों को तो नामंजूर कर दिया गया और माचिस उद्योग के आवेदन को स्वीकार कर लिया गया। वास्तविकता यह थी कि भारत के माचिस अद्योग में अधिकांश विदेशी पूंजी लगी हुई थी। अतः इस उद्योग को सरंक्षण देकर सरकार ने एक तरह से विदेशी पूंजी को ही संरक्षण दिया था। इसमें भारत का हित कम विदेशी हित की अधिक था।

उन दिनों भारत सरकार की राजकोषीय की नीति से सम्बन्धित जो एक महत्वपूर्ण मुद्दा सामने आया वह था शाही साम्राज्य से आने–जाने वाले सामानों को रियायत देने का मुद्दा। भारत की जनता तो इस मत की थी कि सभी सामानों पर एक जैसे दर से ही आयात व निर्यात कर लगे चाहे वे फिर किसी भी देश से आये अथवा किसी भी देश को जाये। किन्तु अंग्रेजों की शाही रियायत की नीति के अनुसार ब्रिटेन तथा ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र के देशों से आने अथवा उनको जाने वाले सामान को खास प्राथमिकता दी जानी चाहिए थी। 1920 में शाही रियायत की इस नीति को एक छोटे–से रूप से पहले से ही लागू किया जा चुका था जबकि ब्रिटेन एवं ब्रिटिश क्षेत्रों को हड्डियां व खालों के निर्यात पर अन्य देशों की तुलना में कम दर से शुल्क लगता था। जब राजकोषीय आयोग ने भारत के लिए सरंक्षणात्मक प्रशुल्क नीति का सुझाव दिया तो शाही रियायत का यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण बना गया। ब्रिटेन से आने वाले आयातों को रियायत देने की नीति का भारत के लोगों ने इस आधार पर विरोध किया कि ऐसा करने पर तो संरक्षण की नीति की प्रभोत्पादकता ही समाप्त हो जायेगी और यह तो भारतीय उपभोक्ताओं की लागत पर ब्रिटिश उत्पादकों की सहायता करने जेसा होगा। अस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका जैसे ब्रिटिश आधिपत्य वाले देशों से आयातों को विशेष रियायत देने का तो राजनीतिक आधार पर भी विरोध किया गया। उनका कहना था कि जब तक ये देश अप्रवास एवं निवासी बनने के मामले में एशिया विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं तब तक भारत भी उनके निर्यातों के मामले में उदार नहीं हो सकता। किन्तु इन सब विरोधों के बावजूद भारत सरकार ने 1924-25 के दौरान देश के प्रशुल्क कानूनों में शाही रियायतों के उपायों को शामिल कर दिया। जब 1924 में स्टील के आयात पर संरक्षणात्मक शुल्क लगाया गया था तब गेर ब्रिटिश देशों के मुकाबले ब्रिटेन के आयात पर शुल्क की दर कम रखी गयी थी। इसी प्रकार सूती कपड़े के मामले में ब्रिटेन से आने वाले आयातों को शुल्क में विशेष रियायतें दी गई थीं।

1932 में ओटावा में जो समझौते हुए उन्होंने तो शाही रियायतों की इस नीति को ओर भी अधिक पक्का कर दिया। ओटावा समझौते के अनुसार ब्रिटिश बाजारों में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों की वस्तुओं को प्रवेश करने देने की सुविधा प्राप्त की गई थी ओर उसके बदले ब्रिटिश वस्तुओं के आयातों को रियायतें दी गई थी। भारत और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों के बीच 20 अगस्त 1932 को यह समझौता हुआ था। इस समझौते के अनुसार ब्रिटिश बाजारों में भारत की निम्नलिखीत वस्तुओं को बिना शुल्क के प्रवेश

करने की इजाजत मिली, कपड़े व जूट से बनी वस्तुएं, कमायी गयी हड्डियाँ व खाले, चावल, चाय, काफी, मूंगफली, मैगेनीज, मैग्नेशियम क्लोराइड, गैर जरूरी वनस्पति तेल आदि। इसके बदले भारत के ब्रिटेन से मोटर वाहनों के आयात पर 7 1/2 प्रतिशत तथा अन्य अनेकों प्रकार की वस्तुओं के आयात पर 10 प्रतिशत की दर से रियायत देना स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन से आने वाली सूती कपड़े तथा लोहा व इस्पात की वस्तुओं को रियायत देने का भी इस समझौते में प्रावधान किया गया था। इस समझौते के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि विश्वव्यापी महामंदी से उत्पन्न जबरदस्त प्रतियोगिता के वातावरण में केवल इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौतों के माध्यम से ही भारतीय निर्यातों को बनाये रख पाना सम्भव हो सकता था। ब्रिटेन द्वारा भारतीय सामानों के आयात में वृद्धि हुई और 1931-32 में वह 35.5 प्रतिशत से बढ़कर 1934-35 में 40.6 प्रतिशत हो गई। जापान तथा ब्रिटेन के अलावा अन्य देशों के सूती सामान पर शुल्क 50 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। 1933 में जबरदस्त व्यापारिक होड़ दौरान एक समय तो इसे बढ़ाकर 75 प्रतिशत तक कर दिया गया था। दूसरी ओर, ब्रिटेन के सूती सामानों पर शुल्क घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया गया। 1933 में शुल्क बोर्ड की रिर्पोट ने शाही सामानों के प्रति बरती जाने वाली रियायत के विरूद्ध अपना मत व्यक्त किया था लेकिन सरकार ने इसकी अवहेलना कर दी और रियायत की नीति जारी रखी। कुल मिलाकर ओटावा समझौते के तहत चलने वाली शाही सामानों की रियायत की नीति भारत के लिए संतोषजनक साबित नहीं हुई। इस नीति के कारण भारत में ब्रिटेन के निर्यात तो बहुत तेजी से बझे जबकि ब्रिटेन को भारत के निर्यातों में बहुत थोड़ी–सी ही वृद्धि हुई। इस समझौते के कारण भारत के साथ व्यापार में सहयोगी यूरोप एवं उत्तरी अमरीका के देशों के मन में असंतोष उत्पन्न हो गया। वस्तुतः इस समझौते ने भारतीय अर्थव्यवस्था के बजाय ब्रिटिश उद्योगों को ही अधिक लाभ पहुंचाया था। जब 1936 में इस समझौतेकी नवीनीकरण के लिए रखा गया तो भारतीय विधान सभा ने इसकी शर्तो का जमकर विरोध किया और परिणामस्वरूप समझौता रद्द कर दिया गया। किन्तु भारतीयों के विरोध के बावजूद मार्च, 1939 में एक नया भारत–ब्रिटिश समझौता कर लिया गया। यद्यपि इस समझौते में ब्रिटिश आयातों को दी जाने वाली रियायतों के क्षेत्र को काफी कर दिया गया था किन्तु उस समय के राजनीतिक वातावरण में भारतीय जनता ऐसे किसी समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी जो गेर ब्रिटिश देशों की तुलना में ब्रिटिश आयातों को कुछ भी विशेष रियायत देता हो।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 1923-39 वाली राजकोषीय नीतियां ही जारी रहीं। विदेशों से आयात बन्द हो जाने के कारण भारत में कई नये उद्योग शुरू होते जा रहे थे। इन उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने जून 1940 में राजकोषीय नीति में उदारता बरतने की घोषण की। नये उद्योगों को इस बात का आश्वासन दिया गया कि यदि वे सुदृढ धरातल पर काम करते रहेंगे तो उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा की जायेगी। यह युद्ध से पहले की नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। किन्तु एक अर्थ में यह आश्वासन कोई बहुत अधिक ठोंस धरातल पर आधारित नही था क्योंकि युद्ध के दिनों के बहुत से उद्योग तो उस समय की परिस्थितियों में काम चलाने के लिए ही शुरू किये गये थे और उन्हें युद्ध के बाद भी कृत्रिम ढ़ंग से चालू रखने के प्रयास अनार्थिक ही साबित होने वाले थे।

भारत सरकार ने अप्रैल 1945 में युद्ध के दौरान अस्तित्व में आये अद्योगों को संरक्षण देने के मामलों की जांच करने के लिए एक विशेष प्रशुल्क मण्डल का गठन किया। इस प्रशुल्क मण्डल के मार्गदर्शन के लिए सरकार ने निम्नलिखीत दो मार्ग दर्शक सिद्धान्त बनाये–

(1) जिस उद्योग की सहायता की जानी हो वह ठोस व्यवसायिक आधारों पर स्थापित हुआ हो और काम कर रहा हो, तथा

(2) (क) या तो वह उद्योग उसे प्राप्त प्राकृतिक एवं आर्थिक लाभों तथा उसकी वास्तविक व संभावित लागतों को ध्यान में रखते हुए एक उचित समय–सीमा के भीतर संरक्षण अथवा सरकारी सहायता के बिना सफलतापूर्वक अपना काम चलाने में समर्थ होय

(ख) अथवा वह ऐसा उद्योग हो जिसे राष्ट्रीय हित में सरक्षण या सहायता देना वांछनीय हो और इस प्रकार के संरक्षण या सहायता का संभावित भार समान पर बहुत अधिक न होता हो।

जिन लोगों ने 1922-23 की संरक्षण नीति का यह कहकर विरोध किया था कि यह कठोर है उन्हें संतुष्ट करने के लिए ही उपधारा (ख) पर्याप्त उदार बनाया गया था। यहां सरंक्षण के आधार को तो विस्तृत कर दिया गया था किन्तु प्रशुल्क मण्डल को तीन वर्ष से अधिक समय के लिए संरक्षण स्वीकृत करने का अधिकार नहीं दिया गया था। अतः इसे अपर्याप्त माना गया क्योंकि युद्ध के समय के उद्योगों को युद्धोत्तर प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए बड़ी मात्रा में निवेश करना जरूरी था और इसके लिए उन्हें लम्बे समय के संरक्षण की आवश्यकता थीं। सरंक्षण की नीति के तहत भारत में जिस प्रकार की शुल्क

प्रणाली लागू की गई उसने भारतीय उद्योगों के विकास को प्रभावित करने के साथ–साथ विदेशी हितों को भी फायदा पहुंचाया और इन विदेशी हितों में सबसे ज्यादा ब्रिटिश हित ही थे। इस संरक्षणात्मक प्रणाली का खुलकर लाभ उठाते हुए बड़े विदेशी इजारेदारों ने भारत में अपने उप व्यवसाय स्थापित कर लिये और भारत के औद्योगिक विकास के लिए गंभीर खतरा बन गये। जब भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया गया तो इसमें इन उद्योगों को भी संरक्षण मिल गया तो ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में स्थापित किये थे। इसके अलावा, भारत सरकार ने शाही रियायतों की जो प्रशुल्क नीति लागू की थी उसके माध्यम से ब्रिटिश पूंजीपति भारत के बाजारों को गैर ब्रिटिश प्रतियोगियों के आक्रमण से बचाने में सफल हो गये और इसे परिणामस्वरूप भारत के बाजारों में उनका वर्चस्व कायम रहा। इस प्रकार इस संरक्षण की नीति का भी बहुत कुछ लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों व उद्योगपतियों ने उठा लिया।

भारत की विभेदकारी संरक्षण की नीति की ओर भी कई आधारों पर आलोचना की जाती रही है। कुछ लोगों का कहना है कि संरक्षण की नीति जिस समय लागू की गई उस समय भारत के उद्योगों को इससे विशेष लाभ हो ही नहीं सकता था। यदि यहीं संरक्षण प्रथम विश्व युद्ध से पहले दिया जाता तो भारत के औद्योगिक विकास को भी काफी अच्छा बढ़ावा मिल सकता था। 1924 में जब लोहा व इस्पात उद्योग को संरक्षण दिया गया तब तक रेलवे निर्माण का काफी बड़ा भाग पूरा किया जा चुका था, अतः इसका देश को पूरा लाभ नहीं मिल पाया। इसके अलावा भारत में सरंक्षण की नीति को पूरी ईमानदारी से भी लागू नहीं किया गया। सरकार ने सरंक्षण देने की खानापूर्ति ज्यादा की, वास्तव में सहायता कम। किन्तु जो कुछ भी संरक्षण दिया गया उसका उद्योगों को अवश्य ही लाभ हुआ। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि भारत में समय पर, पर्याप्त मात्रा में और पूरी ईमानदारी के साथ संरक्षण की नीति को लागू कर दिया गया होता तो भारत भी दूनिया के औद्योगिक क्षेत्र में एक ताकत बनकर खड़ा हो गया होता। किसी भी विकासशील देश की सरकार संरक्षण की नीति के माध्यम से ही अपने देश के उद्योगों के विकास में मदद कर सकती थी। आज के लगभग सभी विकसित देशों की सरकारों ने अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में ऐसा किया भी था। यह तो एक वह न्यूनतम काम है जो किसी भी सरकार को करना नही चाहिए। किन्तु भारत की अंग्रेज सरकार ने तो अपने इस न्यूनतम दायित्व को भी ईमानदारी से नहीं निभाया।

अध्याय - 1(d)

औद्योगिक श्रम और ट्रेड यूनियन आंदोलन

औद्योगिक वर्ग का स्वरूप, चरित्र और जीवन

भारत में सार्वजनिक निर्माण कार्यो जैसे, रेलवे तथा सार्वजनिक भवनों के निर्माण तथा सीमित औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप औद्योगिक श्रमिक वर्ग का उदय होता है। अंग्रेजी काल में भारत का व्यावसायिक ढाँचा जड़ बना रहता है और औद्योगिकरण की प्रक्रिया व्यापक न होने के कारण आधुनिक औद्योगिक श्रमिकों का संख्या में ज्यादा तेजी से वृद्धि नहीं होती। जैसें 1901 में कुल श्रमिकों की ब्रिटिश क्षेत्र में संख्या 34.39 मिलियन थी जो 1947 तक आते आते बढ़ कर लगभग 38 मिलियन ही हो सकी थी। औपनिवेशिक राज्य ने फैक्टरी एक्टों के माध्यम से 'औद्योगिक' या 'फैक्टरी' की परिभाषा समय–समय पर दुबार–दुबारा परिभाषित की इसलिए आधुनिका उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या का सही–सही आंकलन कर पाना आसान नहीं है। फिर भी मोटे तौर पर अनुमान है कि सन 1894 में कुल 815 विभिन्न किस्म की आधुनिक फैक्अरियों में लगभग 3.5 लाख मजदूर काम कर रहे थे। 1914 में कुल फैक्टरिया में 1751 लाख और 1945 में 14761 फैक्टरियों में 26.43 लाख औद्योगिक श्रमिक काम पर रहे थे। भारत की विशालकाय आबादी को देखते हुए यह संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। लेकिन आर्थिक रूप से देखें तो श्रमिकों की उत्पादकता इस क्षेत्र में ज्यादा होने के कारण बड़े पैमाने के उद्योगों का कुल राष्ट्रीय आय मे योगदान अपेक्षाकृत अन्य गैर औद्योगिक क्षेत्रों के मुकाबले में कहीं बहुत ज्यादा था। बड़े औद्योगिक शहरों में औद्योगिक श्रमिक वर्ग की संगठनात्कम शक्ति भी इसे राजनीतिक रूप से ज्यादा महत्त्वपूर्ण सामाजिक वर्ग बना देती है। आधुनिक उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों में सबसे ज्यादा अनुपात सूती मिलों और जूट की मिलों का ही था। इन मिलों में 1945 में 26.43 लाख में से 10.14 लाख मजदूर (औद्योगिक) काम कर रहे थे और इसमें अगर इन मिलों के आर्थिक निर्भरता वाली छोटी कपास या जूट की परिष्करण करने वाली मिलें भी शामिल कर दी जायें तो उनमें भी लगभग 3 लाख ओद्योगिक मजदूर कार्यरत थे अर्थात् रोजगार की दृष्टि से कपड़ा उद्योग में सबसे अधिक औद्योगिक श्रमिक रोजगार पा रहे थे। इसके बाद खानों में काम कर रहे श्रमिक थे जिनकी तादाद 1945 में 3.86 लाख थी। स्पष्ट रूप से औद्योगिक ढाँचे में पूंजीगत भारी मशीन निर्माण आदि का अभाव होने से उस क्षेत्र में औद्योगिक श्रमिको की संख्या ज्यादा नहीं थी। इस प्रकार का औद्योगिक ढाँचा होने से प्रशिक्षित तथा आधुनिक तकनीकी जानकारी रखने वाला श्रमिक कुलीन वर्ग (Labour Aristocracy) भी भारत में जन्म नहीं ले पायी थी क्योंकि कपड़ा उद्योगों में या खनन कार्य में लगे ज्यादातर मजदूर शारीरिक श्रम पर ही निर्भर थे।

संख्या की दृष्टि से देखा जाये तो श्रम भारत में एक अतिरिक्त और फालतू संसाधन था और किसी उद्योग का श्रम की आपूर्ति की समस्या नहीं हो सकती थी। लेकिन किसी संसाधन की प्रचुरता चाहे वह श्रम जैसा गतिशील साधन ही क्यों न हों, का अर्थ यह नहीं था उद्योगों के लिए श्रम सरलता से मिल जाता था। कई क्षेत्रों में, जैसे – चाय बागानों और कोयले की खानों में श्रम की कमी शुरू में महसूस की गई और इससे निपटने के लिए ठेकेदारों या विचौलियों के द्वारा अनुबंध व्यवस्था (Indenture System) के तहत दूर–दराज के इलाकों से मजदूरों को लाया गया। दक्षिण में भी रबड़ और कॉफी के बागानों में मजदूरों को स्थानीय ठेकेदारों या कामगानियों के माध्यम से प्राप्त किया जाता था। चाय के बागों में बाद के वर्षो में ऐसे चाय बागानों में काम करने वाले मजदूर या सरदारों के माध्यम से उनके गाँव से बाकी मजदूरों को रोजगार देने का प्रयास किया गया। 1932 में टी डिस्ट्रिकट इमीग्रेट लेबर एक्ट (Tea District Emigrant Labour Act) के तहत चाय बागानों मे सरदार और ठेकेदारों के माध्यम से मजदूरों की भर्ती पर रोक लगा दी गई और अनुबंध–व्यवस्था को पूरी तरह खत्म कर दिया गया।

19 वीं सदी के मध्य में भारत में विकसित हुए फैक्टरी–उत्पादन व्यवस्था में श्रम का इस्तेमाल रोजगार का एक नया रूप था। फैक्टरी श्रम का विकास ग्रामीण तथा पररम्परागत व्यवसायों जैसे कृषि या हस्त–शिल्प उद्योग से हट कर आधुनिक मशीन–आश्रित उद्योगों में श्रमिकों के आने की प्रक्रिया है। बड़े–पैमाने के उद्योगों में कलकत्ता या बम्बई जैसे–ओद्योगिक केन्द्रों में ज्यादातर मजदूर आप्रवासी थे। उनके काम के तरीके, कार्य–स्थल तथा जीवन–शैली में इन शहरों में आने से काफी बदलावा आया। इतिहासकार अक्सर यह सवाल पूछते है कि इस परिवर्तन का मिल मालिकों और मजदूरों के सम्बंध पर क्या असर पड़ता है?

क्या इससे श्रमिकों की आय और जीवन–स्तर सुधरती है या नहीं? इनकी पहले की परिस्थियों और औद्योगिक केन्द्रों में आने के बाद के हालातों में क्या अंतर था? आदि । सब बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों में फैक्टरी के तल पर मजदूरों में एक पदानुक्रम रहता है। सामान्यतया मजदूरों में यह भेट किया जाता है कि उन्हें मशीनी तकनीकी का औपचारिक और फैक्टरी में काम करते हुए लम्बी अवधि का प्रशिक्षण प्राप्त है या नहीं। प्रशिक्षित कुशल श्रमिकों को कारखानें की समूची तकनीकी कार्य प्रणाली का

कम से कम सिद्धांत रूप में, ज्ञान होता है। इसका अर्थ है कि वे कई तरह की मशीनों पर काम कर सकते है। और एक ही मशीन से तरह–तरह के काम भी ले सकते है। और जरूरत पड़ने पर मशीनों की मरम्मत तथा उनके पुर्जो को बदलने का काम भी ले सकते है। अप्रशिक्षित श्रमिकों का समूह केवल कुछ खास यांत्रिकीय कार्यो को या सामान्य शारीरिक काम ही फैक्टरी में कर सकता है। हॉलाकि मजदूरों का यह विभेद एकदम ठीस नहीं होता हे और इन दोनों समूहों के बीच में अलग–अलग योग्यता वाले बहुत से मजदूर होते है। लेकिन कारखाने में सबसे उच्चतम वेतन तथा न्यूनतम वेतन पा रहे मजदूरों की पहचान हम इस तरह से कर सकते हैं। इन समूहों को रोजगार देने वाले समझौते की प्रकृति भी अलग–अलग होती है। प्रशिक्षित तथा तकनीकी रूप से कुशल श्रमिक कारखाने के सामान्यतय स्थायी कर्मचारी होते है जबकि अधिकांश अप्रशिक्षित मजदूर अस्थायी और अनियमित आधार पर मजदूरी करते हैं। इन दोनों मजदूरों के समूहों के बीच गतिशीलता सम्भव थी। अप्रशिक्षित मजदूर तकनीकी प्रशिक्षण हासिल कर सकते थे। लेकिन यह विभाजन ऐसा था कि इन मजदूरों की श्रेणियो की भर्ती अलग–अलग होती थी और ये अलग–अलग सामाजिक पृष्ट भूमियों से आते थे।

1925-26 तक भी सूती मिलों, जूट मिलों, लोहे–इस्पात के कारखानों तथा कई अन्य बड़े–पैमाने के उद्योगों में प्रशिक्षित तकनीकिशियन अधिकांश विदेशी ही थे। इसके बाद हिन्दु अच्च जातियों के हाई स्कूल शिक्षा प्राप्त प्रशिक्षित श्रमिक थे। इसके विपरीत, अप्रशिक्षित श्रमिक ज्यादातर कृषि और कारगिरी जातियों के अशिक्षित या कम शिक्षा प्राप्त लोग थे। श्रम शक्ति में इस तरह का भेद भारत के श्रम की ही विशेषता थी। अन्य औद्योगिकृत अर्थव्यवस्थाओं में इस हद तक का विभाजन दिखाई नहीं देता है। ज्यादातर श्रम का इतिहास–लेखन अपेक्षाकृत अप्रशिक्षित श्रमिकों पर ध्यान केन्द्रित करता है क्योंकि ये तादाद में ज्यादा थे और उनके मामले में अतीत के उनके पूर्वजों के व्यवसाय तथा जीवन–शैली से बदलाव प्रशिक्षित तकनीकी श्रमिकों तथा इंजीनियरों के मुकाबले में ज्यादा आकस्मिक और असरदार था। इस तरह का कोई सबूत नहीं है जिससे यह लगे कि अप्रशिक्षित मजदूरों को भरती करना उद्योगों और फैक्टरीयों के लिए मुश्किल था। उदाहरण के लिए सूती मिलें युद्धों के बीच की अवधि तक उन 'श्रम के ठेकेदारों' (Labour-Contractors) पर मजदूरों को पाने के लिए निर्भर रही जो अपने स्थानीय इलाकों से मजदूर भरती करके लाते थे। ये श्रम के ठेकेदार, बम्बई की मिलों में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था जो अपनी सेवाओं के लिए मिल–मालिक और मजदूर दोनों से ही कमीशन वसूलता था। ठेकेदार की शक्ति जब ज्यादा मजदूर फैक्टरी में काम पाना चाहते थे तब ज्यादा बढ़ जाती थी या जब मिल में काम की कमी होती थी तब भी। लेकिन ऐसे समय में मिल को उसकी सेवाओं की ज्यादा जरूरत नहीं होती थी और उन पर निर्भरता की कम हो जाती थी। युद्धों के बीच की अवधि में बम्बई की मिलों में इस तरह के हालत पैदा हो चुके थे और इस अवधि में मजदूरों के बीच असंतोष का एक मुख्य कारण श्रम के ठेकेदारों या जॉबर्स (Jobbers) की स्थिति का कमजोर हो जाना भी था। इसके विपरीत श्रम की भरती में जूद मिलों में इस तरह के बिचौलियों की इतनी अहम नहीं थी। मॉरिस डी0 मॉरिस ने अपने अध्ययन, The Emergence of a industrial labour force in India. में यह दिखाने की कोशिश कि बम्बई की सूती मिलों में स्थायी तौर पर काम करने वाले मजदूरो का अनुपात, जो मिलों में 10 साल से ज्यादा समय ले लगातार काम कर रहे थे, सन 1890 में 26.7 प्रतिशत था और 1927-28 में भी यह अनुपात बढ़कर 39.1 प्रतिशत ही हुआ था। इसका अर्थ यह था कि मिलों मे काम कर रहे अधिकांश मजदूर अस्थायी और अनियमित थे तथा कई विद्वानों के अनुसार श्रम–शक्ति की संरचना में स्थायीत्व न होने से श्रम की कुशलता तथा उत्पादकता पर भी बुरा असर पड़ता था और इसके श्रमिकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी अपनी सामाजिक जड़ों से उखड़ने जैसा था और इसके परिणामस्वरूप ओद्योगिक श्रमिकों में शराब की लत, जुओं की आदत और काम पर गैर–हाजिर रहने की प्रवृति बड़े पैमाने पर फैलती है।

मिल–मजदूर विशेष तौर से कुछ खास क्षेत्रों से ही आते थे जैसे सूती मिलों के लिए मुख्यतया कोनकन तथा दक्कन क्षेत्र से या पूर्वी यू.पी. तथा जूट मिलों के मजदूर ज्यादातर उत्तरी बिहार, पूर्वी यू.पी. और उड़ीसा से आते है। ये औपनिवेशिक काल में आंतरिक प्रवासन की दो धाराओं को प्रदर्शित करते हैं। पहली प्रवसन की धारा उत्तर पूर्वी तरफ प्रवास करती है दूसरी दक्षिण से पश्चिम की ओर रूख करती है। ग्रामीण अंचलों से प्रवसन करके शहरों में जाकर बसने के पीछे कई कारण थे। यहाँ यह सवाल भी उठता है कि स्थानीय श्रमिकों का इस्तेमाल करने के बजाय मिलों के प्रवासी–मजदूरों को रोजगार क्यों दिया। ललिता चक्रवर्ती ने सुझाव दिया है कि जहाँ से प्रवासी–मजदूर आये वहाँ कृषि की दशा खराब होने से, श्रम का नियत–मूल्य इन क्षेत्रों मे कम था । इसके विपरीत स्थानीय खेतिहर मजदूर प्रवासी क्षेत्रों में से आये मजदूरों की अपेक्षा ज्यादा मजदूरी प्राप्त कर रहे थे। लेकिन उनके अनुसार प्रवासी–मजदूरों को मिलों में आने से ज्यादा लाभ नहीं होता क्योंकि मिल–मालिक उनकी मजदूरी तथा सौदा करने की शक्ति को कम करके ही रखते हैं। उनके अनुसार, बिचौलिये के द्वार मजदूरों की भरती, जिसे उन्होंने लेबर–लार्डिज्म (Labour-lordism) का नाम दिया, शक्ति की एक गैर–आर्थिक, गैर–बाजारू संस्था थी जो मजदूरो की मजदूरी और सौदेबाजी की क्षमता को कम करने में सहायक थी। राजनारायण चन्द्रावरकर ने अपनी पुस्तक, The origins of Industrial Capitalism in India (Cambrige, 1994) में ललिता चक्रवर्ती के विशलेषण का खण्डन करते हुए उसकी कमजोरियों पर रोशनी डाली है। उनके अनुसार प्रवासी–मजदूर ग्रामीण समाज के सभी तबकों से आते है और यह जरूरी नहीं है कि वे सबसे गरीब खेतिहर मजदूर वर्ग से ही आयें। बम्बई और कलकत्ता की मिलों में काम करने वाले बहुत से प्रवासी–मजदूरों के पास गाँवों में

भू–सम्पतियाँ थी। पुरुष–व्यस्क शहर में मिल में काम करने के लिए चले जाते थे और परिवार गाँव में काम करता रहता था। पूरा परिवार शहर में तभी जाता है जब उसके ग्रामीण संसाधन बिल्कुल खत्म हो जाते हैं। शहर की मिलों में काम खेती के कामों से पूरा सम्बंध खत्म होने जैसा या उसके स्पष्ट विकल्प जैसा नहीं था। यह एक कार्यशील परिवार के लिए व्यवसाय के विविधीकरण जैसा था। इसका उद्देश्य परिवार की आय में वृद्धि करना, जोखिम को कम करना या खेती में अपने पैर–जमायें रखने का हो सकता था। दूसरी अध्ययन ये दिखाते है कि विशिष्ट सामाजिक पृष्ट–भूमि के प्रवासी मिलों में विशिष्ट किस्म के व्यवसायों में ही रोजगार प्राप्त करने के लिए जाते हैं। लेकिन सभी प्रवासी–मजदूरों में एक खास समानता यह थी कि उनहें शहर में आर्थिक–सुअवसरों का ज्ञान और जानकारी थी और प्रवास के मार्ग में ऐसे व्यक्तियों या व्यवस्था से पहचान थी जो उन्हें शहर में ला सकते थे।

धीरे–धीरे सूती और जूट की मिलों में महिला–श्रमिकों की भागीदारी कम होती जाती है। स्त्रियों की जगह प्रवासी पुरुष–श्रमिकों को रखा जाने लगता है। महिलाओं के श्रम के अनुपात में यह गिरावट जूट तथा सूती मिलों में 1928-40 के मध्य ज्यादा तेजी से होती है क्यों कि स्त्रियों के रोजगार–सम्बंधी श्रमिक कानूनों में महिला–श्रमिकों के लिए विशेष प्रावधान किये गये जिनमें मातृत्व के लाभ तथा रात में काम करने पर प्रतिबंध प्रमुख थे। इससे मिल–मालिकों ने महिला–श्रमिकों की जगह पुरुष–श्रमिकों को रोजगार देना ज्यादा ठीक समझा। स्मिता सेन ने अपने अध्ययन, की विमेन एंड लेबर इन लेट कॉलोनियल इंडिया : दी बंगाल जूट इंडस्ट्री , कैम्ब्रिज, 1999) में प्रवासन के बढ़ने से स्त्रियो के श्रम और रोजगार के बारे में बदलते नजरियें को भी इस प्रक्रिया के लिए जिम्मेदार माना है। परिवार में स्त्रियों की भूमिका के बदलते दृष्टिकोण के कारण शहरी श्रम के बाजारों में महिला–श्रमिकों की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ये माना लगा की वे घर पर रहने के लिए बनी है तथा उन्हें गांव में रहकर परिवार के ग्रमीण–व्यवसाय और घर की देखभाल करनी चाहिए। वेतन पाने वाले रोजगार से उनके हट जाने से, उनके श्रम के परिवार में योगदान का भी अवमूल्यन हो जाता है।

श्रमिकों के रोजगार सम्बंधी कानून या फैक्टरी एक्ट तथा मजदूर संगठन सम्बंधी कानून जैसे– इंडस्ट्रियल डिस्पुट एक्ट आदि अंग्रेजी राज के दौरान धीरे–धीरे बनने शुरू होते हैं।

इनकी शुरूआत 19वीं सदी में ही हो जाती है लेकिन ये दो महायुद्धों के बीच की अवधि में ही ज्यादा प्रभावशील होते हैं। 1885 में बम्बई फैक्टरी लेबर कमीशन के समक्ष लम्बे घंटों तक मजदूरों से काम लेने का मुद्दा आया था। 15 - 16 घंटे काम सामान्य ही समझा जाता था। 1911 के फैक्टरी एक्ट में बाल–श्रमिकों के लिए काम के घंटे 6 और व्यस्कों के लिए 12 घंटे निर्धारित किए गए 1922 के फैक्टरी एक्ट में व्यस्क पुरुषों के काम करने के घंटे एक दिन में 11 घंटे और सप्ताह में 60 घंटे की सीमा निर्धारित की। 1934 के फैक्टरी एक्ट में काम के घंटो की कानूनी सीमा 10 घंटे प्रतिदिन और सप्ताह में 54 घंटे की तय की गई। फैक्टरी एक्टस में इसके अलावा मजदूरों के स्वास्थय, स्वच्छता तथा सुरक्षा जैसे गैर–आर्थिक पहलुओं पर भी ध्यान देना शुरू किया गया। 1923 के माईन्स एक्ट ने खानों में काम कर रहे मजदूरों की सुरक्षा की जिम्मेदारी खान–मालिकों पर डाली। 1934 के एक्ट में बाल श्रमिकों तथा महिला श्रमिकों को खतरनाक औद्योगिक और खनन कार्यो से अलग रखने की बात कहीं गई। 1923 के वर्कमैन कमपनशेसन एक्ट के तहत काम के दौरान फैक्टरी में दुर्घटना के लिए मुआवजा मजदूरों को दिये जाने का प्रावधान किया गया। 1929 में कई प्रांतों ने महिला–श्रमिकों को मातृत्व का लाभ देने के लिए मैटरनिटी बैनेफिट एक्ट पास किये। हॉलाकि इन श्रम–कानूनों में कई तरह की कमियाँ थी जिनका फायदा उठाकर मिल–मालिक इन्हें भली भाँति लागू करने से बच सकते थे। लेकिन 1920 के दशक में राजनैतिक संगठनों ने श्रमिकों को लाभबंद करना शुरू किया तथा कई बार श्रमिकों के संघर्ष उपनिवेशवाद–विरोधी संघर्ष के साथ अपनी पहचान बनाते हैं।

यह भी महत्त्वपूर्ण सवाल है कि परम्परागत कृषि–व्यवसाय से आधुनिक फैक्टरी उत्पादन में आने से श्रमिक के जीवन में किस तरह के बदलाव आते है? आर्थिक दृष्टि से देखें तो फैक्टरी में काम करने वाले प्रशिक्षित मजदूर निस्संदेह गांव की जिन्दगी से कहीं ज्यादा सुरक्षित और अच्छा जीवन–स्तर प्राप्त करते हैं। यहाँ तक कि औसत अप्रशिक्षित फैक्टरी मजदूर की मजदूरी भी गाँव के खेतिहर मजदूर से ज्यादा थी। लेकिन बड़े शहरों, में खासकर बम्बई और कलकत्ता में जीवन निर्वाह के खर्च भी बढ़ते है और अधिकांश मजदूर शहर में अपने पूरे परिवार का खर्च नहीं उठा सकते थे। ज्यादातर की मजदूरी से आय इतनी कम थी कि वे लम्बे समय तक शहर में बसने तथा भू–सम्पति तथा कृषि से अपने सम्बंध खत्म करने की स्थिति में नहीं थें। हॉलाकि जिस तरह गांव में निम्न जाति के खेतिहर मजदूर अकालों से मरते थे, वैसी स्थिति मिलों में काम करने वाले मजदूर की कम से कम नहीं थी। शहर में जाति का उत्पीड़न तथा नये व्यवसाय में काम पाने का प्रतिबंध भी उतना सशक्त नहीं था। व्यक्तिगत स्तर पर मजदूरी के लिए शहर में गांव की अपेक्षा सामाजिक गतिशीलता की ज्यादा गुंजाईश भी थी। 20 वीं सदी में यह सबूत है कि मिल मजदूरो की वास्तविक मजदूरी बढ़ रही थी जबकि किसान (छोटे) और खेतिहर मजदूर की वास्तविक आय इस समय जड़ सी बनी हुई थी। यह भी सवाल महत्त्वपूर्ण है कि इस व्यवसायिक परिवर्तन का सांस्कृतिक रूप से मजदूरों पर क्या प्रभाव पड़ता है? मार्क्सवादी इतिहास लेखन में, श्रम के बारे में यह सवाल किया जाता है कि कैसे पूर्व–औधोगिक और पूर्व–पूँजीवादी

श्रमिक आधुनिक 'औद्योगिक' मानसिकता प्राप्त करते है? 'औद्योगिक मानसिकता' से यहाँ मतलब है अनुशसित तरीके से समय का उपयोग तथा एक समरूप मजदूर या सर्वहार वर्ग से जुड़े होने का अहसास जो तभी सम्भव था जब श्रमिक अपनी जाति, धर्म और क्षेत्र के आधार पर पहचान और भावनाओं को छोड़कर 'वर्ग–चेतना' को अपना ले। लेकिन दिपेश चक्रवर्ती ने अपनी किताब, Rethinking working class History, में यह दर्शाने की कोशिश की है कि श्रमिक वर्ग में सामाजिक तथा जातीय भेद न केवल कायम रहते है बल्कि कई बार ज्यादा मजबूत बन जाते है। इसी प्रकार फैक्टरी के अनुशासन को श्रमिक पूरी तरह नहीं मानते हैं और इसका कारण हे कि औद्योगिक श्रमिक अपने साथ कृषकों की जीवन–शैली तथा आदतें फैक्टरियों में लेकर आते है। ग्रामीण सम्बंधी को श्रमिक पूरी तरह नहीं छोड़ते बल्कि शहर के आकस्मिक बदलाव की तकलीफों से बचने के लिए श्रमिक उनका सहारा लेते हैं। श्रमिक अपनी नयी पहचाने बनाते है, नये वातावरण में अपना ताल–मेल बिठाते है और नये रिश्ते कायम करते हैं लेकिन यह सब भी वे मूल–स्थान तथा सामाजिक पृष्टभूमि से अपने साथ लायी धारणाओं के अनुरूप ही करते हैं।

भारत में औद्योगिक श्रमिक वर्ग का आंदोलन

भारत में आधुनिक औद्योगिक श्रमिक वर्ग के उदय होने के साथ ही इसको संगठित करने के प्रयास तथा इसकी स्वयं की स्वतस्फूर्त क्रिया कलाप शुरू हो जाते हैं। शुरू के बहुत से प्रयास सामाजिक सेवा तथा मानयातावादी भावनओं से प्रेरित थे। 1870 में शशीपाद बैनर्जी नामक ब्रह्म समाज सुधारक के मजदूरों का एक क्लब उनकी समस्यायें सुनने तथा उन्हें शिक्षित करने के लिए कलकत्ता में शुरू किया था। बाद में 1874 में उन्होंने एक बंगाल पत्रिका भारत श्रम – जीवी इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिये निकालनी शुरू की। इस समय जगह–जगह पर मजदूरों की स्वतः स्फुर्त हड़तालें भी उभरनी शुरू हो जाती है। अपने वेतन में बढौतरी, काम के घंटे कम करवाने तथा अन्य फैक्टरी–मालिकों की मनमानियों जैसे मजदूरों पर जुर्माने आदि लगाने के खिलाफ ये प्रांरभिक हड़तालें बिना किसी संगठनात्मक आधार के उभरती है। अप्रैल–मई में हावड़ा रेलवे स्टेशन के 1200 कर्मचारियों की हड़ताल जो आठ घंटे काम का दिन निर्धारिक करवाने की मांग को लेकर शुरू हुई–शायद–पहली औद्योगिक हड़ताल कही जा सकती है। 1877 में नागपुर इम्प्रेस मिल के मजदूरों ने अपनी मजदूरी की दर बढ़वाने के लिए हड़ताल की। 1880 के दशक में कुरला, कोयम्बटूर, अहमदाबाद, सूरत और बम्बई की मिलों तथा कलकत्ता की जूट की मिलों में लगभग 25 हड़तालें होती हैं। 1890 में नारायण मेघजी लोखंड़े ने मिल हैण्डस् एशोसियेशन की स्थापना की। इस संगठन को आधुनिक श्रमिकों के ट्रेड युनियन के समान कोई नियमित सदस्यता थी, न कोई संविधान और चंदा इक्कठा करने की कोशिश इसके द्वारा की गई थी। इससे पहले लोखंड़े ने नेतृत्व में 23 सितम्बर और 26 सितम्बर 1884 को बम्बई के मिल–मजदूरों ने 55,000 लोगों के हस्ताक्षर वाला एक ज्ञापन भी बाद में मुम्बई कमीशन ऑन लेबर को 1885 में दिया था। इन बैठकों तथा ज्ञापन में मजदूरों की निम्नलिखीत माँगों को उठाया गया :

1. मिल मजदूरों के लिए सप्ताह में एक दिन (रविवार) का अवकाश दिया जाये,
2. मिल में दोपहर के खाने के लिए आधे घंटे का अंतराल होना चाहिए,
3. मजदूरी का नियमित भुगतान महीने की 15 तारीख से पहले किया जाये,
4. काम करने के घंटों को सुबह 6.30 बजे से सूर्यस्त तक माना जाये, तथा
5. मिल में काम करते हुए दुर्घटना होने पर मिल–मालिक मजदूर को हर्जाना दे।

इसी तरह की मानवतावादी भावना से प्रेरित होकर इसी समय बम्बई में ईसाई मिशनरी फादर हॉपकिन्स तथा हेन्सन्स ने गोदी के मजदूरों के लिए सी–मेन क्लब (Seamen Club) स्थापित किया।

लेकिन धीरे–धीरे श्रमिकों का स्थायी संगठनात्मक आधार पर संगठित करने के प्रारंभिक प्रयास और ज्यादा तेज होते हैं। 1895 में मोहम्मड़स एसोशेयेसम नामक एक मिल–में काम करने वालों का संगठन बनाया गया और 1897 में 'दी अमालगमेटेड़ सोसायटी ऑफ इंडिया एंड बर्मा' के नाम से रेलवे में काम करने वाल युरोपियन तथा अंग्लों–इंडियन कर्मचारियों ने अपना एक संगठन बनाया। इस संगठन का 1882 के इंडियन कम्पनी एक्ट के तहत पंजीकृत किया गया था। इन संगठनों को सही रूप में ट्रेड यूनियन भी मानना मुश्किल है क्योंकि मूलतः इनका चरित्र और स्वरूप म्युचक्ल ऐड सोसायटी (Mutual aid society) जैसा ाी जो पारस्परिक मदद के लिए बनाया गया था। लेकिन धीरे–धीरे नियमित सदस्यता शुक्ल और सदस्यता के आधार पर ट्रेड युनियनों का गठन शुरू हो जाते हैं।

स्वदेशी आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय चेतना के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण मजदूरों का संघर्ष एक नये जूझारू दौर में पँहुचता है। 27 सितम्बर, 1905 से कलकत्ता की सरकारी प्रेस में 2,000 श्रमिकों ने एक महीने लम्बी इड़ताल चलाई। बाद में बंगाल सरकार की प्रेस के मजदूर भी उनकी हड़ताल में शामिल हो जाते हैं। इनकी मुख्य मांगे थी कि रविवार तथा सरकारी छुट्टियों के दौरान काम करने पर मजदूरों तथा कर्मचारियों को अतिरिक्त वेतन दिया जाये, अतिरिक्त काम की वेतन दर बढ़ाई जाये, श्रमिकों पर नियमित जुर्मानो आदि ने किये जाये, और अधिकारी –गण उन्हें मैडिकल आधार पर छुट्टी जरूर दें। इस संघर्ष के दौरान ही अक्टूबर 1905

में बंगाल प्रेस वर्करस् यूनियन का गठन किया गया। इसी समय कलकत्ता में बर्न एंड कम्पनी ऐजनी धराने की हावड़ा एंड कलकत्ता ट्रामवेज कम्पनी के श्रमिकों ने भी हड़ताल की। लेकिन जून, 1906 में कलकत्ता में ही प्रिन्टरस् युनियन की हड़ताल ज्यादा प्रभावी रही। इसका महत्त्व इसलिये भी ज्यादा था कि इसमें हड़ताल के दौरान राष्ट्रीय चेतना खुल कर सामने आई। मजदूरों के हड़ताल के दौरान बंदे मातरम् के नारे लगाये तथा हड़ताल को राष्ट्रीय नेताओं का खुलकर समर्थन मिला। स्वयं बाल गंगा धर तिलक ने 6 जून, 1906 को मजदूरों की एक बैठक को सम्बोधित किया। हड़ताल प्रारभं ठक्कर स्पिंक एंड कम्पनी में हुई थी लेकिन कलकत्ता की सब प्रिटिंग प्रेस के मजदूरों का समर्थन इसे प्राप्त हुआ। जुलाई–सितम्बर 1906 में ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी के बंगाल सैक्सन पर रेलवे मजदूरों ने हड़ताल की। श्रमिकों की मुख्य मांगे वेतन तथा कार्य करने की परिस्थितियों में सुधार करवाना था लेकिन साथ ही साथ उन्होंने नस्ल के आधार पर भेदभाव का भी विरोध किया और खासकर वे अंग्रेज अफसरों के 'नेटिव' के नाम से भारतीयों को संम्बोदित करने के खिलाफ थे क्योंकि इस शब्द को गोरे अधिकारी गाली के रूप में प्रयोग करते थे। सरकार ने बल का प्रयोग करके हड़ताल् की कुचलवाया लेकिन रमिको ने ईस्ट इंडिया रेलवे इम्पलाईज युनियन का गठन इस हड़ताल के दौरान करके एक स्थायी संगठन खड़ा कर लिया था। सी0आर0दास0 तथा विपिनचन्द्र पाल ने हड़ताल का पूरा समर्थन किया। इसी युनियन ने बाद में जमालपुर रेलवे वर्कशाप में हड़ताल संगठित की जो अपेक्षाकृत ज्यादा सफल रही। स्वदेशी आंदोलन के दौरान मई 1907 में बम्बई की रेलवे वर्क शॉप की हड़ताल तीि नवम्बर में ही पूर्वी भारत के रेलवे गार्ड तथा इंजन–ड्राईवरों की हड़तालें भी हुई और 1907 में एक देश–व्यापी बड़ी रेलवे मजदूरों की हड़ताल भी मुख्य थी। ज्यादातर श्रमिक संघर्ष आर्थिक माँगों के इर्द–गिर्द ही हो रहे थे लेकिन जुलाई, 1908 में एक जुझारू राजनैतिक लड़ाई बम्बई के मिल–मजदूरों ने लड़ी।

बाल गंगाधर तिलक को ब्रिटिश सरकार ने 24 जून, 1908 के गिरफतार करके उनके लेखों के लिए उन पर देश–द्रोह का मुकद्दमा चलाने की सोची। और जुलाई 13, 1908 को मुकदमें की सुनवाई शुरू होती है। इस दिन ग्रीब्स कॉर्टन एडं कम्पनी के मिल–मजदूरों ने हड़ताल की तथा बम्बई की जनता भी इनके जलूसों में शमिल होती है। 14, 15, 16 जुलाई को इसी तरह की हड़तालें तथा प्रदर्शन जारी रहते है। 17 जुलाई के बाद मजदूरों तथा आम जनता की भागीदारी और ज्यादा बढ़ जाती है। बम्बई की अनेक सूती मिलों जैसे लक्ष्मीदास, ग्लोब, क्रिसैन्ट, फिनिक्स, जमशेद, नारायण, ब्रिटानिया, ग्रीब्स कॉटन एंड कम्पनी, करीमभाई मिल आदि में हड़तालें होती हैं और मजदूर सड़कों पर प्रदर्शन के लिए आ जाते हैं। हड़तालों में 20,000 से ज्यादा मिल–मजदूर भाग लेते है तथा दूसरी मिलों को भी बंद करने के लिए ये बल–प्रयोग करते हैं। यही घटना क्रम 18 जुलाई को दोहराया जाता है और इस दिन कई जगह पुलिस द्वारा मजदूरों पर गोलियां चलाई जाती है। 19 जुलाई को आंदोलन आम हड़ताल और विद्रोह का सा रूप ग्रहण कर लेता है। परेल और महीम स्थित 60 सूती मिलों के 65,000 से अधिक मजदूर अब सड़कों पर उतर आते है और उन पर गोली–बारी भी जारी रहती है। 20 जुलाई को गोदी के सभी मजदूर भी हड़ताल में शामिल होकर इसकी शक्ति को बढ़ाते है। 22 जुलाई, 1908 को तिलक को अदालत सजा सुनाती है और उन्हें 6 साल के लिए मंडाले जेल भेज दिया जाता है, परिणामस्वरूप 23 जुलाई से 27-28 जुलाई तक बम्बई का औद्योगिक जीवन ठप्प रहता है। सभी मिलों के मजदूर (लगभग 1,00,000) इसमें भाग लेते है तथा दुकानदान घरेलू नौकर आदि भी मजदूरों के समर्थन में आ जाते है। बम्बई मिल ऑनर्स एसोशियेसन हड़ताल और प्रदर्शनों का विरोध कर देता है। जगह–जगह हड़ताली मजदूर और पुलिस की झड़पें जारी रहती है और अनेक मजदूर राष्ट्रीय अभियान में आनी जाने गंवाते है। यह राजनैतिक हड़ताल मजदूरों में व्याप्त साम्राज्यवाद विरोधी भावना का सक्रिय प्रर्दशन थी। इस राजनैतिक अभियान के दौरान श्रमिक वर्ग में मौजूद धर्म और जाति की भावनाओं का भी प्रयोग भी किया गया। एक पर्चे में कहा गया कि हड़ताल पर ना जाने वाला मजदूर भंगी के बेटे या युरोपियन के समान है।

1910 में बम्बई में एस. के बोले, एन.ए. तालकेरकर और बी.आर.नाड़े ने बम्बई कामगार हित्तवर्धक सभा स्थापित की। मानवतावादी इस संगठन ने 12 घंटे का काम का दिन, दुर्घटना के समय कामगारों को हर्जाना तथा मजदूर के बच्चों के लिए शिक्षा देने जैसी माँगे रखी। युद्ध के दौरान पूँजीपति वर्ग के (दोनों देशों तथा विदेशी) मुनाफे तेजी से बढ़ते है। युद्ध के वर्षो के बीच में ही 1917 में बोल्सेविक क्रांति रूस के मजदूरों ने ही। सैक्रेटरी ऑफ स्टेट को भेजी गयी अपनी रिपोर्ट मे वायसराय ने भारत में बढ़ते जा रहे औद्योगिक अंसतोष की बात कही और कहा कि इसके समूल कारण आर्थिक ही हैं। युद्ध के दौरान वस्तुओं के मूल्य बढ़ रहे थे लेकिन मजदूरी उतनी जी से नही बढ़ रही थी। और मजदूरों में यह भावना पनप रही थी मिल–मालिक पहले से भी ज्यादा लाभ कमा रहे हैं। ज्यादातर मिलों में युद्ध के दौरान होने वाली हड़तालें स्वतः स्फूर्त तथा स्थानीय असंतोष का ही नतीजा थी। हॉलाकि अंतराष्ट्रीय राजनैतिक परिदृश्य का असर भारतीय श्रमिक वर्ग पर भी पड़ रहा था। असहयोग आंदोलन में भाग ले रही कांग्रेसी नेताओं को यह अहसास थ कि कामगारों की हड़ताल सरकार के लिए समस्यायें पैदा कर सकती थी। लेकिन श्रमिकों को किसी बड़े राजनैतिक अभयान में शमिल करने के बजाय कुछ उग्र कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने ही श्रमिक असंतोष को बढ़ाने में मदद की। प्रथम विश्व युद्ध का समय भारत के श्रमिक आंदोलन के इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इसी अवधि में भारत में मजदूर वर्ग के नेतृत्व तथा संगठन को एक तरह का स्थायित्व प्राप्त होता है। आधुनिक ट्रेड युनियनों का गठन तथा उनकी एक नियमित सदस्यता, संकट के समय जमा–धन राशि तथा चुनी गयी संस्थाओं का होना– यह सब इस समय की विशेषताँए थी। इसी समय भारतीय राजनैतिक विचारधाराओं से प्रभावित होकर मध्यम शिक्षित वर्ग तथा बौद्धिक–व्यवसायी वर्ग के लोग श्रमिक संगठनों का मजबूत करने के लिए

आगे कदम बढ़ाते हैं। जैसे--एनी बैसेन्ट के एक सहयोगी बी.पी.वाडिया अप्रैल, 1918 में उदारवादी मानवतावादी विचारों से प्रेरित होकर मद्रास लेबर युनियन की स्थापना करते हैं। इसमें नियमित सदस्यता तथा सदस्यता शुल्क (1 आना प्रतिमाह) शुरू किया गया। शुरू में मद्रास लेबर युनियन की सदस्यता शुरू में केवल फैक्टरी मजदूरों के लिये लेकिन बाद में ट्रामवे में काम करने वाले तथा रिक्शा चालकों के लिए भी इसे खोल दिया गया। मद्रास लेबर युनियन ने श्रमिकों के लिए सहकारिता समितियों, पुस्तकालय और वाचनालय जैसी कल्याणकारी सुविधायें भी सुलभ कराने की कोशिश की। यह ट्रेड युनियन श्रमिक आंदोलन में सुधारवादी और संवैधानिक रूझान का प्रतिनिधित्व करती थी। यह प्रांतीय लैजिस्लेटिव कांउसिलों में मजदूरों को प्रतिनिधित्व दिलवाकर श्रमिकों की दशा सुधारवाले का प्रयास करना चाहती थी। इस युनियन ने 1918 में मजदूरों की हड़ताल को इसलिए विरोध किया कि इससे प्रथम विश्व युद्ध में उलझे ब्रिटिश राज्य और उसके मित्त राष्ट्रों को नुकसान पँहुचेगा। बी0पी0 वाडिया के इस रवैये को जवाब मिल--मालिकों ने अक्टूबर 1918 में तालाबंदी करके दिया। दिसम्बर 1918 में देशबंधु सी0एफ0 एंड्रयुज के हस्तक्षेप के बाद ही तालाबंदी के 7 दिनों का वेतन मजदूरों को दिया।

1918 में महात्मा गांधी ने श्रमिकों के संगठन तथा आंदोलन सम्बन्धी अपना एकमात्र प्रयोग अहमदाबाद में किया। 1918 में उन्होंने अहमदाबाद टैक्सटाईल लेबर एसोशियेसन का गठन किया। इसे मजदूर 'मजूर महाजन' के नाम से भी जानते थे। यह ऐसोशियेसन श्रम की समस्याओं तथा मजदूर मालिकों के सम्बंधी तथा उनके निपटारे के तरीकों पर गांधीवादी विचारों से प्रभावित था। 1918 में गाँधी जी ने अहमदाबाद के मिल--मजदूरों की एक 21 दिनों की लम्बी हड़ताल को संचालित किया। यह हड़ताल सत्याग्रह के तरीके के आधार पर चली और महात्मा गाँधी ने मजदूरों को हिंसा से बचने के लिए कहा और हड़ताली मजदूरों को निर्देश दिया कि वे गैर--हड़ताली मजदूरों को तंग बिल्कुल न करें। गाँधी का मानना था कि श्रमिक और मालिकों के झगड़े मध्यस्थता के जरिये ही निपटाने चाहिए। 21 दिन की हड़ताल के बाद मजदूरों को 27.50 प्रतिशत अतिरिक्त बोनस प्राप्त होने लगा। वास्तव में प्लेग की महामारी फैलने से अहमदाबाद के मिल मालिक श्रम की कमी के कारण मजदूरों को 70-80 प्रतिशत वेतन का अतिरिक्त बोनस अगस्त 1917 से देते आ रहे थे जो उन्होनें जनवरी 1918 में एकदम बंद कर दिया था। मजदूर 50 प्रतिशत अतिरिक्त बोनस की मांग उस समय से कर रहे थे। गाँधी जी का मानना था कि 35 प्रतिशत बोनस न्यायसंगत हे लेकिन फरवरी में मिल--मालिकों ने तालाबंदी कर दी और यह घोषणा की कि जो मजदूर 20 प्रतिशत बोनस पर काम करने को तैयार होंगे उन्हें वे काम पर वापस लेने को तेयार है। गांधी जी की भूख--हड़ताल के बाद मिल--मालिक 27.5 प्रतिशत अतिरिक्त बोनस देने को तैयार हो गये। हालाकि इस हड़ताल के बाद गाँधी कभी श्रमिक आंदोलन कें सीधे शमिल नहीं हुए लेकिन उन्होंने श्रमिक--मालिकों के सम्बंधो के बारे में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये उनका अनुसरण अहमदाबाद टैक्साटाईल लेबर बाद में भी करता रहा। गाँधी जी के अनुसार, मिल--मालिक और मजदूर के सम्बंध अंतविरोधी न होकर सहायोगियों जैसे होने चाहिए। दोनों ही सार्वजनिक कल्याण के लिए काम करते हैं और मिल--मालिक एक तरह के मिलों के ट्रस्टी ही थे। इस लिये अगर मिल--मालिकों और मजदूरों के बीच अगर कोई विवाद पैदा होता है तो इसे आपस में मिल--जुलकर मध्यस्थता के माध्यम से सुलझा लेना चाहिए। मजदूर--संगठन का काम केवल हड़ताल करवाना नहीं था बल्कि उन्हें मजदूर--परिवारों के सामाजिक सुधार का काम भी करना चाहिए जैसे वे मजदूरों के बच्चों के लिए शिशु सदन खोलने तथा विद्यालय खोलने से लेकर व्यस्क मजदूरों के लिए रात्रि--कक्षाओं का इन्तजाम तथा शराबबंदी जेसे कामों को भी संचालित कर सकते थे। शंकरलाल बंकड तथा मिल--मालिक अम्बालाल साराभाई की बहिन अनसूयाबेहन ने गाँधी जी के विचारों के अनुरूप अहमदाबाद मिल मजदूर यूनियन को बाद में चलाया। इस संगठन का नमूना कम्पनी--संरचित यूनियन जैसा था क्योंकि यूनियन का चंदा मिल मालिकों के माध्यम से वेतन में से काटा जाता था और मिल--मालिक की मजदूरों का स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व कर सकते थे।

इस समय अनेक प्रमुख मजदूर युनियनों का गठन होता है जो बाद में श्रमिक आंदोलन में काफीह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इन नयी यूनियनों के गठन के कारण देशभर में 125 के लगभग ट्रेड युनियन 1920 तक कायम हों चुकी थी और कुल सदस्यता 2,50,000 तक जा पँहुची थी। जो ज्यादा प्रमुख मजदूर--युनियन इस समय संगठित की गई, वह इस प्रकार थी :

कलकत्ता ट्रामवे इम्पलाईज एसोशियेसन (1918)

जी.आई.पी. रेलवे यूनियन (1919)

जमशेदपुर लेबर ऐसोशियेसन (1920)

आल इंडिया पोस्टल एंड आर.एम.एस.युनियन (1920)

हावड़ा लेबर यूनियन (1920) और

बोम्बे पोर्ट ट्रस्ट इम्पलाईज युनियन (1920)

1920 का वर्ष भारत में श्रमिक आंदोलन तथा ट्रेड–यूनियन संगठन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इस वर्ष मजदूरों को जूझारूपन एक नये स्तर पर पहुँच जाता है। 1920 के पूर्वाध में ही 15 लाख मजदूरों ने भारत भर में 200 से अधिक हड़तालों में हिस्सा लिया। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हड़ताल इस समय हिन्तुस्तान के हर औद्योगिक केन्द्र पर हो रही थी। इनमें सबसे प्रमुख जनवरी–फरवरी में बम्बई की 80 सूती मिलों में 1,25,000 मजदूर की एक माह लम्बी हड़ताल थी। इन हड़तालों में सब तरह के उद्योगों तथा सेवाओं में काम करने वाले श्रमिक सम्मिलित थे।

सूती मिले, जूट मिलें, प्रेस, बंदरगाह, रेलवे, ट्रामवेज, इंजीनियरिंग वर्कशाप आदि की औद्योगिक ईकाईयाँ इनसे प्रभावित होती है। नीचे तालिका में कुछ ज्यादा प्रमुख हड़तालों की सूची दी गई है।

1920 की प्रमुख मजदूरों की हड़तालें

	जगह/स्थान	कम्पनी	श्रमिकों की भागीदारी	टिप्पणी
1.	मद्रास	मद्रास ट्रामवेज	1,400	हड़ताल के बाद वेतन वृद्धि
2.	जमालपुर	ईस्ट इंडिया रेलवे वर्कशाप	10,300	हड़ताल असफल
3.	कानपुर	सभी सूती मिलें	20,000	मजदूरी में वृद्धि की गई
4.	कलकत्ता	मेसनस	10,000	मजदूरी में वृद्धि
5.	कुल्टी	बंगाल आयरन एंड स्टील वर्क्स	11,0000	मजदूरी में वृद्धि
6.	हावड़ा औद्योगिक क्षेत्र	जूट की कई मिलें	27,000	मजदूरी में बढ़ोतरी
7.	बम्बई	सूती मिलें (सभी)	1,25,000	भत्तों में वृद्धि तथा काम के घंटो में कमी
8.	शोलापुरा	सूती मिलें	13,600	कोई समझौता नहीं
9.	बम्बई	बोम्बे पोर्ट ट्रस्ट वर्क्स तथा इंडियन मैटिन डॉकयार्ड	7,250	मजदूरी की दरों में वृद्धि

इन हड़तालों से एक बात साफ यह दिखाई देती हे कि ज्यादातर हड़तालें अर्थवाद का शिकार थी। वेतन तथा भत्तों आदि की बढ़ोतरी के लिए या अन्य छोटी आर्थिक मांगों को लेकर ये श्रमिक संघर्ष लड़े जा रहे थे। इस रूप में ये 1908 के बम्बई के मजदूरो के राजनैतिक संघर्ष से अलग थी।

1920 में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का जन्म होता है। वी0पी0 वाडिया, सी. एफ. एंड्रूयज, मोती लाल नेहरू, एनी बैसेन्ट जैसे नेताओं ने इसमें भाग लिया। अपने प्रथम अधिवेशन में ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने फिजी में भारतीय मजदूरों पर हो रहे दमन के विरोध में और श्रमिकों का लेजिस्टलैटिव काउंसिलों में प्रतिनिधित्व दिये जाने के बारे में भी प्रस्ताव पास किया। इसके बादा हर साल इसके वार्षिक अधिवेशन श्रमिकों की माँगों सम्बंधी प्रस्ताव पास करते है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक मंदी के कारण औद्योगिक श्रमिकों के 1922-26 के बीच मुख्यतया अपने ही बचाव के लिए किये गये संघर्ष प्रमुखता ग्रहण कर लेते हैं क्योंकि मंदी के कारण मिल–मालिक मजदूरों के वेतन में कटौती या छँटनी जैसे कदम उठाते है और श्रमिकों को इन कदमों का प्रतिरोध करना पड़ता है। इस समय स्थापित महत्त्वपूर्ण ट्रेड यूनियनों में 1923 में तीन यूनियनों के विलय से बनी गिरनी कामगारा संघ तथा 1926 में एन0एम0जोशी द्वारा स्थापित बोम्बे टैक्सटाईल लेबर यूनियन प्रमुख थी। 1925 में शिवनाथ बैनर्जी ने बंगाल जूट वर्कर्स ऐसोशियेसन की स्थापना की और 1928 में कम्युनिष्टों ने बम्बई में गिरनी कामगार यूनियन बनाई। इस समय गणवाणी, श्रमिक तथा कीर्ति किसान जैसे अखबार श्रमिकों की समस्याओं को उठाते है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशणों में राष्ट्रीय नेता सी0 आर0 दास, जवाहर लाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस और वी.पी.गिरी आदि सक्रिय भूमिका निभाते है।

1928-30 के बीच देश भर में एक व्यापक हड़तालों का दोर शुरू होता है। 1928 के प्रारंभ में ईस्ट इंडिया रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल लिलुआ में कलकत्ता के पास शुरू होती है। इसे वर्कर्स एड पैजेन्ट पार्टी से सम्बन्धित क्युयनिष्टों ने संचालित किया। हड़ताल

में 15,000-16,000 रेलवे कर्मचारियों ने भाग लिया और इस राष्ट्रीयवादी प्रेस का समर्थन भी मिला। हड़ताल अपने माँगे मनवाने में असफल रही। जुलाई में (1928) दक्षिण भारत के रेलवे श्रमिकों की हड़ताल छटनी के विरोध में होती है। मुकुन्द लाल सरकार तथा सिंगारा वेल्लू चौट्टियार इस हड़ताल को संचालित करने वाले प्रमुख नेता थे। हड़ताल को सेना ओर पुलिस की मदद से अंग्रेजी सरकार ने कुचल दिया। इसी प्रकार क्मयुनिष्टों के नेतृत्व में ग्रेट इंडियन पेनिसुलर रेलवे पर एक यूनियन का गठन हुआ और हजारों रेलवे श्रमिकों ने फरवरी 1930 में हड़ताल की। डी.बी. कुलकर्णी इस हडताल के मुख्य नेता था। हड़ताल आंशिकरूप से सफल रही और निम्न स्तर के कर्मचारियों के वेतन में कुछ बढ़ौतरी की गई। 1928 तथा 1929 में बम्बई की सूती मिलों में दो प्रमुख आम–हड़ताले भी इस समय के श्रमिक आंदोलन में महत्वपूर्ण थी। मिलों के पुर्नगठन के नाम पर मिल–मालिक अनेक मजदूरों की छटनी करना चाहते थे। इसी के विरोध में क्म्युनिष्टों के नेतृत्व में गिरनी कामगार यूनियन ने अप्रैल 1928 से छः महीने लम्बी हड़ताल शुरू की। मिल–मालिकों ने इसका जबाव अनेक मिलों में तालाबन्दी से दिया। एन.एस. जोशी की बम्बई टैक्सटाइल लेबर यूनियन ने आम हड़ताल का विरोध किया। अक्टूबर में सरकार ने मजदूरों की समस्याओं को लेकर एक इन्कवारी कमेटी बनाने के बाद आम हड़ताल खत्म होती है। गिरनी कामगार यूनियन का निर्माण कम्युनिष्टों के नेतृत्व में इसी समय होता है। दूसरी आम हड़ताल 1929 में 26 अप्रैल को शुरू हुई और लगभग एक महीना चली। हड़ताल मुख्यतया मिल–मालिकों द्वारा सक्रिय यूनियन कार्यकर्त्ताओं को बरखास्त करने के विरोध में संगठित की गई थी। 1928-29 में ही जूट की मिलों में भी कई श्रमिक संघर्ष चलते हैं। इनमें जुलाई, 1929 की हड़ताल प्रमुख थी जो मिल मालिकों द्वारा काम के घंटे प्रति सप्ताह 54 से बढ़ाकर 65 कर देने के कारण शुरू होती है। इस हड़ताल का नेतृत्व बंगाल जूट वर्कस यूनियन ने किया। हड़ताल के बाद हुए समझौते में मिल–मालिकों ने 54 घंटे प्रति सप्ताह काम की अवधि को बहाल करना पड़ा तथा अतिरिक्त घंटे काम करवाने पर श्रमिकों को दुगनी मजदूरी की बात भी मानी। इसी समय पर 18 अप्रैल, 1928 से लगभग पाँच महीने लम्बी हड़ताल टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी के 18,000 मजदूरों ने जमशेदपुर में की। कारखानें से श्रमिकों की छटनी, मजदूरियों में कट्टौती तथा मौजूदा मजदूरों के काम के बोझ में वृद्धि इस हड़ताल के प्रमुख कारण थे।

लेकिन इस अवधि में ही ट्रेड यूनियन संगठन पर बढ़ते क्मयुनिष्टों के प्रभाव के कारण आखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में वैचारिक–राजनैतिक अंतर उभरने शुरू हो जाते है। आखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के दिसम्बर 1928 को झारिया में हुए नौवें से ये अंतर और विवाद बढ़ने शुरू हो जाते है। विशेषकर चमन लाल, एन.एम. जोशी तथा वी.वी.गिरी ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ताओं के सक्रिय राजनीति में जाने के विरोधी थे तथा मजदूरों की राजनीति में भागीदारी नहीं चाहते थे। ये मुख्यतया सुधारवादी उदारवादी संवैधानिक विचारों के पक्षधर थे। इसी समय औपनिवेशिक सरकार ने श्रमिकों के दमन के लिए ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट (1928) पास किया। एक्ट के प्रथम भाग में औद्योगिक–विवादों से निपटने के लिए कन्सीलियेसन बोर्ड तथा कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी (Concilication Board and Court of Enquiry) के गठन का प्रस्ताव था जो एक्ट का दूसरा भाग सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं में 14 दिन का नोटिस दिये बिना हड़ताल या तालाबंदी करने पर जुर्माना और कैद की व्यवस्था करता था। इसी बीच ट्रेड यूनियन संगठन में बामपंथी तथा दक्षिणपंजी राजनीतिक विचारधाराओं का टकराव 1929 के नागपुर अधिवेशन में (अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस) चरम सीमां पर पंहुच जाता है। अधिवेशन में शुरू में ही गिरनी कामरगर यूनियन को प्रतिनिधित्व देने के सवाल पर विवाद हुआ और फिर रॉयल कमीशन ऑन लेबर के प्रति दृष्टिकोण को लेकर भी टकराव हुआ। लेकिन अखिल भारतीय ट्रेड–यूनियन कांग्रेस से अलग होकर 1929 में ही वी.वी. गिरी, चमन लाल तथा एन.एम.जोशी आदि सुधारवादी उदार नेताओं ने इंडियन ट्रेड यूनियन फैड़रेशन की स्थापना की। इसी प्रकार 1931 में क्मयुनिष्टों ने रैड़ ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नाम से अपना अलग संगठन बना लिया। 1935-36 के बाद साम्राज्यवादी विरोधी मोर्चा स्थापित करने के बाद वामपंथी दुबारा अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में सक्रिय हो जाते हैं। अपने संगठनात्मक प्रयासों से ये इस संगठन पर नियंतत्र स्थापित कर लेते है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1947 में इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTIUC) के नाम अलग श्रमिक संगठन गठित करती है। अतः संक्षेप में हम कह सकते है कि आधुनिक औद्योगिक श्रमिक वर्ग भी आधुनिक भारत के इतिहास निर्माण में अहम भूमिका निभाता है।

अध्याय - 1(e)

संचार का विकास : डाक तथा टैलिग्राम व्यवस्था

हिन्दुस्तान में डाक की संचार प्रणाली अंग्रजी राज से पहले से मौजुद थी। मुगल शासकों ने अपनी चिट्ठीयाँ, फरमान तथा संदेश पहुँचाने के लिए डाक चौकियो की व्यवस्था कर रखी थी। घोड़ों का प्रयोग करके घुड़सवार हरकारे ज्यादा तेजी से सूचना भेज सकते थे। कहीं–कहीं साम्राज्य के केन्द्रों में सूचनाये भेजने के लिए कबूतरों के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। मुगलकाल में बाबर के समय से ही स्थानीय स्तर पर वाकियानवीस भी नियुक्त किये जाते थे जो खबरें बादशाह तक पहुँचाने का काम करते थें। इसके साथ पूर्व–औपरिवेशिक काल में सूचनायें भेजने की निजी व्यवस्था भी विकसित हो चुकी थी जो व्यवसायी पैदल सूचना वाहकों पर निर्भर करती थी। ये लोग व्यापारी तथा अन्य कुलीन सेवा–रत वर्ग को सेवायें देते थे। पश्चिम भारत में इन्हें पद्दामारी या पद्दामार के नाम से जाना जाता था। लेकिन कोई ऐसी सार्वजनिक व्यवस्था नही थी जिसे सब इस्तेमाल कर सकें। ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासन को यही संचार व्यवस्था विरासत में मिली थी। कोई भी साम्राज्य एक सुचारू संचार–व्यवस्था के बिना जीवित नहीं रह सकता और ईस्ट इंडिया कम्पनी को शुरू से इस व्यवस्था को संगठित करने की जरूरत महसूस हुई। 1688 में ही कम्पनी ने कलकत्ता में एक डाकखाना खोला था। 1712 में सैंट फोर्ट जॉर्ज के मद्रास के किले के गर्वनर ने बंगाल तक डाक भेजने का एक स्थल मार्ग स्थापित किया और 1727 में कलकत्ता के अंग्रेज व्यापारियों तथा जमींदारो ने डाकखाना शुरू कर किया। 1750 के दशक के दौरान ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेना अंग्लो–फ्रांसीसी युद्धों के दौरान बाहर से खबरें पाने के लिए हरकारों (Mail-runners) से सेवायें इस्तेमाल कर रही थी। 1765 में कम्पनी की दीवानी का अधिकार बंगाल प्रांत में मिल जाने से, सैन्य तथा व्यापारिक कारणों से संचार व्यवस्था का संगठन और भी ज्यादा जरूरी हो गया। प्रांरभ में मौजूदा हरकारों की व्यवस्था को जमीदारों के माध्यम से उपयोग में लाया गया। 1766 में क्लाईव ने कलकत्ता से दूसरी ब्रिटिश बस्तियों के बीच सरकी पत्राचार के लिए एक डाक–व्यवस्था कायम की। इसमें कम्पनी के अधिकारी सरकारी पत्रों के साथ–साथ अपने निजी पत्र भी भेज सकते थे। वारेन हैस्टिंगस ने इस डाक–व्यवस्था को पुर्नगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने 1774 में एक पोस्ट मास्टर जनरल के अधीन कलकत्ता में मुख्य डाकखाना खोला। कम्पनी की डाक–व्यवस्था को उन्होंने सार्वजनिक उपयोग के लिए भी खोल दियां कलकत्ता को छः डाक मार्गो से जोड़ा गया। तथा कलकत्ता को पटना और ढ़ाका से जोड़ने वाले मुख्य डाक मार्ग पर डाक के संचालन के लिए एक फारसी अनुवादक की नियुक्ति भी की गई। व्यापारिक मार्गो पर डाक की जिम्मेवारी फैक्टरी की ही होती थी। यह व्यवस्था अभी भी हरकारों पर आधारित थी तथा रात के समय हरकारे के साथ ढोलक वाला (जंगली जानवरों के डराने के लिए) तथा रोशनी वाला भी चलते थे। 1778 में चटगाँव और ढाका के बीच डाक–व्यवस्था कलकत्ता के पोस्ट मास्टर जनरल ने ले ली। इसी समय 2 आने की टिकट पर पत्र 100 मील तक की दूरी तक पहुँचाने का काम शुरू किया गया। सभी सैन्य रूप से महत्त्वपूर्ण तथा व्यापरिक महत्त्व के मार्गो पर सुव्यवस्थित डाक संचार चल रहा था। इसी तर्ज पर मद्रास तथा बम्बई में भी डाक संचार कायम करने की कोशिश कम्पनी के प्रशासकों ने की। संचार की गति बहुत ही धीमी थी क्योंकि मद्रास तथा बम्बई और मद्रास एवं कलकत्ता के बीच पंद्रह दिन में एक बार डाक भेजी जाती थी और काफी समय दूरी तय करने में लगता था। डाक की दरें पत्र के वजन तथा दूरी के अनुसार तय की जाती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों को अनजान क्षेत्रों के दौरे भी करने पड़ते थे। इसके लिए डाक–पालकियाँ (Palanquins) पहले ठेके पर और बाद में कलकत्ता के सामान्य डाकखानें द्वारा संचालित की जाती थी। जगह–जगह अधिकारियों के ठहरने के लिए आरामगाह भी रास्तों में बनाये जाते थें तथा उनमें गोरे साहबों की सेवा के लिए खिदमतगार तथा चौकीदार रखे जाते थे।

धीरे–धीरे डाक संचार–व्यवस्था को ज्यादा सुव्यगस्थित किया गया और इसका विस्तार शुरू होता है। शुरू से ही औपनिवेशिक डाक–व्यवस्था सैन्य तथा व्यापारिक और प्रशासनिक हितों की पूर्ति के लिए बनाई जाती है। 1825 में बम्बई तथा पूना के बीच पार्सल डाक की व्यवस्था शुरू की गई तथा 1830 में पूना और पनवेल के बीच बैलगाड़ी डाक सेवा चलाई गयी। 1830 में बम्बई में सामान्य डाक खाना स्थापित किया गया तथा बम्बई में इसके बाद नीति डाक सेवा समाप्त करने की कोशिश की जाती है। मद्रास में 1808 से ही नीजि पत्रों को सार्वजनिक डाक द्वारा भेजने की व्यवस्था चलाई जा रही थी। इसके बावजूद देशी डाक एजेन्सियाँ खत्म नहीं होती है। जैसे बंगाल में कलकत्ता और मुर्शिदाबाद के बीच नबावों के समय से निजामत डाक–व्यवस्था चल रही थी और यह कम्पनी की शासन स्थापित होने के बाद में भी पूर्ववत चलती रही। यहीं नहीं बंगाल में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासन ने कई जगह नीजि एजेन्सियाँ को भी डाक–व्यवस्था चलाने की मंजूरी दी। जैसे एक मिस्टर बेकर 18वीं सदी के अंत में कलकत्ता तथा डायमंड हार्बर के बीच घुडसवारों द्वारा डाक–व्यवस्था चला रहे थे जिसमें हर आठ मील बाद दूसरा घुडसवार पहले वाले की जगह ले लेता था। इसी प्रकार कलकत्ता तथा उसके आस–पास के क्षेत्र में एक नीजि कम्पनी, रोजारियोन कम्पनी काम कर रही थी जो एक तोले तक के पत्र के लिए एक आना ग्राहकों से लेती थी। जैसे–जैसे कम्पनी व्यापार की जगह प्रशासन और साम्राज्य विस्तार की दिशा में बढ़ती

है वैसे–वैस इसे संचार व्यवस्था पर ज्यादा ध्यान देना पड़ा। 1837 में सरकार ने पोस्अ ऑफिस एक्ट लागू किया जिसमें डाक संचार व्यवस्था को सरकारी प्रशासन की एक मात्र जिम्मेदारी मान लिया गया। इस एक्ट के तहत कम्पनी द्वारा शासित क्षेत्रों में पत्राचार का उत्तरदायित्व स्वयं कम्पनी ने निभाने का फैसला लिया। सभी डाक खानों को दूरी तथा डाकदर दर्शाने वाली सूचियाँ जारी की गयी जो मुख्य डाक मार्गों पर तय की गयी डाक की दरों को दिखाती थी। इस समय डाक की एक दोहरी व्यवस्था भारत में काम कर रही थी। एक तरफ प्रेजीडैन्सी डाक–व्यवस्था थी जो मुख्य–मुख्य डाक मार्गों तथा शहरों को जोड़ती थी और दूसरी तरफ जिला स्तर की व्यवस्था थी जो जिले के अन्दर डाक का संचालन करती थी। इस व्यवस्था को 1840 के दशक में धीरे–धीरे सार्वजनिक उपयोग के लिए खोल दिया गया। प्रेजीडैन्सी पोस्ट मास्टर ही कुशल तथा तेज गति से डाक भेजन का प्रबंधन करते थे। इसी समय 1 मील के लिए 1 आना दर से बांधी (Parcel) पोस्ट की शुरूआत भी की गयी जिसका उपयोग गरीब यूरोपियन तथा भारतीय भी कर सकते थे। डाक की गति बढ़ाने के लिए बैलगाड़ियों कि रिले–व्यवस्था शुरू की गयीं यहीं नहीं सरकारी काम पर जा रहे अधिकारियों के लिए घोड़े, पालकी, और गाड़ी आदि की व्यवस्था की जिम्मेदारी भी डाकघर तथा पोस्ट मास्टर की ही होती थी। डाक व्यवस्था में भी हम नस्लवादी रूझाान देख सकते हैं। पत्रों के वितरण में भारतीयों की बजाय गोरे लोगों की सुविधा ज्यादा ध्यान में रखी जाती थी। अंग्रेज अपने पत्र डाकखाने से छाँटने और दर्ज करने से पहले ही प्राप्त कर सकते थे। हॉलाकि इस समय देशी लोगों के पत्र यूरोपियन लोगों के पत्रों से संख्या की दृष्टि से ज्यादा ही होते थे। देश के आंतरिक अंचलों में अभी भी नीजि डाक व्यवस्था काम कर रही थी। कम्पनी की डाक व्यवस्था का उपयोग अधिकांश प्रवासी, व्यापारी तथा सेना के लोग ही कर रहे थे। यह दो कारणों से था एक शिक्षा का अभाव और दूसरा डाक का मंहगा होना। अभी भी, विशेष कर पश्चिमी भारत में जैसे बम्बई तथा अहमदाबाद आदि के क्षेत्रों में वारिरया (Warria) डाक प्राप्त करते थे तथा ये बड़–बड़े लिफाफे बनाकर दूसरे शहरों में अपने एजेंटों को भेजते थे जहाँ वे इसका स्थानीय वितरण करवाते थे। धीरे–धीरे डाक टिकट के प्रचलन से पश्चिमी डाक व्यवस्था ज्यादा उपयोगी, सरल तथा व्यवहारिक हो गयी।

लॉर्ड डलहौजी ने भारत में संचार व्यवस्था को सुसंगठित करने तााि इसके विस्तार में अहम भूमिका निभाई। गर्वनर–जनरल बनते ही उन्होंने एक पोस्ट ऑफिस कमीशन की स्थापना की जिसमें प्रत्येक प्रेजीडैन्सी से एक कमीश्नर रखा गया। इस कमीशन ने डाक–व्यवस्था के सुधार तथा इसके केन्द्रीयकरण तथा समरूपता सम्बंधी सुझाव देने थे। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधर पर डलहौजी ने अपना एक प्रतिवेदन कम्पनी के डाइरैक्टरों को भेजा। इसमें सबसे प्रमुख सिद्धांत जिसे डाक व्यवस्था द्वारा अपनाया जाना था वह था दूरी को नजरअंदाज करके एक समान डाक दर की व्यवस्था। डलहौजी ने कहा कि इससे 'मनुष्य और मनुष्य के बीच स्वतंत्र संचार' कायम हो पायेगा हाँलाकि जैसा कि हम देखेंगे कि यह तकनीकि औपनिवेशिक व्यवस्था के संदर्भ में विकसित हुई और इसने औपनिवेशिक सामरिक तथा व्यापारिक हितों की ही पूर्ति की। 1854 में कम्पनी सरकार ने भारतीय पोस्ट ऑफिस एक्ट पास किया। इस एक्ट की कुछ मुख्य–मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थी :

1. अखिल भारतीय स्तर पर डाक टिकटों का अपनाया जाना,
2. डाक–व्यवस्था पर राज्य का एकाधिकार या सरकार का डाक का विशेषाधिकार,
3. डाक की दर दूरी को नजर अन्दाज करके समान रखने का प्रावधान,
4. देशी अखबारों पर बाहर से आयत किये अखबारों की बजाय दुगना डाक शुल्क,
5. अंर्तदेशीय पार्सल सेवा, डाक के वजन तथा दूरी अनूसार पहले जैसी जारी,
6. डाक व्यवस्था के सभी कर्मचारी सरकारी होंगे और पूरी डाक–व्यवस्था एक डाइरैक्टर–जनरल ऑफ पोस्ट ऑफिसस के नियंतत्र में रहेगी।

इस एक्ट के लागू करने के बाद सरकार ने इन सभी निजी एजेन्सियों के लाइसेंस रद्ध कर जो पहले डाक–संचार के काम में लगी हुई थी। नयी व्यवस्था में डाक टिकट आ जाने से पत्र को डाक में भेजते हुए डाकखाना जो ग्राहक को पैसे के बदले रसीद देता था, उसकी जरूरत भी खत्म हो जाती है। कहीं–कहीं इस नयी पश्चिमी डाक व्यवस्था का देशी डाक एजेन्सियों ने तथा जनता ने विरोध भी किया। सूरत के एक हजार से ज्यादा रैयतों ने एक ज्ञापन गर्वनर–जनरल के नाम भेजा जिसमें लिखा था 'एक पत्र हमारी वास्तविक सम्पति है और इसमें हमारे दिलों की गोपनियता का खजाना है, हमें यह स्वंतत्रता है कि हम अपनी इच्छा के अनुसार जहां चाहे जैसे भेजे और मँगाये, और यह कोई एक सरकारी भूमि नहीं है, जिसे हम बिना भू–राजस्व के आंकलन के जोत–बो ना सकें'

1866 में एक नया पोस्ट एक्ट जारी किया गया। इसमें भारतीय देशी तथा विदेशी आयातित अखबारों पर दुहरी डाक दरें खत्म कर दी गयी। इसमें अखबारों द्वारा रियायती डाक दर की सुविधा का लाभ उठाने के लिए उनका डाकखानों के साथ पंजीकरण अनिवार्य कर दिया गया। इसके साथ अभद्र तथा 'राष्ट्र विरोधी' तथा अन्य आपतिजनक सामग्री भेजने पर कई तरह के प्रतिबंध इस एक्ट में लगाये गये। और भारतीय टेलिग्राम एक्ट (1855) के जैसे ही सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह विशेष परिस्थितियों

में आपत्तिजनक डाक–सामग्री को जब्त कर सकती थी। लेकिन 1866 के पोस्ट ऑफिस एक्ट की सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी कि इसमें डाक खानों द्वारा डाक–बीमा और मनी–आर्डर की व्यवस्था शुरू कर देने से आर्थिक और वित्तिय लेन–देन के साधन के रूप में अब डाक खानों का विकास शुरू होता है। बाद में 1873 के सरकार के सेविगं बैंक एक्ट के आधार पर 1882 में पोस्ट ऑफिसों में बचत बैंक भी स्थापित किये गये।

प्रांरभ में भारत में डाकखानों की संख्या बहुत ही कम थी। 1855-56 में पूरे भारत में 645 डाकखानें तथा 55 डाक प्राप्त करने वाले केन्द्र थे। 1857 के विद्रोह के पहले के ये डाकखाने मुख्यतया व्यापरिक तथा सैन्य मार्गो पर स्थित थे जो प्रेजीडिन्सियों में मुख्य–मुख्य कैन्टोनमैंटो से होकर ही गुजरते थे। विद्रोह के बाद की डाकखानों के विस्तार की कड़ी को व्यापरिक जरूरतों से जोड़कर देखा जा सकता है। 1866-67 में डाकखानें में ब्रांच–खोलने की व्यवस्था लागू की गई जिसके तहत स्कूल टीचर, दुकानदार या सरकारी पेंशन भोगी लोगों को एक मासिक भत्ते पर स्थानीय डाक–व्यवस्था की जिम्मेदारी दी जाती है। इससे डाक–कर्मियों की संख्या तथा डाकखानों की संख्या तेजी से बढ़नी शुरू हो जाती है। इसी प्रकार डाकखानों की आर्थिक सेवाओं में भी विस्तार और विविधीकरण होता है। 1884 में डाकखानों को अंर्तदेशीय टेलीग्राम प्राप्त करने की जिम्मेदारी भी साँप दी गयी थी। पोस्ट ऑफिसों की संख्या में वृद्धि भी होती है। 1865-66 में 1191 डाकखानों से बढ़कर यह 1884-85 में 6488 तथा 1904-05 में 16033 हो जाती है। 1946-47 में अविभाजित भारत में 26269 डाकखानें थे जिनमें से 4688 शहरी क्षेत्रों में तथा 24239 ग्रामीण अंचलों में स्थित थे। हॉलाकि इस व्यवस्था का विस्तार व्यापार, रेलवे विकास, शिक्षा के प्रसार आदि कारकों से जुड़ा हुआ था लेकिन सीमित उद्योगीकरण के कारण संचार–व्यवस्था का दायरा भी धीरे–धीरे ही बढ़ता है। 1918-19 में 1229 मिलियन डाक के मदों का आदान–प्रदान होता है जबकि 1921-22 में 1453 मिलियन डाक की मदों का । हरकारों द्वारा संचालित सेवा से शुरू होकर डाकव्यवस्था यातायात में होने वाले परिवर्तनों को अपनाती जाती है। जैसे 1912-13 में भारत में डाक के वितरण के लिए मोटर गड़ियों का प्रयोग शुरू होता है और रेले 1850 के दशक से ही डाक–वितरण का काम कर रही थी। रेलों के आने से डाक–यातायात ज्यादा तेजी और सुगमता से और ज्यादा मात्रा में होने लगा था तथा छँटाई का काम भी अलग–अलग स्टेशनों पर विशेषज्ञों द्वारा किया जा सकता था। 1920 में बम्बई और कराची के बीच नियमित एयर मेल सर्विस की शुरूआत भी हुई जिसका संचालन रायल एयर फोर्स करती थी। बाद में 1929 में दिल्ली और कराची के बीच राज्य द्वारा स्थापित इंडियन ट्रांसकांनटीनेनटल एयरवेज लिमेटेड कम्पनी ने शुरू की जिस बाद में कलकत्ता तक बढ़ाया गया इस प्रकार 19वीं सदी के अंत से डाक–व्यवस्था भारत में एक महत्त्वपूर्ण–सार्वजनिक उपयोगिता के रूप में उभर कर सामने आयी थी। हॉलाकि ग्रामीण अंचलों में इसका विस्तार उतनी तेजी से नहीं हुआ था। 1874-75 में 44578 लोगों पर एक डाकखाना था जबकि 1944-45 में 14292 लोगों पर एक डाकखाना स्थापित किया जा चुका था। अप्रवासन तथा मनी आर्डर एक दूसरे के पर्याप्त बन जाते हैं। सुरक्षा, कम लागत तथा इसकी विस्तृत पहुँच की दृष्टि से पैसे के आदान प्रदान की तथा बचत की राशि के भुगतान की ऐसी कोई विधि पूर्व–औपनिवेशिक भारत में मौजूद नहीं थी।

1839 में 'सर विलियम ओ' शागूत्रेशी ब्रूक ने कलकत्ता तथा डायमंड हार्बर को टेलिग्राफ लाईन से जोड़ने का गैर–अधिकारिक प्रयोग किया था। 1849 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने रेलवे लाइनों के साथ–साथ टेलिग्राफ–व्यवस्था चालू करने का निर्णय ले लिया थां अफगान युद्धों ने तथा उत्तर पश्चिमी मोर्चे तथा बर्मा के साथ बढ़ते तनाव के कारण पूर्वी मोर्चे पर संचार की जरूरत के कारण टेलिग्राफ एक आवश्यकता बना गया था। 1850 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता तथा डायमंड हार्बर के बीच टेलीग्राफ लाइन के निर्माण की मंजूरी दी। 1851 में इस टेलीग्राफ लाईन का निर्माण पूरा हो गया। 1851-55 के बीच न केवल मुख्य टेलिग्राफ लाईनों को निर्मित कर दिया गया। कलकत्ता को आगरा, बम्बई, पेशावर और मद्रास से टेलिग्राफ द्वारा जोड़ दिया गया था। 1855 में टेलिग्राफ का उपयोग सार्वजनिक उपयोग के लिए खोल दिया गया और 400 मील तक दूरी के लिए 16 शब्दों के प्रसारण के लिए एक रुपया दर निर्धारित की गई। इसका तेजी से विकास इसके औपनिवेशिक राज्य के लिए सामरिक महत्त्व तथा लॉर्ड डलहौजी के निजी रूझान के कारण भी सम्भव हो पाया था। इस निर्माण कार्य की श्रेय विलियम ओ. शागूत्रेशी को ही जाता है। वे 1851 में भारत में इलैक्ट्रिक टेलिग्राफ के सुपरिन्इटेन्डैन्ट रहे और 1857 में टेलिग्राफ के डाइरैक्ट्रर–जनरल बनाये गये थे। टेलिग्राफ इंग्लैण्ड और अमेरिका में निजी कम्पनियों ने विकसित किया था और महाद्वीपीय यूरोप में राज्य के द्वारा निर्मित किया गया था। भारत में डलहौजी राज्य के आर्थि क्रियाकलापों में एकाधिकार के विरोधी थे लेकिन सैन्य कारणों से, साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से टेलिग्राफ को सरकारी प्रतिष्ठान के रूप में ही निर्मित किया गया था। 1857 तक युद्धों में, विद्रोहों के समय संचार के तेज साधन के रूप में टेलिग्राफ एक महत्वपूर्ण सैन्य साधन सिद्ध हो चुका था। इसलिए 1855 में सरकार ने टेलिग्राफ एक्ट बनाकर इसके विकास में रुचि दर्शायी थी। 1857 के विद्रोह के दौरान विद्रोहियों ने इसे बुराई की जड़ मानते हुए जगह–जगह इसे उखाड़ फैका हॉलाकि वे इसका इस्तेमाल अपने लाभ के लिए नही कर पाये लेकिन जब विद्रोह शिथिल पड़ गया और विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा तब ब्रिटिश सेना ने टेलीग्राफ सेवा पुर्नस्थापित करते हुए इसे एक शक्तिशाली संचार के साधन के रूप में इस्तेमाल किया। यही कारण था कि डलहौजी कं शब्दों में यह शक्ति का एक ऐसा साधन ("Such on engine of power") था 1857 के विद्राह के बाद टेलिग्राफ के निजि तथा आर्थिक प्रयोग ज्यादा तेजी से बढ़ते हैं। संदेशों के आदान–प्रदान व्यापारी और उद्यमियों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना सैन्य अधिकारियों के लिए। अंग्रेज व्यापारी तथा उद्यमी इस सुविधा का पूरा उपयोग करते है। यह सार्वजनिक उपयोगिता भारत

में राजस्व से प्राप्त आय से ही निर्मित की गयी थी लेकिन इसका ज्यादा लाभ साम्राज्य तथा उसके निजी उद्यमियों ही पहुँचा था।1858 में इंडिया–श्रीलंका के मध्य टेलिग्राफ लाईन निर्मित की गई और 1870 में भारत से लंदन और अमेरिका को सफलतापूर्वक जोड़ दिया गया। 1880 के शुरू में मद्रास को पूर्व पेनांग से भी केबल द्वारा जोड़ा गया। इस प्रकार अंतराष्ट्रीय टेलीग्राफ व्यवस्था भी कायम कर दी गई। 1860 में टेलीग्राफ संदेशों के भुगतान के लिए टेलिग्राफ टिकटें सरकार ने जारी की। इनका प्रयोग उन क्षेत्रों में किया जाता था जहां टेलिग्राफ ऑफिस पास में नहीं था। यह प्रयोग ज्यादा सफल नहीं हुआ और इसके बदले 1865–66 सरकार ने चिपकाने वाली नयी टेलिग्राफ टिकटों का प्रयोग किया। नीचे दिये ऑकड़ों से हमें ब्रिटिश काल में डाक तथा टेलिग्राफ के विकास और विस्तार की एक झलक मिल जाती है।

1858-1938 में बीच डाक तथा टेलिग्राफ के विकास से सम्बंधित कुछ आँकड़े

वर्ष	1858	1891	1921	1938
चिटठी, अखबार पार्सल आदि की संख्या (मिलियन में)	उपलब्ध नहीं	347	1422	1241
अंर्तदेशी मनी आर्डरों का भुगतान (मिलियन रूपये में)	उपलब्ध नहीं	164	789	808
टेलिग्राफ के भुगतान किये संदेश (मिलियन रूपये में)	0.38	5.69	26.34	19.88

अध्याय - 1(f)

परिवहन का विकास-रेलवे

रेलवे के विकास की पृष्ठिभूमि

आधुनिक परिवहन के रूप में रेलवे का पहला व्यवहारिक तथा सफल प्रयोग 1830 में मैन चेस्टर और लिवर पूल नामक औद्योगिक केन्द्रों के बीच इग्लैण्ड में हुआ था। बाद में जैसे–जैसे यूरोप और अमेरिका में औद्योगिकरण का फैलाव होता है वैसे–वैसे इग्लैण्ड की पूँजी तथा पूँजीगत वस्तुओं का उपयोग करके रेलवे का विस्तार भी होता है। उपनिवेशों में रेलवे परिवहन का विस्तार भी शुरू हो जाता है। 1840 के दशक में ही इग्लैण्ड में भारत में रेलवे के विकास को लेकर विवाद और बहस शुरू होती है। रॉलैंड मैकडोनाल्ड स्टेफेनसन के विचार इसमें काफी भूमिका अदा करते हैं। उन्होंने एक उपनिवेश देश में रेलवे के विकास के तमाम सम्भावित लाभों को गिनाया। जैसे इससे खनित पदार्थो के खोजने मे मदद मिलेगी तथा आर्थिक और व्यापारिक प्रगति को बल मिलेगा तथा अप्रत्यक्ष रूप से यह श्रम तथा उत्पादन के अन्य कारकों को गतिशीलता देगी। इससे रेलवे की माँग के कारण कोयला, लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा तथा सैन्य गतिशीलता भी बढ़ेगी। स्टेफेन्सन ने भारत में रेलवे के विकास के लिए इंग्लैण्ड के उद्यमियों को तैयार करने की कोशिश की। इस सिलसिलें में उन्होंने कलकत्ता और मिर्जापुर के बीच रेलवे लाईन बिछाने की सम्भावना ढूँढ़ने के लिए काफी जानकी इक्कठी की। इस मार्ग पर काफी व्यापार बढ़ा था और इसी मार्ग पर रास्ते में रानीगंज की कोयले की खाने भी पड़ती थी। इसी उद्धेश्य से उन्होंने इग्लैण्ड में ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी का गठन किया। इसी प्रकार महाद्वीपीय भारत में पश्चिमी घाट से पूर्वी तट को जोड़ने की.एक योजना जे. चेपमैन ने सुझाई। यह एक तीन रेलवे लाईनों को योजना थी जिसमें दो बीजापुर, सतारा, पूना, अहमदनगर तथा औरंगाबाद को जोड़ने वाली थी तथा तीसरी ने हैदराबाद, नागपुर तथा अमरावती को जोड़ना था यह महत्त्वपूर्ण बात थी कि जे. चैपमैन की योजना के ये सारे शहर कपास की मंडियाँ थे। जे. चेपमैन ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ग्रेट इंडियन रेलवे कम्पनी के नाम से एक कम्पनी बनायी। धीरे–धीरे ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरैक्टर्स रेलवे विकास में रुचि दिखाना शुरू करते है। 1845 में ब्रिटिश संसद ने एफ. डब्ल्यू. सिम्स को भारत की उष्ण जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थितियों में रेलवे निर्माण की समस्याओं के अध्ययन के लिए भेजा 1 मार्च 1846 को सिम्स ने अपनी रिर्पोट ब्रिटिश संसद को सौंप दी। इस रिर्पोट में उन्होंने भारत में रेलवे निर्माण की सिफारिश करते हुए इसके कई अतिरिक्त लाभ बताये। जैसे – भारत में श्रम, भूमि तथा अन्य निर्माण का सामान कम मूल्य पर मिलने के कारण रेलवे निर्माण पर लागत कम आनी थी और यह अपेक्षाकृत परिवहन का सस्ता और सुगम साधन सिद्ध होना था। उन्होंने निजी उद्यम पूँजी के माध्यम से राज्य की शर्तो के अनुसार रेलवे–निर्माण का सुझाव दिया। इस समय गर्वनर–जनरल हार्डिंग भी इस योजना के पक्षधर थे। 1845 के बाद रेलवे–निर्माण का सुझाव दिया। इस समय गर्वनर–जनरल हार्डिंग भी इस योजना के पक्षधर थे। 1845 के बाद इंग्लैण्ड में रेलवे के विकास के लिए अनेक निवेशकत्ताओं को पूँजी लगाने का रूझान दिखाई देता है और कई रेलवे कम्पनियाँ पैदा होती हैं। इस समय हॉलाकि कम्पनी (ईस्ट इंडिया) के डाइरैक्टर्स तथा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के बीच भी रेलवे लाईनों की दिशा तथा निजी पूँजीपतियों पर राज्य द्वारा लगाई जाने वाली शर्तो को लेकर मतभेद उभरते हैं। सरकार इस समय निस्संदेह निजी कम्पनियों को एक गांरटी शुदा ब्याज देने के पक्ष में थी ताकि पूँजी को ऐसे कार्य के लिए आकर्षित किया जा सके जो औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में एक बुनियादी ढाँचा (infrestructure) विकसित कर सके चाहे उसमें तत्कालिक लाभ की गुजाईश कम ही थी। कुछ ब्रिटिश संसद सदस्यों ने, खासकर अर्ल ऑफ एलेनबंरो ने गांरटी शुदा ब्याज का विरोध किया कि यह भारतीय राजस्व से राशि ली जायेगी और इंग्लैण्ड की रेलवे कम्पनियों के निवेशकों को दी जायेगी। उनका मानना था कि यह सार्वजनिक हितों की कीमत पर निजी हितों की प्रोत्साहन देने जैसा काम था।

अगस्त, 1849 में ब्रिटिश संसद ने ग्रेट इंडियन पेनीसुलर रेलवे कम्पनी तथा ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी को भारत में दो रेलवे–लाइनों के निर्माण की कानूनी मंजूरी दे दी। भारत की औपनिवेशिक सरकार ने ये दो लाइनें निर्धारित की एक हावड़ा से रानीगंज तथा दूसरी बम्बई–ठाणे के बीच। अक्टूबर 1850 में इन पर निर्माण कार्य शुरू होता है और बम्बई–ठाणे के बीच पहली रेलगाड़ी 18 नवम्बर 1852 को चल पड़ीं सरकारी तौर पर मार्ग 16 अप्रैल, 1853 को चालू हो जाता है। निःसंदेह रेलवे–परिवहन के विकास के पीछे औपनिवेशिक स्वार्थ काम कर रहे थे। लार्ड हार्डिगं ने साफ–साफ कहा कि रेलवे भारत में 'प्रभावशाली ढंग से शासन चलाने में, सेना तथा केन्द्र सरकार से निर्देशों के संचरण में सहायक सिद्ध होगी'। इसी प्रकार बाद में लार्ड डलहौजी ने अपने रेलवे प्रतिवेदन (Railway Minute) में भी साफ तौर से कहा कि रेलवे–व्यवस्था को समझदारी से चयनित करके तथा निर्माण करके यह भारत के व्यापार, उद्यम के प्रोत्साहन देने तथा अदृश्य संसाधनों का ढूँढने में, राष्ट्रीय सम्पदा को बढ़ाने में तथा अन्य सामाजिक सुधार लाने में सहायक होगी जैसे साम्राज्य में दूसरी जगहों पर लाये गए थे। इसी तरह के उद्धेश्य और लक्ष्य निर्धारित करके लार्ड डलहौजी ने भारत में रेलवे निर्माण की एक 'सामान्य योजना' प्रस्तुत की जिसके अनुरूप देश के विभिन्न हिस्सों में इस आधुनिक परिवहन–प्रणाली का विकास करने की दिशा तथा नीति का निर्धारण किया गया।

भारत में रेलों को प्रारम्भ करने का उद्देश्य

यहां हमें शुरू में ही इस बात को ठीक से समझ लेना चाहिए कि अंग्रेजों का भारत में रेलें प्रारम्भ करने का मूलतः क्या उद्देश्य रहा था। जर्मनी और जापान की तरह भारत में रेलों का विकास देश के ओद्योगिक विकास को गति प्रदान करने के लिए नहीं किया गया था बल्कि यह तो साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार की भारत के प्रशासन पर पकड़ मजबूत करने और अधिाधिक व्यापारिक लाभ कमाने के उद्देश्य से ही शुरू किया था। भारत में रेलवे निर्माण का काम प्रारम्भ करने के पीछे अंग्रेजो के मुख्यतः तीन उद्देश्य थे – (1) सैनिक एवं प्रशासनिक पकड़ मजबूत करना (2) व्यापारिक लाभों में वृद्धि करना और (3) ब्रिटिश पूंजी के लिए लाभदायक निवेश के अवसरों को तलाशना।

अंग्रेजों को धीरे–धीरे यह अनुभव होने लग गया था कि भारतीयों ने अंग्रेजी शासन को मन से स्वीकार नहीं किया है। अतः कहीं भी और कभी भी अंग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह खड़ा हो सकता है। भारत जैसे लम्बे–चौड़े देश में इस प्रकार के विद्रोह को दबाने के लिए तुरन्त सेना व सैन्य सामग्री भेजने की आवश्यकता पड़ सकती है। यह काम पुराने एवं परम्परागत धीमी गति के परिवहन के साधनों के बजाय रेलों के द्वारा अधिक अच्छी तरह किया जा सकेगा। देश के विभिन्न भागों के साथ प्रभावी प्रशासनिक सम्बन्ध बनाये रखने की दृष्टि से भी रेलें महत्त्वपूर्ण साबित होंगी। 1848 में तत्कालीन गर्वनर जनरल लॉर्ड हार्डिग ने भारत में रेलों के विकास का समर्थन इसी तर्क के आधार पर किया था। आगे चलकर 1857 के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष ने अंग्रेज सरकार को इस आवश्यकता का अहसास और अधिक करा दिया था। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही अंग्रेजों ने देश के महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक एवं सैनिक केन्द्रों को रेल लाइनों से जोड़ने का कार्यक्रम बनाया था।

भारत में अंग्रेजों द्वारा रेल निर्माण के पीछे जो दूसरा प्रमुख उद्देश्य काम कर रहा था वह था अपने व्यापारिक लाभों में वृद्धि करना। भारत में कच्चे माल के निर्यात को बढ़ाने तथा इंग्लैंड से तैयार माल का आयात कर उसे देश के भिन्न–भिन्न इलाकों में पहुँचाने के काम में रेलवे बड़ी मदद कर सकती थी। लंकाशायर के कपड़ा मिल मालिकों की ओर से भारत की अंग्रेज सरकार पर लगातार इस बात का दबाव डाला जा रहा था कि वह भारत के कपास उत्पादक क्षेत्रों को रेलों के द्वारा जल्दी–से–जल्दी बन्दरगाहों से जोड़े। इससे इंग्लैंड की मिलों को भारत के कपास का आयात करना आसान हो जाएगा। इसके अलावा जब बन्दरगाहों तक कपास को बैलगाड़ियों द्वारा पहुँचाया जाता है तो मार्ग में मिट्टी उड़कर इस कपास के साथ मिल जाती है जिससे कपास की किस्म खराब हो जाती है और मिल मालिकों को परेशानी होती है। रेलों द्वारा बन्दरगाहों तक कपास पहुँचाने पर ब्रिटेन के मिल मालिकों को साफ व स्वच्छ कपास मिल सकेगी। दूसरी ओर, रेलों के निर्माण से भारत में ब्रिटिश वस्तुओं के बाजार का विस्तार होगा और इससे ब्रिटिश वस्तुओं का आयात बढ़ सकेगा। रेलों के द्वारा शीघ्रता से और सस्ती दर में ब्रिटेन के तैयार माल को बन्दरगाहों से देश के विभिन्न इलाकों में पहुँचाना संभव हो जाएगा। इसके परिणामस्वरूप देश के दूर–दराज के इलाकों में भी ब्रिटेन में बनी वस्तुओं की माँग बढ़ेगी और इससे भारत अधिक मात्रा में ब्रिटिश वस्तुओं का आयात करेगा। लॉर्ड डलहौजी ने अपने 1853 के प्रसिद्ध वक्तव्य में व्यापारिक लाभों के इन तर्कों के आधार पर ही भारत में रेलों के निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया था। डलहौजी ने अपने वक्तव्य में यह कहा था कि इतने बड़े साम्राज्य में विभिन्न वर्गो के हितों को देखते हुए और कई अलग–अलग स्थानों पर जहां कभी भी विद्रोहियों का हमला हो सकता है, उनके बीच की लम्बी दूरियों को ध्यान में रखते हुए तथा तेजी के साथ सैनिकों को इधर–उधर लाने–लेजाने की आवश्यकता और किसी स्थान पर सेना को जमा करने की जरूरत से सभी ऐसे सैनिक कारण हैं, जिनके लिए लम्बी–चौड़ी रेलवे व्यवस्था होना जरूरी है। वाणिज्य की दृष्टि से डलहौजी ने कहा थी कि इंग्लैण्ड, भारत में पैदा होने वाली कपास के लिए पुकार रहा है और यदि इसे दूर–दूर के मैदानों से लाकर ऐसे स्थानों पर जमा करने के समुचित संचार साधन हों, जहाँ उसे जहाजों से लादा जा सके तो आशा की जा सकती है कि भारत और भी अधिक मात्रा में कपास उगाएगा। इसके अतिरिक्त, व्यापार के लिए दी गई प्रत्येक अतिरिक्त सुविधा से भारत की दूर–दूर की मण्डियों में युरोपीय माल की माँग बढ़ी है और रेलवे इन लक्ष्यों को बहुत हद तक पूरा करेगी। नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने भी डलहौजी का समर्थन करते हुए कहा कि – 'मैं समझता हूँ कि अगर हम भारत से और अधिक कपास की सप्लाई प्राप्त कर सकें तो यह एक महान राष्ट्रीय सेवा होगी। पूरी तरह अमरीका पर निर्भर रहना कोई अच्छी बात नहीं है। मुझे अन्य स्थानों से सप्लाई की ज्यादा आशा नजर नहीं आ रही हैं। भारत ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ से हम बड़ी मात्रा में कपास प्राप्त करने की आशा कर सकते है। यदि हम बम्बई रेलवे को कपास उगाने वाले क्षेत्र तक पहुँचा दें तो यह एक महान कार्य होगा' इस प्रकार डलहौजी और वुड के विचार भारत में रेल निर्माण के पीछे अंग्रेजों के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं।

भारत में रेल निर्माण के पीछे एक तीसरा उद्देश्य भी काम कर रहा था। उन दिनों इंग्लैण्ड के पूंजीपति अपने पास जमा पूँजी को संसार के विभिन्न भागों में निवेश के लिए भेज रहे थे। अर्थात वे अपनी पूँजी को लाभपूर्ण ढ़ंग से निवेश करने के अवसरों की तलाश में थे। ऐसी स्थिति में वहाँ के पूंजीपतियों को भारत में रेल निर्माण के कार्य में पंजी लगाना अधिक सुरक्षित एव लाभप्रद अवसर दिखाई दे रहा था। अतः इन पूँजीपतियों ने भी अंग्रेज सरकार पर भारत में जल्दी से जल्दी रेलवे निर्माण का काम प्रारम्भ करने की इजाजत देने के लिए दबाव डाला ताकि वे अपनी इस अतिरिक्त पूँजी का निवेश कर सके।

इन तीन महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों के अलावा आगे चलकर कुछ लोगों ने भारत में रेलों के निर्माण को अकालों पर काबू पाने, आन्तरिक व्यापार को बढ़ावा देने तथा देश की दरिद्रता दूर करने के एक साधन के रूप में उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण बताया था।

भारत में रेल निर्माण की प्रगति का एक संक्षिप्त इतिहास

संसार में सबसे पहली सार्वजनिक यात्री रेल गाड़ी 1825 में ग्रेट ब्रिटेन में चली थी। इसके लगभग सात वर्ष बाद 1832 में ही भारत में भी रेलवे का काम शुरू करने के बारे में सुझाव आने शुरू हो गए थे। 1841 में एक अंग्रेज सिविल इंजीनियर जोजफ लॉक ने कलकत्ता से दिल्ली तक रेल चलाने की सम्भावनाओं के बारे में कलकत्ता से उत्तर–पश्चिम सीमा प्रान्त तक रेलवे लाईन बनाने का एक प्रस्ताव बंगाल सरकार के सामने रखा और उन्होंने इसके लिए इंग्लैण्ड में एक कम्पनी की भी स्थापना की। लगभग उसी समय जे. चैपमेन ने भी बम्बई से कपास उगाहने वाले क्षेत्रों से गुजरती हुई एक रेल लाईन बनाने के बारे में सोचना शुरू किया। 1845 में ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पेनिन्स्युलर रेलवे कम्पनी की ओर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत में रेल निर्माण का कार्य प्रारम्भ करने के बारे में प्रस्ताव पेश किए गए।

इंग्लैण्ड में गैर सरकारी लोग भारत में रेलवे लाईन निर्माण करने का कार्य शुरू करने के बारे में इतने अधिक उत्सुक थे कि 1845 के बाद के तीन वर्षों में ही वहां कई रेलवे कम्पनियां बन गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी मन से तो रेल निर्माण का काम प्रारम्भ करवाने के पक्ष में थी। किन्तु फिर भी कई वर्षो तक उसने इन गेर सरकारी रेलवे कम्पनियों के प्रस्तावों पर कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया। इसका प्रमुख कारण इन रेलवे कम्पनियों के साथ किए जाने वाले समझौतो की शर्तो को लकर निश्चय न हो पाना था। इसमें मुख्य अड़चन यह आ रही थी कि ये रेलवे कम्पनियां इनके द्वारा लगाई जाने वाली पूँजी पर गारण्टी की मांग कर रही थी। आखिर 1848 में जब लार्ड डलहौजी गवर्नर बनकर आए तब इन कम्पनियों के साथ औपचारिक समझौता होकर रेल निर्माण का काम शुरू हो सका। भारत में रेल निर्माण का काम शुरू करने के बारे में पहला समझौता ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पेनिन्स्यूलर रेलवे कम्पनी के बीच अगस्त 1849 में सम्पन्न हुआ। 1850 में रेलवे निर्माण का काम प्रारम्भ हो गया। 18 नवम्बर 1852 को भारत में पहली यात्री रेलगाड़ी बम्बई से थाणा के बीच 21 मील की दूरी पर चली। इसके बाद यह रेल मार्ग (बम्बई से थाणा) औपचारिक रूप से 16 अप्रैल 1853 को सार्वजनिक यात्रा के लिए प्रारम्भ कर दिया गया, अतः भारत में रेलगाड़ी का चलना अप्रैल 1853 से ही माना जाता हैं। भारत में यहीं से रेलवे का शुभारम्भ होता है और यह लाईन ही एशिया में भी पूरी होने वाली सबसे पहली रेलवे लाईन थी।

रेलवे निर्माण के बारे में दूसरा समझौता भी 1849 में ही हुआ। यह समझौता ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी के साथ कलकत्ता से राजमहल तक और उसकी शाखा के रूप में रानीगंज के कोयला क्षेत्र तक रेलवे लाईन बनाने के बारे में था। हावड़ा से रानीगंज तक की रेलवे लाईन का 3 फरवरी 1855 से जनता के लिए शुरू कर दिया गया था। इसके बाद से तो अनेक निजी ब्रिटिश रेलवे कम्पनियों के साथ भारत की अंग्रेज सरकार का समझौता होकर रेल निर्माण का काम चल पड़ा।

पुरानी गारण्टी प्रणाली

भारत में निजी कम्पनियों को रेल निर्माण का काम मुख्यतः लार्ड डलहौजी के सुझावों के आधर ही दिया गया था। इन निजी कम्पनियों के साथ रेल निर्माण के बारे में विस्तृत समझौता किया गया था और विभिन्न शर्ते तय की गई थी। प्रारम्भ में इन कम्पनियों के साथ जो समझौता किया गया था और विभिन्न शर्ते तय की गई थी। प्रारम्भ में इन कम्पनियों के साथ जो समझौता हुआ और और जो 1869 तक चला उसे पुरानी गारण्टी प्रणाली के नाम से जाना जाता है। इस पुरानी प्रणाली के तहत किए गए समझौते की मुख्य शर्ते इस प्रकार थीं –

1. भारत सरकार निजी रेलवे कम्पनियों को रेल लाईन के निर्माण के लिए आवश्यक जमीन 99 वर्ष के पट्टे पर मुफ्त देगी।
2. निजी कम्पनियों द्वारा रेलवे के निर्माण कार्य के लिए जुटाई गई पूँजी पर सरकार ने साढ़े चार से पांच प्रतिशत तक की दर से ब्याज देने की गारण्टी दी, रुपये और पौण्ड के बीच विनियम की दर भी तय कर दी गई और इसके अनुसार एक रुपये का। शि. 10 पै. दर से विनियम किया जा सकेगा।
3. इस समझौते में यह भी कहा गया कि न्यूनतम ब्याज की गारण्टी का पूरा करने की दृष्टि से सरकार ने जितनी रकम का भुगतान किया है उसकी वसूली के लिए 5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की राशि से अधिक होने वाले लाभ को ईस्ट इण्डिया कम्पनी और रेलवे कम्पनी आपस में बराबर–बराबर बांट लेगी। ब्याज की राशि के चुक जाने के बाद रेलवे कम्पनी को जो लाभ होगा वह फिर सारा का सारा उसी के पार रहेगा।
4. रेलों को डाक को एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना किसी चार्ज के ले जाना होगा तथा सैनिक एवं सैनिक भण्डारी को भी भाड़े की घटी दरों पर ले जाना होगा।

5. 99 वर्षों की अवधि समाप्त हो जाने के बाद रेलवे कम्पनियों को अपनी रेलें सरकार को बिना किसी मूल्य को सौंप देना होगा। सरकार केवल मशीनों, संयत्रों तथा रेलगाड़ी के डिब्बों का ही मूल्य चुकायेगी।

6. सरकार 25 वर्ष अथवा 50 वर्षों की अवधि पूरा होने पर (किन्तु इस अवधि के बीच में नहीं) यदि चाहे तो रेलवे कम्पनियों से उस समय के बाजार में प्रचलित मूल्य पर उन रेलवे लाईनों को खरीद सकेगी। किन्तु रेलवे कम्पनियां जब चाहे तब छः महीने का नोटिस देकर अपनी रेलवे समपत्ति को सरकार को सौंपकर अपनी निवेश की गई पूँजी को वापस ले सकेंगी।

7. सरकार को रेलों पर नियंत्रण एवं निरीक्षण के कुछ सामान्य अधिकार तो प्राप्त होंगे परन्तु कर्मचारियों की नियुक्त आदि का अधिकार रेलवे कम्पनियों का ही होगा।

उपयुक्त शर्तो वाली पुरानी गारण्टी प्रणाली के तहत विभिन्न निजी रेलवे कम्पनियां भारत में लगभग 25 वर्षो तक (1869 तक) रेल निर्माण का कार्य करती रहीं मार्च 1856 में जब लार्ड डलहौजी ने भारत छोड़ा तब तक 150 मील लम्बी रेलवे लाईन को सार्वजनिक यातायात के लिए खोल दिया गया था और 150 मील लम्बी लाईनों पर और काम चल रहा था। 1844 से 1860 के बीच कुल मिलाकर 12 रेलवे कम्पनियां इस क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी थी। 1869 तक देश में कुल मिलाकर 4255 मील लम्बी रेलवे लाईन बिछाई जा चुकी थी और इन पर 89 करोड़ रुपये की पूंजी लगी थी। इसी प्रकार 1869 तक रेलवे यात्रियों की संख्या बढ़कर 16 मिलियन तक पहुँच गई थी।

राज्य द्वारा रेल निर्माण का कार्य

यद्यपि 1869 तक रेल निर्माण के कार्य में काफी अच्छी प्रगति हुई थी, किन्तु फिर भी सरकार इस प्रगति से सतुष्ट नहीं थी। इसके अलावा देश में गारण्टी प्रणाली की भी आलोचना शुरू हो गई थी तथा इसे अनावश्यक बोझ बताया जा रहा था। गारण्टी प्रणाली के पक्ष में यह तर्क दिया जाता था कि यदि रेलवे निर्माण में किए जाने वाले पूंजी निवेश पर सरकार एक न्युनतक ब्याज की गारण्टी न देती जो पूँजी प्राप्त नहीं हो सकती थी। किन्तु विलियम थोरण्टन एवं कुछ अन्य विद्वानों का यह मत था कि भारत सरकार इस प्रकार के ब्याज की गारण्टी न देती तब भी ब्रिटिश पूंजी भारत में रेलवे निर्माण के लिए अवश्य आती क्योंकि यह उनके लिए पूंजी निवेश का एक लाभप्रदा अवसर थां। अतः इस प्रकार की गारण्टी प्रणाली अनावश्यक थी। दूसरी ओर, कुछ लोगों ने गारण्टी प्रणाली की यह कहकर भी आलोचना की कि इसने अपव्यय को बढ़ावा दिया न्यूनतम ब्याज की गारण्टी मिल जाने के बाद रेलवे कम्पनियों ने व्यय करते समय मिलव्ययता बरतने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। बल्कि उचित सीमा से अधिक खर्च किया। इसके परिणामस्वरूप रेल निर्माण की लागत बढ़ गई। डलहौजी ने प्रारम्भ में 8000 पौण्ड प्रति मील के हिसाब से रेलवे लाईन की लागत का अनुमान लगाया था जबकि वास्तविक लागत लगभग 18000 पौण्ड प्रति मील के हिसाब से आयी। उसी अवधि के दौरान इंग्लैण्ड, आस्ट्रैलिया और कनाडा में रेलवे निर्माण पर जा लागत आई थी उसकी तुलना में भारत में आई यह लागत काफी अधिक थी। इसका परिणाम यह भी हुआ कि भारत में गारंटी किए हुए ब्याज का भार बढ़ गया। 1868 तक भारत सरकार को भारत में रेल निर्माण पर लगाई पूंजी के ब्याज के बदले में लगभग साढ़े तेरह मिलियन पौण्ड का भुगतान करना पड़ा था।

पुरानी गारन्टी प्रणाली की इन सब कमियों के कारण इस बात पर जोर दिया जाना लगा कि सरकार स्वयं ही रेल निर्माण का काम प्रारम्भ कर दें। इस दृष्टि से स्वय गर्वनर जनरल लार्ड लारेन्स ने 1857 एवं 1869 में भारत सचिव को प्रत्यक्ष सरकार द्वारा रेल निर्माण प्रारंभ करने के बारे में सुझाव दिया था। उनका मत था कि भारत सरकार ब्रिटिश पूंजी बाजार से ब्याज पर पूंजी उधार लेने और अपने स्वंय के नियन्त्रण एवं निरीक्षण में रेल निर्माण का काम प्रारम्भ करने में सक्षम थी। उन्होंने प्रचलित प्रणाली की यह कहकर तीव्र आलोचना की कि इसके द्वारा सरकार को कोई लाभ प्राप्त नहीं हो पाता वरन हानि ही सहन करनी पड़ती है। अतः रेलवे को प्रत्यक्ष सरकारी नियंत्रण में चलाना अनिवार्य एवं उपयोगी है जिससे कि इसे लाभ देने वाले स्रोत के रूप में बदला जा सके। अन्ततोगत्वा भारत सचिव के वायसराय लार्ड लॉरेंस के सुझाव को स्वीकार कर लिया और बचत करने की दृष्टि से इस नई सरकारी नियन्त्रण की प्रणाली के तहत संकरी लाईन के निर्माण का काम शुरू कर दिया गया। 1870–79 के दौरान जो भी रेलवे लाईन उन सबके लिए पूँजी सरकार ने ही जुटाई थी। सरकार ने ही यह पूंजी ब्रिटिश पूंजी बाजार से 4 प्रतिशत या इससे कम ब्याज पर उधार लेकर जुटाई थी। इस दस साल की अवधि के दौरान लगभग 4000 मील लम्बी नई रेलवे लाईनों का निर्माण किया गया। रेल निर्माण की प्रति मील लागत में भी कमी आई। लागत की इस कमी का एक बहुत बड़ा कारण बड़ी एवं छोटी लाईनों की बजाय संकरी लाईन की रेलवे लाईन का बनाना भी था किन्तु जहां तक रेल चलाने पर आने वाली लागत का सवाल है वह कम नहीं हुई तथा दूसरी और रेलवे पर लगाई गई पूंजी पर प्राप्त होने वाली लाभ की दर कम हो गई।

नई गारण्टी प्रणाली

सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्वयं रेल निर्माण करने को 1880 के बाद से छोड़ना पड़ा और फिर से यह काम निजी कम्पनियों को ही सौंपा गया। इसके लिए मुख्य रूप से दो कारण जिम्मेदार थे। प्रथम कारण तो यह थ कि सरकार वित्तीय कोष की कमी महसूस कर रही थी। सरकार को अकाल और विदेशी लड़ाइयों का सामना करना पड़ रहा था और वह वित्तीय दृष्टि से इतनी कमजोर हो चुकी थी कि वह रेल निर्माण के लिए आवश्यक वित्त प्रदान नहीं कर सकती थीं रुपये के विनिमय मूल्य के गिर जाने के कारण भी सरकार की बजटीय स्थिति काफी गम्भीर बन गई थी। ऐसी स्थिति में न तो सरकार अपने राजस्व में से ही रेलों के निर्माण के लिए धन दे सकती थी और न ही ब्रिटैन के बाजारों से अधिक मात्रा में उधार लेने का जोखिम उठा सकती थी। सरकार द्वारा रेल निर्माण के काम को छोड़ने का दूसरा प्रमुख कारण 1880 के अकाल आयोग की रिपोर्ट बना। इस रिपोर्ट में आयोग ने यह सुझाव दिया था कि यदि हमें अकाल की समस्या से छुटकारा पाना है तो शीघ्रतिशीघ्र 10000 मील लम्बी नई रेलवे लाईने बनायी जानी चाहिए। इसी बीच ब्रिटिश व्यापारियों ने भी भारत में जल्दी से जल्दी रेलवे के विस्तार करने पर बल दिया जिससे भारत में इंग्लैंड को गेहूँ का निर्यात करने और इंग्लैंड से लोहे की पटरियां एवं अन्य सामानों का आयात किया जा सके। चूंकि सरकार स्वंय इतनी बड़ी मात्रा में रेल विस्तार के काम का वित्तीय बोझ अकेले नहीं उठा सकती थी, अतः उसने फिर से निजी कंपनियों से इस काम में सहायता करने के लिए कहा।

इस बार रेल निर्माण के लिए सरकार ने निजी कंपनियों के साथ पुरानीं शर्तों पर समझौता नहीं किया बल्कि समझौते की नई शर्ते रखी। अतः इसे नई गारण्टी प्रणाली के नाम से जाना जाता है। इस नई प्रणाली की मुख्य शर्ते इस प्रकार थी –

1. रेलवे कंपनियों द्वारा बनाई जाने वाली रेलवे लाईनो का प्रबन्ध तो कम्पनियों के ही हाथों में रहेगा किन्तु ये प्रारम्भ से ही भारत सचिव की सम्पत्ति मानी जाएगी। भारत सचिव 25 वर्ष बाद तथा इसके उपरान्त दस साल के अन्तराल के बाद कंपनियों की पूंजी लौटाकर अनुबन्ध समाप्त कर सकेगा।
2. कंपनियों को उनके द्वारा निवेशित पूंजी पर साढ़े तीन प्रतिशत की ब्याज की गारण्टी दी जायेगी।
3. रेलवे से प्राप्त युद्ध लाभ में से कंपनियों को 40 प्रतिशत और सरकार को 60 प्रतिशत हिस्सा मिलेगा।

उपर्युक्त शर्तो के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुरानी गांरटी प्रणाली की तुलना में नई गारण्टी प्रणाली अधिक बेहतर थी। इसमें ब्याज की दर भी कम रखी गई थी और सरकार के अधिकार में भी कुछ अधिक वृद्धि कर दी गई थी। इस नयी प्रणाली के लागू हो जाने के बाद 1880 से रेलवे का तेजी से विस्तार हुआ। 1878–79 से 1889–90 के बीच के 11 वर्षो मे रेलवे लाईन 8212 मील से बढ़ाकर 16404 मील हो गई अर्थात् लगभग दुगुनी हो गई। इसके बाद 1899–1900 तक यह बढ़कर 23763 मील और 1905–06 तक 28604 मील हो गई। 1869 तक भारतीय रेले लगभग 16 मिलियन यात्रियों को प्रति वर्ष ले जाती थी। यह संख्या बढ़कर 1906 में 271 मिलियन हो गई। इसी प्रकार 1906 तक रेलों से प्राप्त होने वाली आय बढ़ाकर 247.5 मिलिनयन पौण्ड हो गई। अब तक जो रेले घाटा दे रही थी अब इनसे लगभग 6 प्रतिशत की दर से शुद्ध लाभ मिलना शुरू हो गया।

इसके बाद भी रेलवे का विस्तार जारी रहा। 1914 तक भारत में रेलवे लाईनों की कुल लम्बाई बढकर 34656 मील तक जा पहुँची थी। प्रथम विश्व युद्ध ने रेलवे की प्रगति पर अपने दुष्प्रभाव छोड़ें युद्ध के दौरान रेलवे को मेसामोटमिया और पूर्वी अफ्रीका अभियानों के लिए काफी बड़ी मात्रा में सेना एवं रसद का परिवहन करना पड़ता था वित्तीय दबावों के कारण सरकार रेलों की मरम्मत एवं देखभाल भी ठीक प्रकार से नहीं कर पा रहीं थी। रेलों पर पूंजी व्यय घट गया था। इन सब परिस्थितियों में रेले व्यापार के लिए माल को लाने ले जाने की आवश्यकताओं को ठीक से पूरा नहीं कर पा रही थी और रेलों के कार्य के स्तर में भी गिरावट आ गई थी। इसी दौरान ऐसे भी कई उदाहरण सामने आने लगे थे जिनमें रेलवे कंपनियों ने गुप्त समझौते कर राष्ट्रीय हितों के विपरीत काम किया था। इन सब कमियों व कमजोरियों को देखते हुए सरकार ने 1920 में सर विलियन एक्वर्थ (Sir Willian Acworth) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी :

1. रेलवे का राष्ट्रीयकरण करना तथा निजी कंपनियों के प्रबन्ध एवं स्वामित्व को समाप्त करना
2. रेलवे बोर्ड का विस्तार करना तथा इसके अधिकार क्षेत्र में वृद्धि करना और
3. सामान्य सार्वजनिक बजट से रेलवे के बजट को अलग करना।

सरकार ने एक्वर्थ कमेटी की सिफारिशों को मोटे रूप में स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार समझौतों की समाप्ति के बाद कई रेलवे लाईनों को सरकार के नियंत्रण में लाया गया। रेलवे बोर्ड को पुर्नगठन किया गया तथा एक सलाहकार समिति बनाई गई। सरकार ने रेलवे बजट को अलग करने के बारे में विस्तृत कार्ययोजना तैयार करने की दृष्टि से एक समिति बनाई

अन्ततोगत्वा 1924 में रेलवे बजट को अलग कर दिया गया। इन सब उपायों के परिणामस्वरूप रेलवे का विस्तार हुआ। 1929–30 तक रेलवे लाईनों की लम्बाई बढ़ाकर 41724 मील हो गई, अब यह 634 मिलियन यात्री और 91 मिलियन टन माल ले जाने लगी थी। ईस्टर्न इण्डियन रेलवे तथा ग्रेट इण्डियन पेनिन्स्यूलियन रेलवे जैसी कंपनियां अब सरकारी नियंत्रण में आ चुकी थी।

किन्तु इसके बाद विश्व व्यापी महामंदी ने भारतीय रेलों को भी प्रस्तावित किया। इस महामंदी का भारत की कृषि अर्थव्यवस्था पर दुष्टप्रभाव हुआ। निर्यातों और आयातों के घट जाने के परिणामस्वरूप रेलों की यात्री संख्या एवं माल की ढुलाई भी घट गई। इसी दौरान सड़क यातायात के साथ प्रतियोगिता में वृद्धि हो जाने के कारण भी रेल यातायात पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि रेलवे ने अब तक जो कुद कमाई की थी वह सब समाप्त हो गई। 1936 में सरकार ने रेलवे के वित्तीय हालत को सुधारने के बारे में सुझाव देने के लिए वेजवुड कमेटी (Wedgwood Committee) की नियुक्ति की। इस कमेटी ने अनेक सुझाव दिये जिनमें सें कुछ प्रमुख थै सैण्ट्रल इकोनामी रिचर्स कमेटी की स्थापना करना, रेलवे को अनुचित सड़क प्रतियोगिता से बचाने के लिए रूट लाईसेंस जारी करना, किराये–भाड़े की दरें निश्चित करना आदि।

वित्तीय दृष्टि से कुद सुधार होने ही लगे थे कि इतने में ही द्वितीय विश्व युद्ध की काली छाया ने रेलवे को आ घेरा। इस विश्व युद्ध के कारण भारतीय रेलवे पर कई प्रकार से दबाव पड़े। सैनिकों एवं सैन्य सामग्री के अलावा, सामान्य यात्रियों तथा औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप माल को भी अधिक मात्रा में ढोना पड़ा। युद्ध के दबाव के परिणास्वरूप रेलवे लाईनों की मरम्मत एवं नवीनीकरण का काम भी ठीक से नहीं हो सका। इस सबके परिणामस्वरूप रेलवे की सर्विस से स्तर में भी गिरावट आई। किन्तु इस अवधि के दौरान रेलवे की वित्तीय स्थिति में आवश्यक सुधार हुआ। रेलवे की प्राप्तियों में अच्छी खासी वृद्धि हुई।

जब 1947 में देश आजाद हुआ तो भारत में कुल मिलाकर 41033 मील लम्बी रेलवे लाईन थी। देश विभाजन के परिणामस्वरूप लगभग 19 प्रतिशत अर्थात 6950 मील लम्बी रेलवे लाईन पाकिस्तान में चली गई और भारत में केवल 34083 मील लम्बी रेलवे लाईन ही बची। इन रेलवे लाईनों में भी बहुत सी लाईनें पुरानी पड़ चुकी थी और इनकी परन्तु मरम्मत एवं नवीनीकरण की आवश्यकता थी।

रेलवे के प्रभाव

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही बता चुके है कि अंग्रेजों ने भारत में रेलों का निर्माण मूलतः भारतीय हित को नही बल्कि ब्रिटिश हित को ध्यान में रखकर ही किया था। रेलों ने यह काम बखूबी किया भी। भारत में अंग्रेजी शासन के खिलाफ उठने वाले विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजने एवं देश के विभिन्न इलाकों के साथ प्रशासनिक संबन्ध बनाये रखने में रेलवे ने अंग्रेजों की भरपूर मदद की। इनके अलावा, रेलवे के फलस्वरूप भारत के कच्चे माल का अधिक निर्यात हो सका और इंग्लैण्ड से तैयार माल के निर्यात में वृद्धि हुई। इस प्रकार रेलवे ने अंग्रेजों को भारत का व्यापारिक दृष्टि से अधिक से अधिक शोषण करने में भरपूर सहायता पहुंचाई। किन्तु इनके अलावा रेलवे ने भारतीय अर्थव्यवस्था को ओर भी अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया था। आर्थिक प्रभावों के अलावा रेलों के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण प्रभावों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

रेलवे के परिणास्वरूप भारत अब पहले की तुलना में एक आर्थिक सुसंगठित राजनीतिक इकाई के रूप में उभर सका था। प्रशासनिक दृष्टि से सेना और सामान्य प्रशासन की कुशलता में भी वृद्धि हुई थी।

सामाजिक दृष्टि से जाति के बन्धन ढीले होने लगे और छुआछूत का प्रभाव भी कमजोर पड़ने लगा। अब लोग रेलगाड़ी के एक ही डिब्बे में एक साथ दूर–दूर की यात्रा करने लगे थे। विभिन्न स्टेशनों पर एक ही जगह से पानी पीते अथवा खाने–पीने का सामान लेते थे इन सबके परिणास्वरूप जातीय संकीर्णता और छुआछूत में कमी आने लगी थी। विभिन्न स्थानों के लोगों के आपस में मिलने एवं बातचीत करने से विचारों का आदान–प्रदान होता था। और एक दूसरे की भाषा, रहन–सहन, रीति–रिवाज एवं भाव–भावनाओं की समझ भी बढ़ती थी, इससे राष्ट्रीय एकता एवं भावनात्मक एकता को भी बल मिला।

आर्थिक दृष्टि से उत्पादन एवं वितरण के क्षेत्र में अब पुरानी एवं परम्परागत स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था के स्थान पर परस्पर निर्भर विस्तृत बाजार अर्थव्यवस्था का उदय होने लगा था रेलों के द्वारा अब एक स्थान के उत्पादन को दूर–दूर तक ले जाना सम्भव हो सका था, इससे बाजार का विस्तार हुआ। विभिन्न स्थानों पर माल के लाने ले जाने की सुविधा में वृद्धि होने के कारण विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में पाए जाने वाले क्षेत्रीय अन्तर भी घटे। रेलों ने स्थानीय कुटीर उद्योगों को और अधिक कमजोर बनाया और उनके स्थान पर कुछ सीमा तक बड़े उद्योगों तथा व्यापार को प्रोत्साहित किया। यात्री परिवहन में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप श्रम की गतिशीलता में भी वृद्धि हुई। अब देश के किसी भी इलाके में अकाल पड़ने पर रेलों के द्वारा वहां तुरन्त अनाज पहुँचाया जा सकता था, अतः रेलों के अकालों की समस्या से निपटने में भी हमारी मदद की।

इस प्रकार, भले ही अंग्रेजों ने भारत में रेलों का निर्माण भारत को लाभ पहुँचाने के लिए नही किया था तो भी इससे देश को कई लाभ मिले। इन विभिन्न लाभों को विपिन चन्द्र ने संक्षेप में इन शब्दों में गिनाया है, सस्ती और द्रुत परिवहन की व्यवस्था, राष्ट्रीय सद्भाव और संगठन में प्रगति, नई मण्डी का उद्घाटन, आजीविका के नवीन साधनों की सृष्टि, स्वदेशी तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन, दुर्भिक्षों का निरोध, कृषि फसलों के उत्पादन में गतिशीलता औद्योगिकरण की प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष प्रभाव, इंजीनियरिंग उद्योगों और कार्यशालाओं को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन और सामान्य रूप से देश में उद्यम का क्षेत्र विस्तार।

अंग्रेज सरकार और उसके समर्थन कुद विद्वानों ने रेलों से भारत को मिले लाभों का काफी बढ़–चढ़कर प्रचार किया। किन्तु दूसरी और अधिकांश राष्ट्रवादी नेताओं का यह मानना था कि हम इन लाभों की रेलों से हुइ हानि से तुलना करते हैं तो पाते है कि अंग्रेजों ने रेलों का भी भारत का शोषण के एक उपकरण के रूप में ही उपयोग किया था। दादा भाई नैरोजी ने कहा था कि यह एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य हे कि रेलों के निर्माण से विश्व के दूसरे देशों को जो लाभ मिले वे भारत का नही मिल पाए। इंग्लैण्ड के अलावा, जापान ओर जर्मनी में रेलों ने औद्योगिक विकास के युग का सूत्रपात किया और इसे गति प्रदान की गई। किन्तु यही काम रेलें भारत में नही कर सकीं इसका कारण यह था कि भारत में रेलें एक स्थान से दूसरे स्थान तक जिन तैयार वस्तुओं को लाती ले जाती थी उनमें से अधिकांश भारत के कारखानों में बनने की बजाए इंग्लैण्ड के कारखानों में बनती थी। अतः इसके परिणामस्वरूप इंग्लेण्ड के कारखानों की प्रगति हुई न कि भारत के कारखानों की। भारत में तो रेलों ने इसके परम्परागत हस्तशिल्प उद्योगों को ही नुकसान ही पहुँचाया। हस्तशिल्प उद्योगों के नष्ट हो जाने और फैक्टरी उद्योग के पर्याप्त रूप से विकसित न हो पाने के कारण रोजगार के लिए देश के लोगों की निर्भरता कृषि पर बढ़ गई। इस प्रकार रेलों ने औद्योगिक विकास को ही नुकसान नहीं पहुँचाया था बल्कि कृषि क्षेत्र में भी जनंसख्या के भार को बढ़ाकर वहां अनेक समस्याओं को जन्म दिया था। इससे भारत की गरीबी और अधिक बढ़ गई। इसके अलावा, रेलों ने भारत के कच्चे माल के निर्यात में जो वृद्धि की उसका भी देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा ही प्रभाव पड़ा।

भारत में रेलों के निर्माण के लिए अंग्रेज सरकार ने निजी ब्रिटिश कम्पनियों के साथ समझौता कर उन्हें जो न्यूनतम ब्याज की गारण्टी दी थी, उसके परिणास्वरूप भी भारत पर काफी बड़ी मात्रा में वित्तीय बोझ बढ़ा। रेलवे में बहुत बड़ी संख्या में विदेशी कमेचारियों को लगाया गया था। इस प्रकार ब्याज, लाभांश और कर्मचारियों के वेतन आदि के रूप में काफी बड़ी मात्रा में देश की धन–राशि की निकासी हुई। भारत में रेलों के निर्माण के लिए लोहे की पटरियां व अन्य सामान भी इंग्लैण्ड से ही मंगाय जाता था, इससे भी देश की पूंजी बाहर गई ओर रेलों ने देश में उत्पादन व रोजगार को गति प्रदान करने की बजाय ब्रिटेन के उद्योगों की सहायता की।

रेलों के माध्यम के अंग्रेजों ने किस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया इसे समझने के लिए रेलवे की माल भाड़े की दरों पर विचार करना जरूरी है। यद्यपि रेलों क विकास के फलस्वरूप बैलगाड़ी द्वारा परिवहन की तुलना में रेलवे द्वारा परिवहन की लागत लगभग बीसवां हिस्सा रह गई थी। किन्तु अंग्रेजों ने रेलवे की माल–भाड़े एवं किराए की दरें काफी ऊँची रखी गई थी। इस प्रकार रेलवे की भाड़े की दरें भारतीय कारखाने में बने माल के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए भाड़े की दरें भारतीय उद्योगों के विपक्ष में और ब्रिटेन के उद्योगों के पक्ष में निर्धारित की गई थीं। इस पक्षपात के पक्ष में रेलवे कम्पनियों के तर्क यह प्रस्तुत किया था कि छोटी दूरियों की तुलना में लम्बी दूरियों के लिए माल को लाना–ले–जाना सस्ता पड़ता है। उदाहरण के लिए बम्बई से दिल्ली तक आयातित माचिसों को लाने के लिए भाड़े की दर कम थी जबकि अहमदाबाद के माचिस उद्योग में बनने वाली माचिसों को दिल्ली तक लाने के लिए अधिक किराया देना पड़ता था जबकि बम्बई की तुलना में अहमदाबाद दिल्ली से 300 मील नजदीक है। इसी प्रकार आयातित चीनी को बम्बई से कानपुर तक की 840 मील की दूरी तक साढ़े तेरह आना प्रति मन किराए की दर से ले जाया जाता था जबकि भारतीय चीनी को कानपुर के अकोला तक 640 मील की दूरी तक के लिए सवा अठारह आना प्रति मन की दर से किराया देना पड़ता था। स्वभाविक ही इन दरों का भारतीय उद्योगों के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

UNIT - III

अध्याय - 1 (a)

भारत सम्राज्यवादी विश्व-व्यवस्था में

विदेशी व्यापार

भारत में व्यापार बहुत पुराने समय से ही एक प्रमुख आर्थिक गतिविधि रहा है। आन्तरिक व्यापार के साथ–साथ भारत के दुनिया के दूसरे देशों के समय व्यापारिक सम्बन्ध भी काफी पुराने समय से चलते आए हैं। पुराने जमाने में भारत का व्यापार मुख्यतया सुदूर पूर्व और मध्यपूर्व के दशों तक ही सीमित था और ज्यादातर कीमती विलासिता की वस्तुओं का होता था, किन्तु १५वीं और १६वीं शताब्दी की भौगोलिक खोंजों और उसके बाद समुद्री परिवहन में होने वाले सुधारों के कारण भारत के व्यापारिक दृष्टि से पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ निकट के सम्बन्ध स्थापित हो गये। यूरोपीय लोगों में भारत के साथ सबसे पहले पुर्तगालियों का सम्बन्ध आया। पुर्तगाली नाविकों के कूप ऑफ गुडहोप के रास्ते जब सबसे पहले भारत की समुद्र मार्ग से खोज की तो भारत के व्यापार की दिशा ही बदल गई। अब पुर्तगाल, हालैंड, डेनमार्क, फ्रांस और इंग्लैंड द्वारा इस समुद्री मार्ग से काफी बडी मात्रा में जहाजों से माल को लाना और ले जाना सम्भव था। अत। इस खोज के बाद से भारत के साथ व्यापार करने का जो अब तकम अरबों का एकाधिकार चला आ रहा था वह समाप्त हो गया और इन देशों के साथ व्यापार होने लगा। इन सभी देशों में भारत तथा पूर्व के अन्य देशों के साथ व्यापार करने के लिए व्यापारियों के संघ बनने लगे। भारतीय शासकों ने भी इन यूरोपीय व्यापारियों को अनेक तरह की रिआयतें देकर इस व्यापार को बढ़ाने में मदद की। चूँकि भारत के साथ व्यापार करना बहुत लाभप्रद था अतः यूरोप के इन विभिन्न देशों के व्यापारियों के बीच भारत के साथ व्यापार करने और यहाँ के शासकों से अधिकाधिक रियायतें प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी। यह व्यापरिक प्रतिस्पर्धा ही कुछ समय बाद १८वीं और १९वीं शताब्दी में राजनैतिक सत्ता की प्रतिस्पर्धा में बदल गई। प्रतिस्पर्धा की इस घनघोर लड़ाई में अन्तोगत्वा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की विजयी हुई और उसने भारत पर व्यापारिक एकाधिकार के साथ–साथ राजनैतिक अधिकार भी जमा लिया।

जब से भारत के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी ने व्यापार करना शुरू किया तब से लेकर अंग्रेजी शासन की समाप्ति तक भारत के विदेशी व्यापार में काफी कुछ उत्तार–चढ़ाव आए और इसकी संरचना और दिशा दोनों में ही व्यापक परिवर्तन हुए। यहाँ हम इस समूचे कालखंड के दौरान भारत के विदेशी व्यापार के इन विभिन्न आयामों का अध्ययन करेंगे तथा साथ ही यह भी समझने का प्रयत्न करेंगें कि इन सब परिवर्तनों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव डालें।

१७वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इंग्लैंड में भारत के सूती वस्त्रों की मांग बडी तेजी से बढ़ने लगी थी। भारतीय वस्त्र अंग्रेजों के लिए फैशन की वस्तु बनते जा रहे थे। अब तक अंग्रेज लोग शताब्दियों से मोटे ऊनी कपड़े पहनते चले आ रहे थे किन्तु अब वे हल्के सूती कपड़ों को अधिक पसन्द करने लगे थे। वहाँ की महिलाओं में भी भारत की छींट और मलमल के कपड़े पहनने की पसन्द बढ़ ची थी। धीरे–धीरे भारत के कपड़े का प्रयोग करने की होड़ सी लग गई थी। उनके पहनने के वस्त्रों के अलावा उनके बिसतर, बिछाने व ओढ़ने चादरें, पर्दे व कुर्सी व सोफे के कवर आदि वब कुछ भारत के कपड़ों से ही बनने लगे थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस अवसर का फायदा उठाने के लिए भारत से काफी बड़ी मात्रा में सूती कपड़े का आयात करना प्रारम्भ कर दिया। मूलतष तो सनृ १६०० में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना डच व्यापारियों के साथ मिर्च के व्यापार में प्रतियोबकता करने के लिए हुई थी और काफी वर्षों तक यह कम्पनी इंग्लैंड में मुश्च रूप से मिर्च एवं अन्य मसालों का आयात करती थी। १६७० के आसपास इंग्लैंड में भारत के सूती कपड़ों की मांग तेजी से बढ़ने लगी और इसी के अनुसार कम्पनी ने भी अपने आयातों की संरचना में परिवर्तन कर दिये। भारतयी सूती कपड़ों की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखते हुए १६८४ में इंग्लैंड में इन कपड़ों पर लगने वाले आयात करों को समापत कर दिया इसकि परिणामस्वरूप इनकी मांग में और अधिक वृद्धि हुई। आगे चलकर १६८८ में जब फ्रांस से आयात बन्द हो गए तो कम्पनी द्वारा भारत से किए जाने वाले आयातों में भारत का सादा सूती कपड़ा सबसे बडी मद हो गइ। इससे पहले तक कम्पनी के आयातों में मुख्यतः शोरा, नील, मिर्च व अन्य वस्तुएँ थीं, किन्तु १६८८ के बाद के विभिन्न प्रकार के कपड़ाकं का ही कम्पनी के आयातों की सूची में लगभग एकाधिकार–सा हो गया।

इस प्रकार १७वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जब इंग्लैंड के साथ भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन आ गया तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के अपने स्वयें के देश इंग्लैंड में ही उसक विरोध होने लगा। उसका विरोध मूख्यतः दो ओर सये हुआ।

एक तो वाणिक वादियों की ओर से ओर दूसरा इंग्लैंड के ऊनी व सिल्क कपड़ों के उत्पादकों की ओर से वणिकवादी तो इसलिए विरोध कर रहे थे कि इस व्यापार के कारण कपड़ों के आयात के भुगतान के बदले इंग्लैंड को काफी बड़ी मात्रा में सोना और चाँदी देना पड़ता था और इस प्रकार इंग्लैंड के खजाने खाली हो रहे थे। दूसरी ओर, इंग्लैंड के वस्त्र निर्माताओं का कहना था कि कम्पनी द्वारा भारत से सूती कपड़े के आयात के कारण इंग्लैंड के ऊनी व सिल्क उद्योग नष्ट होते चले जा रहे थे और इसके परिणामस्वरूप देश में बेराजगारी बढ़ती जा रहीं थी। इसलिए सब ओर से सरकार पर यह दबाव पड़ने लगा कि वह ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारत से व्यापार करने के लिए रोंके। उनका कहना था कि यदि यह न किया गया तों इंग्लैंड की अर्थव्यस्था शीघ्र ही नष्ट हो जाएगी।

चारों ओर से बढ़ते हुए दबावों के कारण १८वीं शताब्दी के शुरू के वर्षो में ही इंग्लैंड में भारतीय कपड़ों के आयात व प्रयोग पर कई तरह के प्रतिबन्ध लगाान के लिए कानून बनाये गये। १७०० में सिल्क के बने कपड़ों और भारत में रंगे, छपे चित्रित किए हुए सूती वस्त्रों के इंग्लैंड में प्रयोग करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। किन्तु जब इस अधिनियम का भी विशेष प्रभाव नहीं हुआ तो १७०२ में सादा सूती कपड़ों की ओर स्थानान्तरित हो गई। इन सब प्रतिबन्धों के बावजूद भारत में इंग्लैंड को सादा सफेद सूती कपड़ों का निर्यात कम नहीं हुआ। नीचे की तालिका में दिए बए आंकड़ों से यह साबित हो जाती है।

भारत से इंग्लैंड को सफेद सूती सादा कपड़ों का निर्यात

वर्ष	कपड़ों के टुकड़े
1698	247,214
1701	951.109
1718	1,220,324
1719	2,088,451

उपर्युक्त तालिका से स्प्ष्ट है कि १६६८ के मुकाबले १७१६ में इंग्लैंड में भारत के सफेद सूती सादा कपड़ों के टुकड़ों काआयात कई गुना हो गया। इंग्लैण्ड में भारत में रंगे व छपे कपड़ों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगने के कारण वे भारत से सफेद कपड़ा मंगाते थे और उसकी रंगाई व छपाई अपने यहाँ करने के बाद उसका प्रयोग करते थे। परिणामंस्वरूप अब इंग्लैण्ड में रंगाई छपाई उद्योगों का तेजी से विकास होने लगाा था। इस प्रकार इंग्लैण्ड की संरक्षणात्मक नीति का यदि किसी को फायदा हुआ तो वह इसी प्रकार के उद्योगों को हुआ। किन्तु इस नीति का इंग्लैण्ड में ऊनी वस्त्र निर्माताओं को तो कोई फायदा नहीं हुआ। इस समय तक इंग्लैण्ड में सूती कपड़ा उद्योग विकसित नहीं हो पाया था। अतः अब वे अपने देश के लोगों की माँग व फैशन में परिवर्तन को देखते हुए सूती वसत्र उद्योग के विकास की ओर भी ध्यान देने लगे थे।

१७१६ में भारतीय कपड़ों के खिलाफ फिर से आन्दोलन शुरू हुआ और ब्रिटिश सरकान ने १७२० मे एक नया कानून बनाया। इसके अनुसार भारत में बने रेशमी कपड़ों और भारतीय सूती कपड़ों की इंग्लैंण्ड में रंगाई व छपाई करके प्रयोग करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया और उसका उल्लंघन करने वालों पर जुर्माना का प्रावधान किया। इस अधिनियम के तुरन्त बाद के वर्षो में तो जरूर एक बार भारत से इंगलैण्ड को कपड़ों के निर्यात को नीचे की तालिका में बताया गया है।

निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हे कि १७२२ में तो सफेद सूती कपड़ा ओर रेशमी वस्त्र दोनों का इंग्लैण्ड को होने वाला निर्यात कम हो गया था। किन्तु इसके बाद के वर्षो में यह फिर बढ़ना शुरू हो गया। कानूनी प्रतिबन्धों के बावजूद इंग्लैण्ड में भारतीय वस्त्रों की मांग और उनके आयात में कमी न हो पाने से वहाँ के शासक ओर निर्माता दोनों काफी परेशान थे। भारतीय कपड़ों के प्रयोग के खिलाफ इंग्लैण्ड में इस्हिार बाजी तक शुरू की गई किनतु इंग्लैण्ड के आम लोगों का भारतीय वस्त्रों के प्रति मोह कम नहीं हो पा रहा था। अपने इस देश को इंग्लैण्ड के एक लेखक ने १७२८ में इस प्रकार से प्रकट किया था। हमारी दो चीजें ऐसी हैं जिस पर हम काबू नहीं कर पा रहे हैं। वे हैं हमारी लालना और हमारा फैशन।

भारत से इंग्लैण्ड को कपड़े का निर्यात

वर्ष	सफेद सादा सूती कपड़ों के टुकड़े	बंगाल की रेशम के टुकड़े
1721	–	55,491
1722	718,678	18,493
1723	1,11,5,011	58,729
1724	1,291,614	–
1727	–	79,602

भारतीय वस्त्रों के खिलाफ संरक्षणात्मक नीति अपनाने वाला देश केवल इंगलैण्ड ही नहीं था, अपितु हालैण्ड के अलावा लगभग सभी देशों ने किसी ने किसी रूप में भारतीय माल के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया था लूइस पनद्रहवें ने १७२६ में एक कानून के द्वारा फ्रांस में भी भारतीय सूती वस्त्रों के प्रयोग व बिक्री पर काफी कठोर जुर्माना लगाया था।

१७०७ में औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत में राजनैतिक अस्थिरता निर्माण हो गई और इसका प्रभाव व्यापार पर भी पड़ा। भारत के केन्द्रीय शासन कमजोर पड़ जाने से उत्पन्न राजनीतिक एवं प्रशासनिक अव्यवस्था का अंग्रेज व्यापारियों ने भरपूर लाभ उठाया। उन्होंने व्यापार सम्बन्धी रियायतों का दुरूपयोग किया और धीरे–धीरे भारत के आंतरिक व्यापार में भी दखल देना शुरू कर दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तत्कालीन मुगल बादशाह फारूख सिय से एक शाही फरमान (आदेश) जारी करवाया। इस फरमान के अनुसार इन्हें बिना कर दिए भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल लाने, ले जाने और व्यापार करने की छूट मिल गई। अंग्रजी अफसरों एवं कर्मचारियों ने इस फरमान का नाजायज फायदा उठाना शुरू करी दिया। उन्होंने चोरी–छिपे अवैध रूप से अपने व्यक्तिगत व्यापार प्रारम्भ कर दिए और उन माल पर भी वे उस फरमान के तहत छूट लेने लगे। दूसरी ओर, भारतीय व्यापारियों को अपने ही देश में व्यापार करने पर कर देना पड़ता था; इससे वे व्यापार में पिछड़ जाते थे। ऐसी स्थिति में भारतीय व्यापारियों ने इस छूट का फायदा उठाने के लिए अंग्रेज कर्मचारियों से जाली प्रमाण पत्र (जिन्हें दस्तक कहाजाता था) लेने शुरू कर दिए। इन प्रमाण पत्रों के जरिए वह अंग्रेज कर्मचारी कम्पनी के माल को अपना माल घोषित कर देता था और इस प्रकार यह माल कर से बचा जाता था। इन जाली दस्तकों के बदले ये अंग्रेज कर्मचारी भारतीय व्यापारियों से अच्छी खासी रकम वसूल करते थे। इसके अलावा अंग्रेज कर्मचारियों ने कुछ वस्तुओं के व्यापार पर तो अपना एकाधिकार ही जमा लिया था। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने उन्हें मिली सुविधाओं व रियायतों का फायदा उठाकर धीरे–धीरे भारत के व्यापारियों को कमजोर बना दिया और यहाँ के व्यापार को अपने पक्ष में मोड़ने में सफल हो गए। किन्तु इस सबके बावजूद १७५७ तक विदेशी व्यापार के आर्थिक परिणाम मोटे तौर पर भारत के अनुकूल ही थे। इसका कारण यह था कि उन दिनों भारत से मुख्या रूप से सूती व रेशमी कपड़ा, कच्चा रेशम, शोरा आदि का निर्माण होता था। इस तरह के निर्यातों से भारतीय उत्पादकों को बहुत लाभ होता था। इन निर्यातों के बदले मुख्य रूप से तो भरत में सोना और चांदी आता थ। इसके अलावा ऊनी कपड़े, लोहा, तांबा, टिन, सीसा और पारे का आयात भी होता था। भारतीय माल की मांग विदेशों में इतनी जबर्दस्त थी कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारत से इन चीजों का निर्यात करने में ही मुनाफा दिखाई देता था और इन मुनाफे को कमाने के लिए वे भारतीय माल के लिए नइ–नई मंडियों की खेज करती रहती थी। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार भले ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों में चला गया था किनतु जब तक इसके पास राजनीतिक सत्ता नहीं आई तब तक यह भारत के आर्थिक संतुलन के लिए कोई खतरा उपस्थित नहीं कर सकती थी। किन्तु उस समय भले ही प्रत्यक्ष रूप से कोई खतरा न दिखाई दे रहा हो पर भारत के विदेशी व्यापार के ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों में केन्द्रित हो जान अपने गर्भ में निश्चित ही भावी खतरे के बीज छुपाए हुए था ओर यह बात भावी घटनाओं ने सिद्ध भी कर दी।

प्लासी के युद्ध के बाद विदेशी व्यापार

१७५७ में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय के साथ ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ गई और उसके बाद धीरे–धीरे करके समूचे भारत पर अंग्रेजों ने अपनी राजनलीतिक सत्ता कायम कर ली। १७५७ से १८५७ तक तो भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का ही शासन रहा, उसके बाद १८५८ में यह शासन ब्रिटिश सम्राट को हस्तांतरित कर दिया गया। अंग्रेजों ने अपनी इस

राजनीतिक सत्ता का व्यावसायिक लाभ के लिए पूरा–पूरा उपयोग किया। अब अंग्रेज शासक भी थे और व्यापारी भी। अब समूची नीति ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक हितों और उससे भी ज्यादा इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों का ध्यान में रखकर बनायी जाने लगी। राजनैतिक सत्ता के कारण इस नीति को लागू करना अब कम्पनी के लिए आसान हो गया था। भारत की इच्छा–अनिच्छा का तो प्रश्न ही नहीं रह गया था। भारतीय किसान और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादक थे अब कम्पनी की प्रजा थे, अतः वे कम्पनी की इच्छा के अनुसार कार्य करने को बाध्य थे। अब कम्पनी की प्रजा थे, अतः वे कम्पनी भारत से वसूल किए जाने वाले नजरानों, भूराजस्व व अन्य करों के एक भाग से निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ खरीद लेती थी, अतः अब उसे निर्यात की बस्तुएँ भारत से खरीदने के लिए इंग्लैण्ड से धन मंगाने की जरूरत नहीं रह गई थी। कम्पनी ने कुछ खास निर्यात योग्य वस्तुओं के व्यापार पर अपना एकाधिकार करना भी प्रारम्भ कर दिया था। उदाहरण के लिए १७५८ ई. के बाद बिहार में निकाला जाने वाला सारा शोरा यूरोप को निर्यात करने के लिए केवल ईस्ट इंडिया कम्पनी ही खरीद सकती थी। इसी तरह कच्चे रेशम ओर सूती कपड़े पर भी कम्पनी ने अपना नियंत्रण सीपित कर लिया। कम्पनी ने उत्पादाकों से माल भी कम–से–कम कीमत पर खरीदना शुरू कर दिया और इसे कलए उन पर तरह–तरह से दबाव डाले जाने लगे। इस प्रकार कम्पनी भारतीय उत्पादकों की लागत पर अपने व्यापार का मुनाफा बढ़ाने लगी। चूँकि उन दिनों कम्पनी भारत के मुख्य रूप से सूती कपड़ों का निर्यात करती थी। अतः उसने सूती कपड़ की लगाातार सप्लाई प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के हथकन्डे अपना जिसके परिणमस्वरूप अन्तोगत्वा भारत का कपड़ा उद्योग ही नष्ट हो गया। कम्पनी अपनाये कर्मचारी, एजेन्ट और गुमाश्तों के माध्यम से केवल कम्पनी इस कपड़े की कीमत खुद ही निर्धारित करती थी और यह कीमत स्वतंत्र बाजार की कीमत से १५ प्रतिशत से लेकर ४० प्रतिशत तक कम होती थी। इस प्रकारबुनकरों को अपनी मेहनत के बदले इतीन थोड़ी राशि मिलती थी कि वे अपने परिवार का गुजारा भी ठीक से नहीं चला पाते थे। यदि कोई बुनकर इन शर्तों के मुताबिक कम्पनी को कपड़ा सप्लाई करने से इन्कार करता अथवा उन्हें किन्हीं कठिनाइयों के कारण वह समय पर माल तेयार न कर पाता तो उसे अमानवीय यातना दी जाती थी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि बुनकरों न धीरे–धीरे अपना धन्धा छोड़ना शुरू कर दिया।

इसी दौरान भारत के सूती कपड़े से मुकाबला करने के लिए इंग्लैण्ड ने अपने ही देश में सूती वस्त्र उद्योग के विकास पर भी ध्यान देना शुरू कर दिया था। इसे भी इतिहास का एक अद्‌भूत संयोग ही कहा जाएगा कि भारत में अंग्रेजों की विजय और इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति लगभग एक ही समय हुई और साथ–साथ चली। १७५७ में राबर्ट क्लाईव ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी। १७६० ई. में इंग्लैण्ड में जुलाहे का सूत्र यंत्र 'तुरी' (फ्लाइंग शटल) बनाई गई, १७६४ में हसा ग्रीब्ज ने चरखी बनाई, १७६८ में बॉट ने भाप का इंजन तैयार किया; १७७६ में काम्पटन ने कताई मशीन बनाई, १७८३ में अंग्रेजी मलमल के नमूने भारत को भेजे गए और १७८५ में कार्ट राईट ने बिजी से चलने वाला करघा बनाया। इन विभिन्न प्रकार के अविष्कारों के बावजूद शायद इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति न हो पाती यदि उसे पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध न हो पाता। किन्तु भारत पर अंग्रेजों का राज्य हो जाने के कारण काफी बड़ी मात्रा में धन सम्पदा भारत में इंग्लैण्ड को उपलब्ध हो गई। इस बका संयुक्त परिणाम यह हुआकि १८वी शताब्दी के अन्त तक इंग्लैण्ड का कपड़ा उद्योग भारतीय कपड़े से मुकाबलाकर सकने की स्थिति में आ गया था। यदि कोई थोड़ी–बहुत कमी थी तो उसे अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता ने सहारा देकर पूरा कर दिया। इंग्लैण्ड में तो ब्रिटिश सरकार ने भारतीय कपड़ों के प्रयोग पर तरह–तरह के प्रतिबन्ध लगा ही दिए थे और इधर भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीतियों के कारण भारत का कपड़ा उद्योग नष्ट हो चला था। इसके अलावा अब कम्पनी ने ब्रिटेन के कपड़ा निर्माताओं के हितों को ध्यान में रखतें हुए अपनी वाणिज्य नीति में भी परिवर्तन कर लिया था, अब उसका झुकाव इंग्लैण्ड में बने कपड़ों को भारत में खपाने का हो चला था। अब उसकी कोशिश यह होड़ लगी थी कि भारत ज्यादा से जयादा कच्चे माल का निर्यात करे और उसकेग बदले भारत को इंगलैण्ड का तैयान माल भेजा जाए। इसके लिए कम्पनी शासन ने कच्चे माल को उत्पादन करने वाले किसानों को कुछ सुविधाएं और प्रात्साहन देना था शुरू किया था। इन सब प्रयत्नों के बावजूद कुछ सालों तक भारत इंग्लैण्ड को अच्छी खासी मात्रा में निर्यात करता रहा। उदाहरण के लिए १७६० ई. मे भारत से इंग्लैण्ड को सफेद सादा सूती कपड़े के ६,८८,७०६ टुकड़ों, का पुरानी रेशम के ५१,१०८ टुकड़ों का, दाग वाले सादा सफेद सूती कपड़े के २,१२,६१० टुकड़ों का निर्यात किया गया। उसी साल भारत से ३१,३३,८८४ पौण्ड मिर्च का, ७५,५४३ पौण्ड ऊन का और ३७७८० क्वार्डस शोरे का निर्यात किया गया। किन्तु जैसे–जैसे भारत पर अंग्रेजी शासन का पकड़ मजबूत होती गई वैसे–वैसे भारत को तैयार माल पर लगाए गए आयात शुल्कों तथा इंग्लैण्ड के उद्योगों में भाप की शक्ति और मशीनों के प्रयोग के कारण उत्पादन लागत में कमी समर्थ नहीं है तो उन्होंने भारतीय माल पर ७० से ८० प्रतिशत तक भी निषेधात्मक शुल्क लगाए। अगर ये शुल्क नहीं लगाये होते तो शायद पैंसले और मैनचेस्टर के कारखाने अपनी शैशवास्था में ही मर गए होते।

ब्रिटिश की वाणिज्य नीति का मुख्य लक्ष्य ब्रिटिश उद्योग के हित में भारत में विशाल बाजार का उपयोग करते हुए व्यापार की मात्रा को ज्यादा से जयादा बढ़ाना था। इस दृष्टि से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कामों की जांच की गई कि वह इस उद्देश्य में कहां तक सफल हो सकी है। इस जांच के दौरान यह पाया गया कि १७६३ से १८१३ के बीच के २० वर्षों की अवधि के दौरान भारत और इंग्लैण्ड के बीच औसतन २ मिलियन पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से व्यापार रहा। भारत की विशालता और सम्पन्नता को देखते हुए कम्पनी की इस उपलब्धि को कम माना गया। अतः इंग्लैण्ड के उद्योगपतियां एवं व्यापरियों की और से ब्रिटिश सरकार पर यह दबाव पड़ा कि वह भारत के साथ व्यापार करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकर को समाप्त कर दे। इसके फलस्वरूप १८१३ में कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया और सभी निजि उधमियों को भारत के साथ व्यापार करने की छूट दे दी गई। इसके परिणामस्वरूप भारत के ब्रिटिश निर्यातों में काफी तेजी से वृद्धि हुई। १८१४ में भारत में १.८ मिलियन पौण्ड की ब्रिटिश वस्तुओं को आयात किया था। यह बढ़कर १८२६ में ४.५ मिलियन पौण्ड हो गया। यदि इस दौरान कीमतों में हुए परिवर्तनों का हिसाब लगाया जाय तो वस्तुओं के रूप में भारत को ब्रिटिश निर्यात इन १८ वर्षों में लगभग चार गुना हो गया था। दूसरी ओर भारत से होने वाले कपड़े का निर्यात लगातार घटता गया। नीचे की तालिका में इंग्लैण्ड ने भारत में अपने तैयार माल के बाजार को विस्तार करने की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण कदम उठाया था भारत पर स्वतंत्र व्यापार की नीति को थोपना। भारत को तो बिना किसी आयात शुल्क के अथव बहुत ही मामूल आयात शूल्कों पर ब्रिटिश वस्तुओं के आयाता को स्वीकार करने पर मजबूर किय गया जबकि इंगलैण्ड में भारतीय माल पर भारी आयात शुल्क जारी रहे। अंग्रेजों की इस दोहरी नीति के तुरन्त ही परिणाम सामने आने लगे। भारत का कुल विदेशी वयापार काफील तेजी से बढ़ने लगा। १८४६ से १८५१ की अवधि के दौरान समुद्री रास्ते मे भारत के विदेशी व्यापार का वार्षिक मूल्य १८.६४ करोड़ रूपये से बढ़कर ३५.८७ करोड़ रूपये हो गया। अगले ५ वर्षों मं इसमें और भी तेजी से वृद्धि हुई। सामान्यतया तो व्यापार की वृद्धि किसी भी देश के लिए भालदायक होनी चाहिए किन्तु भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन हो जाने के कारण भारत के लिए वृद्धि नुकसानदायक ही साबित हुई। १८वीं शताब्दी में जो भारत सूती कपड़ों का प्रमुख उत्पादक और निर्यातक देश था वह ७० सालों की इस थोड़ी–सी अवधि में विदेशी माल का सबसे बड़ा मद होती थी वहाँ अब यह उसके आयात की सबसे बड़ी मद बन गई। नीचे की तालिका में १८१४ से १८३५ के बीच ब्रिटिश से आयात किए जाने वाले सूती कपड़े की मात्रा को दर्शाया गया है।

सूती कपड़े का आयात व निर्यात

वर्ष	भारत में ब्रिटेन के सूती वस्त्रों का आयात (गजों में)	ब्रिटेन को भारतीय सूती कपड़ों का निर्यात (गजों में)
1814	818,208	1266,608
1521	19138,726	534,495
1828	42822,077	422,504
1835	51777,277	306,068

१८१४ से १८३५ के दौरान ब्रिटेन को भारतीय सूती कपड़े का निर्यात लगभग १.३ मिलियन गज से घटकर ०.३ मिलियन गज तक रह गया। इसी दौरान दूसरे देशों को भारत के निर्यात में भी कमी आई उदाहरण के लिए अमेरिका को निर्यात सूती कपड़ों के टुकड़े का तो १३६३३ गांठों से घटकर १८२६ में ५२८ गांठे रह गया। भारत ने अपनी वस्तुओं के लिए विदेशी बाजार ही नहीं खोया बल्कि अब उसके घरेलू बाजार में भी विदेशी वस्तुओं के लिए विदेशी बाजार ही नहीं खोया बल्कि अब उसके घरेलू बाजारमें भी विदेशी वस्तुओं का आयात काफी बढ़ गया। उदाहरण के लिए १८१३ में भारत में ०.११ मिलियन पौण्ड सूती कपड़ा आया था जो बढ़कर १८५६ मं ६.३० मिलियन पौण्ड तक पहुँच गया। सूती कपड़े के आलावा भारत में रेशमी व ऊनी कपड़े, मशीनरी धातु की वस्तुएं व दूसरी कुछ वस्तुओं का आयात भी बढ़ने लगा। विदेशी वस्तुओं के साथ इस बढ़ती हुई प्रतियोगिता ने भारतीय उद्योग को नष्ट कर दिया तथा भारतीय दस्तकारों को बेरोजगार कर रोजी–रोटी से वंचित कर दिया। ओर अब भारत से कच्ची कपास, कच्ची रेशम, खाद्यान्न, अफीम, नील और जूट जेसी वस्तुओं का अधिक निर्यात होने लगा था। इसने भारत से उसके कृषि आधिक्य को छीन लिया, कच्चे माल की कीमतों को बढ़ा दिया और देश को अकालों और अभावों में जीने को मजबूर कर दिया। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार भारत के ही शोषण का एक उपकरण बन गया। नीचे की तालिका में बंगाल से हुए निर्यात एवं आयात के आंकड़ों को दर्शाया गया है। इससे विदेशी व्यापार के माध्यम से शोषण इस प्रक्रिया को और अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

बंगाल से हाने वाल विदेशी व्यापार

(मिलियन रू. में)

वर्ष	वस्तु निर्यात	वस्तु आयात
1814-15	68.3	11.3
1821-22	109.4	59.2
1828-29	111.29	53.63
1939-40	170.6	56.5
1845-46	170.0	91.0
1850-51	181.0	115.0
1854-55	183.0	124.0.

उपर्युक्त तालिका से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि १८१४–१५ से १८५४–५५ के ४० वर्षों की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार में खूब वृद्धि हुई। किन्तु यह भारत की समृद्धि एवं प्रगति का कारण नहीं बन सका जेस कि हम पहले भी बता चुके हैं कि इसका कारण भारत के विदेशी व्यापार की सरंचना में आया परिवर्तन था। इन चालीस सालों में भारत का निर्यात लगभग तिगुना हो गया था किन्तु अब निर्यात की मात्रा में मुख्य स्थान सूती कपड़े एवं अन्य तैयार लगभग तिगुना हो गया था किन्तु अब निर्यात की मात्रा में मुख्य स्थान सूती कपड़े एवं अन्य तैयार माल को न होकर खाद्यान्न व कच्चे माल का हो गया था। दूसरी ओर इसी अवधि के दौरानआयात लगभग ग्यारह गुना हो गया था। इसके अलावा, आयातों में अब लगाता ब्रिटिश उद्योग में बन माल की मात्रा बढ़ती जा रही थी।

विदेशी व्यापार को सरंचना में परिवर्तन हो के साथ–साथ इस अवधि में विदेशी व्यापार के दिशा में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। १८२८ में भारत के कुल निर्यातों का लगभग आधा (४८ प्रतिशत) ब्रिटेन को होता था। इसके अलावा, चीन को २५ प्रतिशत, गल्फ देशों को १७ प्रतिशत, फ्रांस को ८ प्रतिशत निर्यात होता था। १८४० में ब्रिटेन का हिस्सा बढ़कर ६० प्रतिशत ही गया ओर चीन का हिस्सा घटकर लगभग १० प्रतिशत रह गया। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार अधिकाधिक ब्रिटेन पर निर्भर हो गया इसके आर्थिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के दुष्परिणाम भारत को भुगतने पड़े।

१८३३ में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया था। १८१३ में जब व्यापार पर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कर ब्रिटेन के अन्य उद्योगपतियों को भी भारत के साथ सीधा व्यापार करने की अनुमति दे दी गई तो कम्पनी व अन्य ब्रिटिश व्यापारियों के बीच भी प्रतियोगिता होने लगी। कम्पनी अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए अपनी राजनैतिक सत्ता का भी दुरूपयोग करती थी, अतः ब्रिटेन में इस मांग ने जोर पकड़ा कि कम्पनी के व्यापारिक अधिकार छीन लिए जाएँ। इसके परिणामस्वरूप १८३३ में कम्पनी के व्यापारिक अधिकार छीन लिए गए और अब वह ारत में सिर्फ राजनैतिक संस्था ही बनकर रह गई। किन्तु इसके बाद भी कम्पनी ने दो महत्त्वपूर्ण चीजों पर अपना एकाधिकार बनाये रखा। वह इन्हें व्यापार की वस्तुएँ नहीं बल्कि आमदनी के स्रोत मानती थीं। ये चीजें थीं अफीम और नमक।

शाही शासन के प्रारम्भ से प्रथम विश्व युद्ध तक (1858 से 1914 तक)

१८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोजन से अंग्रेज घबरा गए थे और जब उन्हें यह लगा कि कम्पनी भारत का शासन सम्भाल पाने में सक्षम नहीं है। अतः १८५८ में भारत का शासन कम्पनी के हाथों से निकलकर इंग्लैड के सम्राट के हाथों में आ गया। किनतु इस राजनैतिक परिवर्तन में भारत के आर्थिक शोषण में कोई कमी नहीं आई। फिर भी १८५८ का वर्ष भारत के इतिहास का एक महत्त्पूर्ण वर्ष है। अतः अब हम १८५८ से लेकर १९१४ (जब प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ) तक की अवधि के दौरान भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति प्रवृति का अध्ययन करेंगें। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि में इसी समूची अवधि को भी तीन उपअवधियों में बांटकर अध्ययन किया जा सकता है १८५८ से १८९३; १८९४ से १९०० और १९०० से १९१४ तक।

यद्यपि १८३५ से १८५७ के बीच में भी भारत के विदेशी व्यापार में अच्छी खासी वृद्धि हुई थी किन्तु १८३५ से १८९३ के बीच यह वृद्धि और भी अधिक हुई। इस अवधि के दौरान विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित कारण जिम्मेवार थे –

१. परिवहन के साधनों में सुधार – (क) रेलवे लाइनों का निर्माण तक सड़कों का विस्तार, (ख) १८६९ में स्वेज नहर के खुल जाने के कारण यूरोप का चार–पांच हजार मील नजदीक हो जाना, (ग) जहाजों की संख्या में वृद्धि होने और स्वेज नहर के कारण दूरी कम हो हाने के परिणामस्वरूप

१. जहाज के भाड़े में कमी हो जाना।

२. स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनाना,

३. विदेशी पूँजी के आयात में वृद्धि और

४. ब्रिटिश के हाथों में शासन आने के बाद से देश में शान्ति व सुरक्षा की स्थिति में सुधार आना आदि। १८५६ में अन्त में आयात और निर्यात क्रमशः ४.५ करोड़ रू. और ३०.५ करोड़ रूपये थे जो बढ़कर १८६३ के अन्त में क्रमशः ८३.३७ करोड़ रूपये और ११३.५ करोड़ रूपये हो गए। इस प्रकार इस अवधि में कुल विदेशी व्यापार ६५ करोड़ रूपये बढ़कर १९६.७७ करोड़ रूपये हो गया था। इसे नीचे की तालिका में बता गया है।

भारत का विदेशी व्यापार

(करोडों रूपये)

वर्षान्त	पण्य का आयात	कोष का आयात	कुल आयात व्यापार	कुल निर्यात	कुल विदेशी
1829	21.7	12.8	34.5	30.5	65.0
1893	66.26	17.01	83.27	113.5	196.77

इस सारी अवधि के दौरान भारत के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान देने योग्य है। १८५६ से १८६२ के चार वर्षों को छोड़कर बाद के सभी वर्षों में भारत के आयातों से निर्यात बढ़ गए यह प्रवृति आगे चलकर समूचे ब्रिटिश शासन काल के दौरान बनी रही। किन्तु भारत के संदर्भ में सबसे दुखद बाद यह थी कि निर्यातों का बढ़ना देश के लिए प्रसन्नता का विषय न होकर दुख का ही विषय था। इस बारे में हम इसी अध्ययान में आगे विस्तार से चर्चा भी करेंगे। विदेशी व्यापार की संरचना आधिकाधिक उपनिवेशी शोषण को दिशा में ही आगे बढ़ती रही। अर्थात् हमारे निर्यातों में ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल और खाद्यान्नों की मात्रा बढ़ती गई और आयातों में ब्रिटिश उद्योगों में बने माल की। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के कृषि क्षेत्र में जब उत्पादन ब्रिटेश को किए जाने वाले निर्यातों को ध्यान में रखकर किया जाने लगा। अतः खाद्य फसलो की जगह व्यापारिक फसलों का उत्पादन बढ़ गया। खाद्यान्नों के मामले में भी देश की जरूरत की बजाय निर्यात की आवश्यकताओं का ध्यान पहले रखा जाता था। यही तो कारण था कि देश में अकाल से हजारों लोगों के भूखे मरने के बावजूद विदेशों को खाद्यन्नों का निर्यात कियाजाता रहा।

१८६४ से १९०० के बीच की अवधि भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास में जड़ता की अवधि थी। भारत के पण्य आयात १८६३–६४ में ७७ करोड़ रूपयें के थे जो १८६६–१९०० में ७५ करोड़ रूपये के रह गये और पण्य निर्यात १०७ करोड़ रूपये से बढ़कर १०६ करोड़ रूपये तक पहुँचे। १८६४ में फिर से आयात करों को लगा देने, विदेशों में सामान्य व्यापार मंदी, जापान और चीन के बीच युद्ध, १८६६–६७ का अकाल आदि अनेक कारणों से इस अवधि के दौरान विदेशी व्यापार की प्रगति रूक–सी गई। किन्तु कुल मिलाकर १८५७ से १९०० के बीच की अवधि में तो भारत के विदेशी व्यापार में वृद्धि हा हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत में कुछ आधुनिक उद्योगों की स्थापना होना भी शुरू हो गया था। इसका भी आगे चलकर हमारी विदेशी व्यापार की संरचना पर प्रभाव पड़ा।

१९०० से १९१४ के बीच की अवधि में कुल मिलाकर भारत के विदेशी व्यापार का अच्छा खासा विस्तार हुआ। इस विस्तार के लिए अनेक कारण जिम्मेवार थे जिनमें प्रमुख थे १९०० के बाद विश्वव्यापी सम्पन्नता में वृद्धि, देश में फसलो के उत्पादन में सुधार, रूपये एवं पौण्ड के बीच विदेशी विनियम दर की स्थिरता और भारत की सामान्य आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार का आना आदि।

इस अवधि के दौरान भारत के विदेशी व्यापार में उतार–चढ़ावों के बाद भी कुल मिलाकर प्रवृति बढ़ने की ही रही है। कुल विदेशी व्यापार की इस वृद्धि ने हमारे कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों को भी प्रभावित किया था। निर्यात व्यापार की वृद्धि के कारण ही देश में तिलहनों, कपास, जूट और चाय जैसी व्यापरिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई। व्यापारिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने

के प्रयासों के परिणामस्वरूप देश के खाद्यानों के उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ा और वह हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या की मांग को पूरा करने में पिछड़ गया। विदेशी उद्योगों में बने माल के आयातों में वृद्धि का हमारे देशों में आधुनिक उद्योगों के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। किन्तु इस सबके बीच १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन के कारण देश में आधुनिक उद्योगों के विकास व विस्तार को प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप १६१३ तक भारत के सूती कपड़ा, जूट, कोयला खान और कुछ मात्रा में इंजीनियरिंग उद्योग ने अपने पाँव जमा लिए। इसके दो मुख्य प्रभाव हुए। प्रथम हमारे आयातों में तैयार माल का अनुपात घटने लग गया और द्वितीय मिल में तैयर किया हुआ सूती धागा, सूती कपड़े के टुकड़े और जूट का समान हमारे आयातों की मद बनाना शुरू हो गए।

इस दौरान हमारे विदेशी व्यापार की दिशा में भी परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया अब गैर साम्राज्य के देशों के साथ हमारे व्यापार में शनैः शनैः वृद्धि होने देशों की प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ा। हमारे निर्यातों में इंग्लैउ का हिस्सा १८६६–७० में ५३ प्रतिशत से घटकर (१६०६–१६१३) में २६ प्रतिशत रह गयी। इसी प्रकार सन् १६०० में हमारें आयातों में इंग्लैण्ड का हिस्सा ६६ प्रतिशत था जो घटकर १६१४ में ६४ प्रतिशत रह गया।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि १६१४ तक भारत में इंग्लैण्ड से आयात इंग्लैण्ड को किए जाने वाले भारतीय निर्यातों से अधिक थे। विदेशी व्यापार की बहुपक्षीय प्रणाली द्वारा भारत अपने इस घाटे को पूरा कर लेता था। ब्रिटेन के अलावा दूसरे देशों को उसके निर्यात, उन देशों से किए जाने वाले आयातों से कम थे। अतः इन देशों से जो उसे आधिक्य प्राप्त होता था उससे वह ब्रिटेन के साथ होने वाले व्यापार के घाटे का पूरा कर लेता था। कुल मिलाकर तो उसके निर्यात आयातों से अधिक ही थे। ब्रिटेन से भारत को बहुत–सा माल मंगाना ही पड़ता था तथा उसे अन्य अनेक कामों के लिए भी भुगतान कराना पड़ता था। इन सब चीजों का भुगतान करने के लिए भारत को अन्य देशों को अधिक मात्रा में निर्यात करना पड़ता था। यह भारत की मजबूरी थी और यही उसके शोषण का कारण भी था।

कुल मिजकर १८६५ से १६१४ के बीच की अवधि के दौरान आसतन भारत के आयामों में निर्यातों की तुलना में अधिक तेज गति से वृद्धि हुई। इस अवधि के दौरान हमारे निर्यात चार गुना हो गए जबकि आयात लगभग पांच गुना।

हम जानते हैं कि १६१४ से लेकर १६४७ के बीच कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं जिन्होंने संसार की सभी अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित किया। ये थी १६१४–१६ का प्रथम विश्व युद्ध, १६२६–३२ की महामंदी और १६३६–४२ का द्वितीय विश्व युद्ध। अतः अब हम भारत के विदेशी व्यापार का इन तीन महत्त्व पूर्ण घटनाओं को ध्यान में रखकर ही अध्ययन करेंगे जिससे इन विभिन्न अवधियों के दौरान भारत के विदेशी व्यापार में आए परिवर्तनों को ठीक से समझा जा सके।

प्रथम विश्व युद्ध और भारत का विदेंशी व्यापार (१६१४-१६)

प्रथम विश्व युद्ध के दिनों में भारत के विदेशी व्यापार को बड़ा धक्का लगाा और युद्ध के पहले यह जिस स्थान पर जिस पहुँच गया था वह स्थान इसने खो दिया।

मौलिक रूप में तो १६१३–१४ की तुलना में १६१८–१६ में अर्थात् युद्ध अवधि के दौरान आयातों और निर्योतों दोनों के ही मूल्य में वृद्धि हुई थी। किन्तु जब हम इस अवधि के दौरान हुई कीमत वृद्धि का हिसाब लगाकर विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि हुई थी। किन्तु जब हम इस अवधि के दौरान हुई कीमत वृद्धि का हिसाब लगाकर विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि का विचार करते हैं तो पाते हैं कि १६१३–१४७ के मुकाबले १६१८–१६ में आयातों और निर्यातों दोनों की ही मात्रा घट गई। इस अवधि में निर्यातों की मात्रा में कोई २५ प्रतिशत की कमी आई जबकि आयातों की मात्रा में ५० प्रतिशत की। इस प्रकार निर्यातों की तुलना में आयातों में अधिक तेजी से कमी आई।

प्रथम विश्व युद्ध के शुरू के वर्षो में हमारे निर्यातों को धक्का लगा। युद्ध के कारण व्यापार के सामान्य मार्ग अवरूद्ध हो गए। जहाजों से समान भेजना अब पहले की तुलना में अधिक जोखिम का काम हो गया, इसके कारण जहाजों के किराये और बीमा की लागतें आदि भी बढ़ गई। इसके अलावा ब्रिटेन जोकि हमारे निर्यात–आयात व्यापार का सबसे प्रमुख देश था। अब युद्ध के कारण उसे इंग्लैण्ड में उन वस्तुओं के उत्पाद पर ध्यान देना पड़ा जिन्हें वह भारत से मंगाता था। किन्तु १६१६–१७ से फिर से भारत के निर्यातों में कुछ वृद्धि होना प्रारम्भ हुआ। जुट के बोरों तथा सैनिकों के लिए जूते बनाने के लिए खालों की मांग बढ़ी।

इसी प्रकार माल के आयातों में जो तेजी से कमी आई उसका मुश्य कारण यह था कि इंग्लैण्ड युद्ध में उलझा हुआ था और उसका सारा ध्यान युद्ध के लिए सामना बनाने पर ही केन्द्रित हो गया। दूसरी और जर्मनी अब शत्रु देश बकन गया था अतः उससे तो किसी भी प्रकार के आयात की संभावन ही नहीं रह गई थी।

कुल मिलाकर प्रथम विश्व के दौरान भारत के विदेशी व्यापार में कमी आई थी और इस कमी के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित कारण जिम्मेवार थे–

१. शत्रु देशों के साथ व्यापार के बन्द हो जाने, परिवहन की कठिनाइयों के कारण रूस जैसे मित्र देशों के साथ भी व्यापार में कठिनाई आने शत्रु देशों की नाकाबन्दी करने के लिए तटस्थ देशों को भी माल न भेजने की नीति अपनाने आदि कई कारणों से व्यापार का क्षेत्र संकुचित एवं सीमित हो गया।

२. विभिन्न देशों द्वारा युद्व के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन एवं आयात पर ही अधिक ध्यान देने के कारण भी व्यापार का क्षेत्र घट गया।

३. विभिन्न देशों द्वारा व्यापार के लिए जहाजरानी की सुविधाएँ उपलब्ध न हो पाने तथा इनकी लोगतों में वृद्धि हो जाना भी विदेशी व्यापार घटने का एक प्रमुख कारण रहा।

५. करेन्सी एवं विनियम की कठिनाइयाँ।

यद्यपि युद्ध की परिस्थितियाँ तो सभी देशों के लिए लगभग समान थीं किनतु इनका सब देशों पर एक–सा प्रभाव नहीं हुआ। कनाडा, अमेरिका, जापान और अर्जेटाइना जैसे देशों ने तो इस दौरान अच्छी–खासी प्रगति की, किनतु भारत युद्ध की इस स्थिति का लाभ नहीं उठा सका। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि भारत को आधुनिक उद्योगों में उत्पादन के लिए आवश्यक उपकरणों तथा तकनीकी विशेषज्ञों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था। युद्ध के प्राश्रम्भ के वर्षो में भारत के उद्योगों को अपने विकास के लिए अवश्यच ही प्रेत्साहन मिला क्योंकि अब बवदेशी अरायातों के साथ प्रतियोगिता घट गई थी और युद्ध सामग्री की पूर्ति के लिए लगातार मांग बढ़ती जा रही थी। इसके अलावा आयात करों में वृद्धि की गई थी जिसने भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। युद्ध के कारण सरकार को भी भारतीय उद्योगों के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा था। युद्ध–पूर्व के दिनों में हमारे निर्यातों में तैयार माल का अनुपात २३.६ प्रतिशत था जो अब बढ़कर ३२.१ प्रतिशत हो गया और आयातों में यह अनुपात ७६.६ प्रतिशत से घ्झटकर ७३.४ प्रतिशत रह गया। इस दृष्टि से युद्व का भारतीय अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रीाव कहा जा सकता है। किन्तु कनाडा और जापान जैसे देशों की तुलना में भारत की यह प्रगति बहुत ही नगण्य ठहरती है जो यह साबित करती है कि विदेशी शासन के कारण भारत आर्थिक प्रगति का एक बहुत अच्छा अवसर हाथ से गंवा बैठा।

इस युद्ध की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार की दिशा पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ें। इस अवधि के दौरान हमारे निर्यातों में इंग्लैण्ड और ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा क्रमशः १६१४ में २४ प्रतिशत और ४१ प्रतिशत से बढ़ञ्कर १६१६ में २८ और ५२ प्रतिशत हो गया। दूसरी ओर, महाद्वीपीय यूरोप का हिस्सा घट गया और जर्मनी का हिस्सा तो बिल्कुल ही समापत हो गया। जापान और अमेरिका के हिस्से में सुधार हुआ। १६१४ में इनका प्रत्येक का हिस्सा ६ प्रतिशत था जो बढ़कर १६१६ में क्रमशः १२ प्रतिशत और १३ प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार, हमारे आयातों में १६१४ में इंग्लैण्ड का हिस्सा ६४ प्रतिशत था जो घटकर १६१६ में ४६ प्रतिशत रह गया। महाद्वीपीय यूरोप का हिस्सा भी घट गया और जर्मनी का हिस्सा तो बिल्कुल समाप्त ही हो गया। दूसरी ओर अमेरिका और जापान के हिस्से में सुधार हुआ। १६१४ में इनका प्रत्येक का हिस्सा २.६ प्रतिशत था जो बढ़कर १६१६ में क्रमशः १० प्रतिशत और २० प्रतिशत हो गया।

१६१६ से १६२६ के दशक में विदेशी व्यापार

१६१६ में प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो गया और १६२६ में विश्व व्यापी महामंदी शुरू हुई। अतः अब हम इस बीच की अवधि में विदेशी व्यापार का अध्ययन करेंगें।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद के दशक में भारत कें विदेशी व्यापार में काफी उतार–चढ़ाव आये है। अतः यहां हम संक्षेप मे इन उतार–चढ़ावों के कारणों की चर्च करंगे। युद्ध के तुरन्त बाद के वर्ष १६१६–२० में आयातों की तुलना में निर्यातों में बहुत तेजी से वृद्धि मुश्यतः दो कारणों से हुई। प्रथम, हमारे कच्चे माल की विश्व मांग में वृद्धि और द्वितीय, युद्ध के समय के प्रतिबन्धों का हट जाना। किन्तु अगले दो वर्षो १६२०–२१ और १६२१–२२ में स्थिति बदल गई। इन वर्षो में हमारे आयात निर्यातों से ज्यादा हो गए और परिणाम स्वरूप अब व्यापार–शेष घाटें में चला गया। युद्ध के कारण दबी पडी माँग के फिर से उभर आने तथा परिवहन की सुविधाओं के सामान्य हो जोने के कारण आयातों में तो तेजी से वृद्धि हुइ। दूसरी ओर, जापान के संकट के कारण कच्चे कपास के निर्यात में कमी आ जाने, सैण्ट्रल यूरोप में प्रीाावी मांग के कम हो जाने, खाद्यान्नों के निर्यात पर रोक लगाने, यूरोप व अमरीकी बाजारों में भारतीय माल के भारती स्टॉक के जमा होने आदि कई कारणों से निर्यात में कमी आ गई।

१६२२–२३ से लेकर १६२५–२६ तक हमारे निर्यात आयातों से काफी अधिक तेजी से बढ़ते रहे और इसके परिणामस्वरूप एक अच्छी राशि का निर्यात आधिक्य उत्पन्न हो गया। इस वृद्धि में अनेक कारणों का योगदान रहा जेसे यूरोप में आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से सामान्य स्थित का बहाल हो जान, अंतर्राष्ट्रीय करेसियों का स्थिरीकरण, भारत सरकार की स्टोर क्रय नीति में परिवर्तन आदि। किन्तु १६२५–२६ के बाद से निर्यात का विस्तार रूक गया बल्कि कुछ कम भी हो गया। जब हम कुल मिलाकर इस दशक में भारत में निर्यातों की ओर देखते हैं तो पाते है। कि निर्यात लगभग स्थिर से ही रहे। १६१६–२० में निर्यातों का जो स्तर (३३६ करोड़ रूपये) का था १६२८–२६ में भी लगभग वही स्तर (३३६ करोड़ रूपये) रहा। इसके लिए कई कारण जिम्मेवार रहे जिनमें से कुछ प्रमुख थे : देश मेंनिर्यात योग्य वस्तुओं की ऊँची कीमतें जबकि विश्व बाजार में कृषि वस्तुओं की कीमतों में कमी, श्रमिक अशान्ति, रेलवे सुविधाओं की कमी, रूपये के बाहरी मूल्य में उतार–चढ़ाव, युद्ध की तबाही के कारण सैण्ट्रल यूरोपीय देशों के कुठ बाजारों का हाथ से निकल जान, मानसून की अनिश्चिता आदि।

महामंदी और विदेशी व्यापार (१६२६-३० से १६३८-३६ तक)

महामंदी और द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने से पहले तक की अवधि के बीच भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति को अगले पृ. की तालिका में बताया गया है–

१६२६–३० से १६३२–३३ की अवधि के दौरान विश्वव्यापी महामंदी का दौर रहा। इस महामंदी ने भारत के विदेशी व्यापार को भी बुरी तरह प्रभावित किया और परिणामस्वरूप देश का विदेशी व्यापार घट गया। विदेशी व्यापार का कुल मूल्य १६२६–३० के मुकाबले (५६६ करोड़ रूपये) से घटकर २६३२–३३ में लगभग आधा (२७१ करोड़ रूपये) रह गयां इस अवधि में हमारें निर्यातों और आयातों दोनों में ही कमी आई। निर्यातों में कमी के मुख्य कारण थे–

कृषि वस्तुओं की कीमतों में तेजी से कमी और भारत के रेशों की विदेशी मांग में कमी। दूवसरी ओर, आयातों में कमी के मुख्य कारण थेः भारत के उपभोक्ता की क्रय शक्ति में कमी, देश में राजनैतिक तनाव और विभेदीकारी संरक्षण की नीति के तहत देश के चीनी और सूती वस्त्र उद्योगों का विस्तार आदि। इस प्रकार यद्यपि आयातों और निर्यातों में कमी हुई थी किनतु आयातेां की तुलना में निर्यातों में अधिक कमी आई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि हमारे निर्यातों वाली कृषि वस्तुओं को कीमतों में हमारे आयातों वाले निर्मित वस्तुओं की तुलना में अधिक तेजी से गिरावट आई थी। इस कारण भी विदेशी व्यापार की इस कमी की मार भारत को ही अधिक सहनी पडी। इस अवधि के दौरान आयातों और निर्यातों के मूलय में ही कमी नहीं हुई बल्कि इनकी मात्रा में भी कमी आ गई। आयातों की तुलना में निर्यातों में अधिक तेजी से कमी आने का परिणाम यह हुआ कि १६३२–३३ में हमारा निर्यात आधिक्य घटकर मात्र १ करोड़ रूपये रह गया। जो इस अवधि का सबसे न्यूनतक स्तर था।

भारत का विदेशी व्यापार

(करोड़ रूपये)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल विदेशी व्यापार	व्यापार–शेष
1929-30	249.71	318.99	568.70	69.28
1930-31	173.06	226.50	339.56	53.44
1931-32	130.64	161.20	291.84	30.56
1932-33	135-01	136.07	271.08	1.06
1933-34	117.28	150.23	267.08	32.95
1934-35	134-59	155.50	290.09	20.91
1935-36	136.78	164.59	301.37	27.81
1936-37	127.72	202.49	330.21	74.67
1937-38	173.72	189.21	362.54	15.88
1938-39	151.83	169.21	321.04	17.38

'सिंह, .वी. बी. पृ. (Econ, History of India)

१६३२ के बाद से महामंदी का प्रभाव कुछ घटने लगा और विदेशी व्यापार में कुछ सुधार आने लगा। विदेशों में वयापारिक गतिबवधियों और कृषि वस्तुओं की मीमतों में कुछ सुधार आने के कारण हमारे निर्यातों का मूल्य बढ़ गया। दूसरी ओर, घेरेलू

द्योगों के विस्तार के कारण हमारे आयातों में कोई वृद्धि नहीं हुई बल्कि १६३६–३७ में तो पिछले वर्ष की तुलना में आयात करोड़ रूपये के बराबर कम हो गए। परिणामस्वरूप १६३६–३७ में हमारा निर्यात आधिक्य बढ़कर लगभग ७५ करोड़ रूपये ो गया। किन्तु सुधार का यक क्रम १६३७ में आकर रूक गया और इसके बाद के दो वर्षों (१६३७–३८ और १६३८–३६) में फिर ा विदेशी व्यापारी घट गया। इन दो वर्षों में निर्यातों की कमी के मुश्य कारण थे : १. कृषि वस्तुओं की कीमतों की कमी, २. अमेरिका में व्यावसायिक मंदी के कारण कच्चे जूट एवं जूट वस्तुओं की मांग में कमी और ३. जापान को चीन के साथ युद्ध में उलझे होने के कारण जाना की कपास के निर्यात में कमी। भारत के लोगों की क्रय शक्ति में कमी आ जाने के कारण १६३८–३६ में भारत के आयातों मे भी कमी आ गई। परिणामस्वरूप निर्यात आधिक्य भी इन दो वर्षों में फिर से काफी घट गया।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि महामंदी के पूर्व की तुलना में द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ में भारत काविदेशी व्यापार काफी घट गया। १६२६.२६ के मुकाबले (लगभग ६०२ करोड़ रूपये) भारत का कुल विदेशी व्यापार १६३८-३६ में लगभग आधा (३२१ करोड़ रूपये) रह गया था। इसी प्रकार, इस अवधि के दौरान निर्यात घटकर लगभग आधें और आयात ६२ प्रतिशत रह गये थे।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से लेकर द्वितीय विश्व यूद्ध के प्रारम्भ होने तक की समूची अवधि के दौरान भारत के विदेशी व्यापार संरचना और दिशाा में भी काफी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। व्यापार संरचना की दृष्टि से कुल आयातों में कच्चे माल के अनुपात में लगातार वृद्धि होती गई जबकि विनिर्मित माल के अनुपात में लगातार कमी। और अधिक विश्लेषण करने पर पता चलाता है कि कुल आयातों में कच्चे माल और पूँजी वस्तुओं का अनुपात १६२५-२६ में ३८.८ प्रतिशत से बढ़कर १६३८-३६ में ५४.३ प्रतिशत हो गया। दूसरी ओर, उपभेग वस्तुओं का अनुपात ५४ प्रतिशत से घटकर ३३ प्रतिशत रह गया। यह सब परिवर्तन स्वदेशी आन्दोलन, विभेदकारी संरक्षण की नीति आदि कई कारणों से देश में कुछ उद्योगों के विकास के कारण हुआ। निर्यातों की दृष्टि से, कच्चे माल का अनुपाप थोड़ा कम हो गया जबकि निर्मित माल के अनुपात में वृद्धि हुई। जूट की वस्तुएँ, तिजहन के उत्पादन, कमई हुई खालें व हड्डियाँ, अर्द्धनिर्मित कच्चा माल तथा कुछ सरल किस्म के तैयार माल अब भारत के निर्यातों की सूची में स्थान प्राप्त करने लगे। किन्तु कुल मिलकर हमारे निर्यातों में कुछ ही वस्तुओं का प्रमुख स्थान था।

व्यापार की संरचना के साथ–साथ व्यापार की दिशा में भी काफी कुछ परिवर्तन आए। आयातों के स्रोत रूप में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ओर ब्रिटेन दानों के ही अनुपात में काफी कमी आ गई। ब्रिटिश साम्राज्य की तुलना में भी ब्रिटेन का हिस्सा अधिक घटा। प्रथम विश्व युद्ध से पहले ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा हमारे आयातों में ७० प्रतिशत था जो घटकर १६३१-३२ में ४५ प्रतिशत तक पहुँच गया किन्तु बाद में १६३८-३६ में इसमें कुछ सुधार हुआ और यह ५८ प्रतिशत तक पहुँच गया। ब्रिटेन का हिस्सा प्रथम विश्व युद्ध से पहले ६३ प्रतिशत था जो १६३१-३२ में घटकर ३५.५ प्रतिशत और १६३८-३६ में ३१ प्रतिशत रह गया। इंग्लैण्ड के हिस्से में कमी आने के दो मुख्य कारण थे। प्रथम, भारत के आयातों के ढांचे में परिवर्तन और द्वितीय, भारत का दुनिया के अनेक देशो के साथ इंग्लैण्ड के माध्यम से व्यापार करने कली बजाय सीधे ही व्यापार करना प्रारम्भ करना। इस अवधि के दौरान भारत के आयातों में जर्मनी, जापान और अमेरिका के हिस्से में वृद्धि हुई। जहाँ तक निर्यातों को सवाल है इसमें हमारी निर्भरता ब्रिटिश साम्राज्य और इंग्लैण्ड पर बढ़ गई। युद्ध से पूर्व हमारे निर्यातों में ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा ४१ प्रतिशत था यह घटकर १६२८-२६ में ३५ प्रशित रह गया किन्तु बाद में बढ़कर १६३८-३६ में ५३.६ प्रतिशत तक जा पहुँचां इसी प्रकार इंग्लैण्ड पर हमारी निर्भरता युद्ध से पूर्ण २५ प्रतिशत की जो घटकर १६२८-२६ में तो लगभग २१ प्रतिशत रह गई थी, किन्तु १६३८-३६ में बढ़कर ३४.३ प्रतिशत तक पहुँच गई। जापान और अमेरिका के हिस्से में भी थोड़ी वृद्धि हुई किन्तु जर्मनी का हिस्सा घटकर लगभग आधा रह गया।

जब हम विभिन्न देशों के साथ हमारे व्यापार शेष का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि १६३८-३६ में ब्रिटिश साम्राजय के साथ तो कुल मिलाकर भारत का द्विपक्षीय व्यापार सुतुलन में ही था। जबकि युद्ध से पूर्व हम काफी अधिक घाटे में थे। दूसरी ओर, युद्ध से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ हमारा व्यापार–शेष जो काफी अधिक में था वह काफी कम हो गया। इसके परिणामस्वरूप हमारा कुल निर्यात आधिक्य भी पहले से घट गया। १६३८.३६ में हमारा निर्यात आधिक्य केवल मात्र १७ करोड़ रूपये रह गया था।

द्वितीय विश्व युद्ध और भारत का विदेशी व्यापार

विश्व युद्ध के दौरान भारत विदेशी व्यापार में उतार–चढ़ाव आते रहे हैं, किन्तु कुल मिलाकर तो विश्व युद्ध का विदेशी वयापार र विपरीत प्रभाव पड़ा है। द्वितीय विश्व युद्ध सितम्बर १६३६ में प्रारम्भ हुआ। पिछले वर्ष (१६३८-३६) के मुकाबले तो युद्ध क इस प्रथम वर्ष (१६३०-४०) में हमारे निर्यातों में २६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस वृद्धि का अधिकांश भाग निर्यात वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के कारण हुआ था। निर्यात की मात्रा में बहुत ही कम (४.५ प्रतिशत) वृद्धि हुई थी। किन्तु अगले ही वर्ष १६४०-४१ में हमारे निर्यात लगभग १५ करोड़ रुपये के बराबर घट गए। मौद्रिक यप से हमारे निर्यातों में जितनी कमी आई थी, मात्रा की दृष्टि

से तो यह कमी और भी अधिक (लगभग १६ प्रतिशत) थी। निर्यात वस्तुओं की कीमतों में लगातार वृद्धि होते रहने के कारण निर्यात की मात्रा में हुई कमी निर्यात के भौतिक मूल्य के द्वारा ठीक–ठीक प्रतिबिम्बित नहीं हो पाती। निर्यात की यह कमी यूरोपीय महाद्वीप के बाजारों के हाथ से निकल जाने और जहाजरानी की कमी के कारण हुई। १६१४-४२ में फिर से हमारे निर्यातों में अच्छी खासी वृद्धि हो गई। यह वृद्धि मुख्य रूप से मित्र देशों द्वारा भारत से माल मंगाने तथा मध्य पूर्व के देशों में भारतीय वस्तुओं की मांग बढ़ने के कारण हुई थी। इस वर्ष भी निर्यातों के मौद्रिक मूल्य की तुलना में इसकी मात्रा में कम वृद्धि हुई थी। बर्मा और सुदूर पूर्व बाजारों के हाथ से निकल जाने तथा निर्यातों पर कुछ नियंत्रण लगा दिए जाने के कारण १६४२-४३ में भारत में भारत के निर्यातों में २३ प्रतिशत की कमी आई। अगले दो वर्षों १६४३-४४ और १६४४-४५ में हमारे निर्यातों के मौद्रिक मूल्य में तो थोड़ी–सी (७ प्रतिशत से भी कम) वृद्धि हुई किन्तु निर्यात की मात्रा लगभग आधी रह गई।

युद्ध के पहले वर्ष (१६३६-४०) में आयातों में लगभग १३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। यद्यपि यह वृद्धि आयात की मात्रा एवं मूल्य दोनों में हुई थी। किन्तु मात्रा की तुलना में मौद्रिक मूल्य में ही अधिक वृद्धि थी। अगले वर्ष आयात में कमी आ ग्रई ओर यह कमी जितनी मौद्रिक मूल्य द्वारा प्रकट होती है, आयात की मात्रा में उससे बहुत ज्यादा थी। आयातों की यह कमी मुख्यतः यूरोप के देशों से सप्लाई के बन्द हो जाने तथा युद्ध के लिए अपने यहाँ वस्तुओं की पूर्ति बनाए रखने के लिए विभिन्न देशों द्वारा निर्यात नियंत्रण की नीति अपनाने के कारण हुई। अगले दो वर्षों (१६४२-४३ और १६४३-४४) में भी आयातों में कमी ही जारी रही। आयातों की मात्रा में जबरदस्त कमी आती गई। युद्ध के अन्तिम वर्ष १६४४-४५ में आयातों के मौद्रिक मूल्य और मात्रा दोनों में सुधार हुआ। यह सुधार मुख्य रूप से आयात प्रतिबन्धों में उदारीकरण तथा जहाजरानी सुविधाओं और विदेशी विनिमय की स्थिति में सुधार के कारण हुआ।

कुल मिलाकर, १६३८-३६ के मुकाबले १६४४-४५ में हमारे आयातों और निर्यातों में क्रमशः ३४ प्रतिशत और ३५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु यह वृद्धि केवल मौद्रिक मूल्य की ही वृद्धि थी, मात्रा में तो काफी कमी आई थी। १६३८-३६ के मुकाबले १६४४-४५ में निर्यातों की मात्रा घटकर ५३ प्रतिशत रह गई थी जबकि आयातों की मात्रा १६४३-४४ में तो कम होकर केवल ४० प्रतिशत रह गई थी, पर १६४४-४५ में यह बढ़कर ७१ प्रतिशत तक पहुँच गई थी। यदि १६४४-४५ के वर्ष को छोड़ दिया जाए तो निर्यातों की मात्रा की तुलना में आयातों की मात्रा में अधिक तेजी से कमी आई थी। जहाँ तक व्यापार–शेष का प्रश्न है १६४३-४४ में यह बढ़कर लगभग ६३ करोड़ रुपये हो गया था जो पिछले बीस वर्षों में सबसे अधिक थां किन्तु व्यापार-शेष की यह अनुकूलता भ्रामक ही थी क्योंकि यह आयातों में युद्ध के दबाव में हुई जबरदस्त कटौती के कारण आई थी। यह बात १६४४-४५ में सिद्ध भी हो गई। जैसे ही आयातों पर से थोड़ा नियंत्रण हटा, आयात एकदम तेजी से बढ़ गए और परिणामस्वरूप व्यापार-शेष का आधिक्य भी घटकर २४ करोड़ रुपये का रह गया। किन्तु फिर भी यह युद्ध के पूर्व के वर्ष १६३८-३६ के १७ करोड़ रुपये के आधिक्य से तो अधिक ही था।

युद्ध के दिनों में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में भी परिवर्तन हुए। इस दौरान हमारे कुल निर्यातों में कच्चे माल ककी तुलना में तैयार माल का अनुपात बढ़ गया। १६३८-३६ में तैयार माल का जो अनुपात ३० प्रतिशत था वह बढ़कर १६४४-४५ में ५१.१ प्रतिशत हो गया, जबकि कच्चे माल का अनुपात ४५.१ प्रतिशत से घटकर २६.५ प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर, आयातों के क्षेत्र में इससे विपरीत स्थिति देखने में आई। इसी अवधि के दौरान हमारे कुल आयातों में तैयार माल क आयात का अनूपात तो ६०.६ प्रतिशत से घटकर ३१.१ प्रतिशत रह गया जबकि कच्चे माल का हिस्सा २१.७ प्रतिशत से बढ़कर ५८.३ प्रतिशत हो गया।

ये प्रवृत्तियाँ द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत के औद्योगिकरण की दिश में प्रगति को सूचित करती हैं किन्तु ये आंकड़े युद्ध क कारण उत्पन्न असामान्य स्थिति की सीमाओं से ग्रस्त हैं। उदाहरण के लिए, हमारे आयातों में तैयार माल का जो हिस्सा कम हो गया था उसका बहुत बड़ा कारण युद्ध की परिस्थितियों में उन वस्तुओं का न मिल पाना था। इसी प्रकार कुल आयातों में कच्चे माल का जो अनुपात बढ़ गया था वह बहुत कुछ पेट्रोलियम का अधिक मात्रा में आयात करने का परिणाम और उन दिनों यह पेट्रोलियम औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए नहीं बल्कि युद्ध के कारण समुद्र पार के कुछ महत्त्वपूर्ण बाजारों का हाथ से निकल जाना था। इसके अलावा स्वदेश में ही कच्चे माल के उपयोग में अधिक वृद्धि हो जाना भी इसका एक कारण था। निर्यातों में तैयार माल के अनुपात में जो वृद्धि हो रही थी उसका कारण यह था कि युद्ध में उलझे होने के कारण अन्य देशों व के द्वारा पर्याप्त मात्रा में माल की सप्लाई न किए जाने के कारण अब भारत के मध्य पूर्व के देशों व कुछ अन्य देशों को तैयार माल की अधिक सप्लाई होने लगी थी। किन्तु जैसी की कुछ समय बाद अमेरिका और इंग्लैण्ड से सप्लाई खुल गई वैसे ही इस प्रवृत्ति पर रोग लग गई। किन्तु इनसब सीमाओं के बावजूद इन सब बातों से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत के व्यापार संरचना में जो परिवर्तन आए थे उससे भारत लाभान्वित हुआ था।

इस अवधि के दौरान भारत के आयातों और निर्यातों में विभिन्न वस्तुओं के तुलनात्मक महत्त्वों में भी कुछ परिवर्तन आया। तेल, कपास, रसायन, दवाइयाँ एवं रोग आदि का निर्यात काफी बड़ी मात्रा में बढ़ गया था जबकि सूती धागे और तैयार माल का आयात काफी बड़ी मात्रा में घट गया। भारत के निर्यातों में कच्चा कपास अब निर्यात की मुख्य मद नहीं रह गई थी। कच्चे जूट और तिलहन का निर्यात भी घट गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में कच्चे कपास और कच्चे जूट के आधिक्य की समस्या हो गई किन्तु इसके साथ ही देश खाद्यान्नों के अभाव के संकटों से भी गुजर रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि अब कपास और जूट की खेती के स्थान पर खाद्य फसलों की खेती में अधिक भूमि का प्रयोग किया जाने लगा। हड्डियों और खालों का देश में ही उपयोग अधिक होने लग गया। इससे उनका निर्यात भी प्रभावित हुआ। सूती माल का निर्यात इन दिनों काफी तेजी से बढ़ा और वे भारत के निर्यात व्यापार की एक प्रमुख मद का स्थान लेते जा रहे थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। १. साम्राज्य देशों क हिस्से में वृद्धि, २. इंग्लैण्ड के हिस्से में कमी, ३. अमेरिका और कनाडा के साथ अच्छी-खासी वृद्धि, ४. १९३९-४० के बाद यूरोपीय महाद्वीप के देशों के साथ, १९४०-४१ के बाद जापान के साथ और १९४२-४३ के बाद बर्मा के साथ व्यापार न हो पाना, और ५. मध्यपूर्व ओर सुदूरपूर्व के देशों के साथ व्यापार में वृद्धि।

हमारे विदेशी व्यापार की दिशा मे यह जो कुछ परिवर्त न आया उस पर मुख्य रूप से तीन बातों का प्रभाव पड़ा। प्रथम, मित्र देशों एवं शत्रु देशों के बीच स्पष्ट रूप से विभाजन; द्वितीय, जहाजरानी की माल ढोने की क्षमता का अभाव और तृतीय, विनिमय नियंत्रणों को लागू किया जाना।

युद्ध के तुरन्त बाद के वर्ष में यद्यपि हमारे आयातों और निर्यातों दोनों में वृद्धि हुई किन्तु निर्यातों की तुलना में आयातों में यह वृद्धि अधिक थी। अतः स्वाभाविक ही युद्ध के अन्तिम वर्ष में जहाँ २४ करोड़ रुपये का हमारा निर्यात आधिक्य था। वहाँ १९४५-४६ में २६ करोड़ रुपये का आयात आधिक्य हो गया आयातों में वृद्धि आयात वस्तुओं की कीमतों तथा मात्रा दोनों में वृद्धि के कारण हुई। जहाँ तक निर्यातों की मात्रा में वृद्धि का प्रश्न है वह तो बहुत ही कम थी। १९४६-४७ में आयातों की मात्रा तो घट गई थी किन्तु आयात वस्तुओं के मूल्यों में काफी तेजी से वृद्धि होने के कारण आयातों का मौद्रिक मूल्य कुछ बढ़ा हुआ दिखाई देता है। दूसरी ओर निर्यातों के कुल मूल्यों में वृद्धि होने के साथ उनकी मात्रा में भी वृद्धि हुई थी। परिणामस्वरूप हमारा आयात आधिक्य घटकर केवल मात्र १० करोड़ रुपये के बराबर रह गया था। १९४७-४८ में उदार आयात नीति के कारण आयातों की मात्रा काफी तेजी से बढ़ गई थी। निर्यात वस्तुओं की कीमतों में तो काफी तेजी से वृद्धि हुई थी किन्तु निर्यातों की मात्रा में वृद्धि कम ही रही। इस सबका परिणाम यह हुआ कि १९४७-४८ के वर्ष में हमारा आयात आधिक्य बढ़कर फिर से लगभग ६८ करोड़ रुपये तक जा पहुँचा।

युद्ध के बाद के वर्षों में हमारे आयातों के मूल्य में बहुत तेजी से वृद्धि होने के मुख्यरूप से निम्नलिखित कारण थे :

१. उपभोग एवं पूंजी वस्तुओं की दबी हुई मांग,

२. भारत सरकार द्वारा इन वस्तुओं की अधिक सप्लाई प्राप्त करने के लिए उदार आयात नीति का अपनाया जाना,

३. देश के विभाजन के कारण कुछ महत्त्पूर्ण कच्चे माल के आयात के लिए विवश होना,

४. विभाजन के बाद खाद्यान्नों के आयात में वृद्धि और

५. आयत वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि।

निर्यात में धीमी गति से वृद्धि होने के प्रमुख रूप से निम्नलिखित कारण थे :

१. कुछ वस्तुओं के निर्यातों को नियंत्रित करने की नीति अपनाया जाना,

२. कुछ वस्तुओं के निर्यातों के लिए उपलब्ध आधिक्य की मात्रा में कमी,

३. निर्यात आधिक्य की यह कमी मुख्यतः दो कारणों से हुई।

(क) कुछ वस्तुओं के लिए विदेशी बाजारों का हाथ से निकल जाना और

(ख) कुछ निर्यात योग्य वस्तुओं के घरेलू उपयोग में वृद्धि होना।

४. देश के विभाजन के कारण भारत की कच्चे जूट, कच्चे कपास, कच्ची ऊनी, कच्ची खालों व हड्डियों आदि की निर्यात क्षमता घट जाना,

५. भारत में वस्तुओं की घरेलू कीमतों में काफी तेजी से वृद्धि होना।

६. अमरीका में व्यावसायिक मन्दी का प्रारम्भ होना।

१९४७ में जब देश का विभाजन हुआ तो इसने भारत की समूची अर्थव्यवस्था को ही प्रभावित किया था। इसका देश के विदेशी व्यापार पर भी प्रभाव पड़ा था – विभाजन के कारण विदेशी का आकार मूल्य एवं मात्रा दोनों की दृष्टियों में काफी बढ़ गया था। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि भारत और पाकिस्तान के बीच का व्यापार दोनों देश के आंतरिक व्यापार का ही हिस्सा था। किन्तु देश विभाजन के बाद यह विदेशी व्यापार का हिस्सा हो गया। विभाजन के कारण अब कच्चे कपास, कच्चे जूट, कच्ची ऊन और कच्ची खालों व हड्डियों जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के निर्यात के लिए उपलब्धि में कमी आ गई थी, अतः भारत की निर्यात–क्षमता घट गई। दूसरी ओर कुछ महत्त्वपूर्ण कृषि उत्पादनों के क्षेत्र पाकिस्तान में रह गए। अतः खाद्यानों तथा कच्चे कपास व कच्चे जूट जैसी वस्तुओं को आयात किए जाने की आवश्यकता बढ़ गई। कपास और जूट पर आधारित कारखाने भारत में रह गए थे, अतः इनके कच्चे माल का आयात करना आवश्यक था। पर चीनी और सूती कपड़े के निर्यात के लिए उपलब्ध आधिक्य में वृद्धि हो गई थी क्योंकि अब पाकिस्तान में चले गए क्षेत्र के लोगों द्वारा जो इन वस्तुओं का उपभोग होता था उसे अब निर्यात किया जा सकता था। युद्ध से पहले इंग्लैण्ड, यूरोपीय महाद्वीप और जापान के साथ जो हमारा निर्यात–आधिक्य हो गया था, अब उसे बनाए रखना कठिन हो गया था। क्योंकि युद्ध-पूर्व की निर्यात की बहुत-सी वस्तुओं की कमी हो गई थी। अमेरिका के साथ जो हमारा निर्यात–आधिक्य रहता था वह अब आयात–आधिक्य में बदल गया था। क्योंकि अब हमें अमेरिका से कपास और खाद्यान्नों का आयात करना आवश्यक हो गया था। आयातों में कच्चे माल व खाद्यान्नों का भाग बढ़ गया था और निर्यातों में इनका हिस्सा घट गया था। स्वाभाविक ही देश की तैयार माल के निर्यातों पर निर्भरता बढ़ गई। विदेशी व्यापार पर देश के विभाजन का पूरा प्रभाव तो १९४८-४९ के आंकड़ों में ही प्रकट होता है जब हमारे आयात बढ़कर ६४२ करोड़ रुपये और निर्यात ४५६ करोड़ रुपए तक पहुँच गए थे। निर्यातों की तुलना में आयातों में ही तेजी से वृद्धि हुई थी, परिणामस्वरूप १९४८-४९ में भारत का आयात-आधिक्य १८३ करोड़ रुपये का हो गया था। वास्तव में युद्ध के बाद भारत के व्यापार-शेष में घाटे की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, वह विभाजन के बाद और अधिक बढ़ गई और वह कुछ अपवादों को छोड़कर अब तक भी जारी है।

व्यापार नीति और उसका भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रभाव

अपने शासन काल के दौरान अंग्रेजों ने भारत में जो व्यापार-नीति अपनाई उसका केन्द्र बिन्दु भारत का हित न होकर इंग्लैण्ड का हित ही था। वास्तव में इसे तो आश्चर्य ही कहा जाएगा कि किसी एक देश का विदेशी व्यापार उसके स्वयं के हितों में न किया जाकर किसी दूसरे के हित को ध्यान में रखकर किया जाता है। किन्तु गुलामी की यही विवशता होती है और भारत इसी विवशता का शिकार था।

अंग्रेजों ने अपनी विदेशी व्यापार नीति के दो मुख्य उद्देश्य रखे थे :

१. ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारत से नियमित रूप से कच्चा माल प्राप्त करना, और

२. ब्रिटेन के उद्योगों में बने तैयार माल को भारत के बाजारों में खपाना।

अपने इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक सत्ता का सहारा लेकर भारत में एक उपनिवेशी शोषण की व्यापार नीति लागू की। उनके इस व्यापार नीति के भारतीय अर्थव्यवस्था पर अनेकों दुष्प्रभाव हुए। इस नीति के विभिन्न पक्षों एवं उसके भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का एक संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

पीछे हमने भारत के बारे में जो विस्तार से विवरण दिया है, उससे कुछ तथ्य उभरकर सामने आते हैं। वैसे तो समूचे अंग्रेजी शासन काल में ही किन्तु विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत के विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हुई। इसके आयातों और निर्यातों की मात्रा और मूल्य दोनों में ही उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इसके आयातों और निर्यातों की मात्रा और मूल्य दोनो में ही उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इस कालखण्ड में भारत के विदेशी व्यापार के ढांचे में भी आमूलचूल परिवर्तन आया। १८१३ से पहले जहाँ भारत निर्मित वस्तुओं का निर्यातक तथा मूल्यवान धातुओं और विलास उत्पादनों का आयातक था वहाँ धीरे–धीरे करे (विशेषतः १८५० के बाद) प्रमुख रूप से कृषि सम्बन्धी कच्चे माल और खाद्य पदार्थों का निर्यातक तथा निर्मित सामान का आयातक बन गया परम्परागत निर्यात की वस्तुओं जैसी सूती और रेशमी वस्त्र और धागे का स्थान धीरे–धीरे विभिन्न प्रकार के कृषि

उत्पादनों जैसे कच्ची कपास और पटसन, चाय और कॉफी, अफीम, तिलहन तथा गेहूँ और चावल ने ले लिया। दूसरी ओर, आयतित सामग्री में सूती धागों और सूती कपड़ों, धातुओं, मशीनों, चीनी तथा तेलों का अनुपात बढ़ने लगा। इसके अलावा, भारत विदेशी व्यापार की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी सामने आई कि १८५६ के बाद केवल कुछ वर्षों को छोड़कर समूची उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान आयात के मुकाबले निर्यातों का आधिक्य ही लगातार बढ़ता रहा। अब हम इन तथ्यों के संदर्भ में अंग्रेजों की कुटिलतापूर्ण व्यापार नीति और उसके भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों को समझने का प्रयास करेंगे।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या भारत के विदेशी व्यापार का तेजी से बढ़ना भारत के हित में था? इस सम्बन्ध में अंग्रेज शासकों, अधिकारियों और उनके प्रवक्ताओं ने तो यही मत व्यक्त किया था कि विदेशी व्यापार की वृद्धि भारत की बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता की सूचक है। किन्तु थोड़ा-सा गहराई से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह एक मिथ्या और भ्रामक कल्पना थी। इसीलिए उस समय के राष्ट्रवादी नेताओं ने यह मत व्यक्त किया था कि भारत के संदर्भ में विदेशी वयापार की वृद्धि को आर्थिक प्रगति का सूचक नहीं माना जा सकता। एक स्वतंत्र देश के बारे में तो किसी हद तक यह कहा जा सकता है कि विदेशी व्यापार की मात्रा उनके राष्ट्रीय आय के स्तर को भी प्रकट करती है। किन्तु भारत जैसे परतंत्र देश के बारे में यह कसौटी ठीक नहीं बैठती। सम्भवतः अंग्रेजों ने अपने देश में बढ़ते हुए विदेशी व्यापार के कारण बढ़ती हुई सम्पन्नता को देखकर ही यह अनुमान लगा लिया होगा कि यह बात भारत के लिए भी सही है। किन्तु यह भ्रम ही था। इस बात की आर.सी. दत्त ने अपनी पुस्तक में इन शब्दों में समझाया है –

"भारत में परिस्थितियाँ अलग है। यहाँ विदेशी व्यापार विदेशी पूंजी से, विदेशी व्यापारियों द्वारा किया जाता है। इस व्यापार के लाभ भारत में न रहकर यूरोप में पहुँच जाते हैं। विदेशी व्यापार की कमाई इस देश के लोगों की कमाई नहीं है। अतः विदेशी व्यापार की मात्रा उनकी राष्ट्रीय आय का सूचक नहीं है। १८८१-८२ में लार्ड रिपन के शांत और अपेक्षाकृत समृद्ध शासन काल में भारत के कुल आयात और निर्यात ८३ मिलियन स्टर्लिंग पौण्ड थे। १९००-०१ के संकट और दुर्भिक्ष के वर्ष में कुल निर्यात और आयात १२२ मिलियन पौण्ड थे। जो भारत को जानता है अथवा जिसने भारत के विषय में कभी कुछ भी सुना है, निश्चित रूप से कहेगा कि भारत १९००-०१ की अपेक्षा १८८१-८२ मं अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में था और अधिक सम्पन्न था।" वास्तव में, भारत में विदेशी व्यापार की मात्रा इसकी सम्पन्नता का सूचक क्यों नहीं बन सकी, इसका बहुत बड़ा कारण यह था कि भारत का विदेशी व्यापार भारत की मर्जी से नहीं होता था बल्कि यह तो अंग्रेजों की मर्जी से होता था। इस प्रकार उन दिनों का भारत का विदेशी व्यापार स्वतन्त्र व स्वाभाविक न हो कर अस्वाभाविक, कृत्रिम और जोर–जबर्दसती से लादा हुआ था।

किसी भी देश के विदेशी व्यापार के महत्त्व का निर्णय उसकी संरचना को देखकर ही किया जा सकता है। उसकी उपयोगिता एवं अनुप्रयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वह देश किन वस्तुओं का आदान–प्रदान करता है और इस आदान–प्रदान का उसके कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से जब भारत के विदेशी व्यार पर विचार किया जाता है तो हम पाते हैं कि अंग्रेजी शासनकाल में भारत मुख्य रूप से कच्चे माल और खाद्यान्नों का निर्यात करता था और ब्रिटेन के उद्योगों में बने तैयार माल का आयात। इसके परिणामस्वरूप भारत इंग्लैण्ड के उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करने वाला कृषि उपकरण बनकर रह गया था। इससे भारत के परम्परागत उद्योग तो नष्ट हो ही गये, पर इसके साथ ही नये आधुनिक उद्योगों के विकास के अवसर भी समाप्त हो गए। अतः कुल विदेशी व्यापार की मात्रा का बढ़ना देश की सम्पन्नता का नहीं, शोषण ही कारण बना। इसके बारे में हम आगे और भी विस्तार से चर्चा करेंगे।

इसके अलावा, यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेजी शासनकाल के दौरान भारत में विदेशी व्यापार का संचालन और नियंत्रण किसने किया? इसके लाभों का उपयोग किसने किया? व्यापार राष्ट्र की अवशिष्ट और विलास सामग्री का हुआ अथवा राष्ट्र के उपभोग के आवश्यक सामान का? क्या देश को व्यापारिक स्वायत्ता प्राप्थ थी? इन सब प्रश्नों का संदर्भ में विचार करने पर भी यही लगता है कि भारत में विदेशी व्यापार का बढ़ना भारत के हित में नहीं था। इस विदेशी व्यापार का संचालन और नियंत्रण भारतीय व्यपारियों के हाथों में न होकर अंग्रेज व्यापारियों के हाथों में था। अतः इस व्यापार का मुख्य लाभ भी अंग्रेजों को ही होता था। वास्तव में भारत जिन चीजों का निर्यात करना था वे हमारी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बची रह गई वस्तुएँ नहीं थीं बल्कि हमें अपनी जरूरी आवश्यकताओं से वंचित रखकर उन्हें जबर्दस्ती यहाँ से भेजा जाता था। यही तो कारण था कि एक ओर तो अनाज इंग्लैण्ड को भेजा जाता था। इसीलिए बहुत से लोग भूख से मरते रहते थे, दूसरी ओर यहाँ से अनाज इंग्लैण्ड को भेजा जाता था। इसीलिए बहुत से भारतीय विद्वानों का यह मानना था कि अनाज का निर्यात भारत की निर्धनता और दुर्भिक्षों का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारण था क्योंकि भारत केवल अपने फालतू अनाज का ही निर्यात नहीं करता था प्रत्युत अपनी दिन प्रतिदिन की आवश्यकता को पूर्ति के लिए निर्धारित भण्डार में से ही यह निर्यात करता था। अनाजों के

इस व्यापार को संभव बनाने के लिए भारतीयों को आधा भूखा रहना पड़ता था। इस सम्बन्ध में लखनऊ के उर्दू साप्ताहिक 'अवध पंच' ने १८६१ में बड़ी ही मर्मवेधी टिप्पणी की थी, 'इस समय देश से निर्यात किया जाने वाला अनाज वास्तव में अनाज न होकर अकाल ग्रस्त देशवासियों का जीवन-रक्त है। अनाज की बोरियाँ अनाज से न भरी होकर वस्तुतः देश के लोगों से भरी बोरियां हैं, जिन्हें इंग्लैण्ड के सुसभ्य नरपिशाच उनमुक्त व्यापार की तलवार से मारकर अपना भोजन बनायेंगे।' इसी प्रकार हितवादी नामक एक पत्र ने २५ जुलाई १८९६ के अंक में टिप्पणी करते हुए लिखा था कि 'विदेशी भारतीयों के मुंह का ग्रास छीन रहे हैं और भारतीय कृषक जनता को विदेशियों का पेट भरने के लिए अपने परिवार को भूखा मारना पड़ रहा है।' यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि भारत के किसानों के पास फालतू अनाज नहीं है तो फिर उसका विक्रय क्यों करते हैं? वे अपनी उपज को दुर्दिनों के लिए सुरक्षित क्यों नहीं रखते? इन सब एक ही उत्तर था कि भारत का समस्त व्यापार विवशता और मजबूरी का व्यापार था, स्वाभाविक व्यापार नहीं। सरकार को और सहूकार को निश्चित अवधि में भू-राजस्व और लगान के भुगतान करने की अनिवार्यता के कारण किसान को अपना अनाज बेचने के लिए विवश होना पड़ता था। निर्यात करने के कारण देश में अनाजों के मूल्य चढ़ जाते थे और इस कारण सामान्य उपभोक्ता पर बजट का भार बढ़ जाता था।

जैसाकि पहले हम बता चुके हैं कि १९वीं शताब्दी के दौरान भारत का वस्तु व्यापार शेष अधिकांशतः भारत के पक्ष में ही रहा अर्थात आयातों की तुलना में निर्यात की अधिकता बनी रही। विदेश व्यापार क्षेत्र में इस लगातार बने रहने वाले निर्यात आधिक्य को देखकर कुछ लोगों ने यह तर्क प्रस्तुत करने का प्रयास किया था कि यह भारत में पनप रही राष्ट्रीय समृद्धि का संकेत है अथवा व्यापार शेष के अनुकूल होने का अर्थ है कि देश में विदेशी सम्पदा जुटाने की क्षमता मौजूद है। सामान्यतया तो यही होता है कि जब किसी देश का व्यापार शेष उसके पक्ष में होता है तो वह उस देश के हित में ही होता है, किन्तु भारत के सन्दर्भ में तो यह बात भी ठीक नहीं उतर रही थी। यहाँ यह बात समझने लायक है कि निर्यात आधिक्य जैसे भारत के शोषण उपकरण के रूप में काम कर रहा था।

उन दिनों आयात की अपेक्षा निर्यात की अधिकता का अर्थ वास्तव में अतिरिक्त निर्यात नहीं थे। अर्थात् यह अनुकूल व्यापार क्षेत्र नहीं था। यदि ऐसा होता तो इससे सोना-चाँदी अथवा उपभोग पदार्थों में वृद्धि होती। वस्तुतः यह तो विचित्र प्रक्रिया थी, विचित्र प्रकार का अनुकूल व्यापार शेष था। यह तो एक ऐसा निर्यात आधिक्य था जिसके बदले भारत को कुछ नहीं मिलता था और यह उस जबर्दस्ती थोप दिया गया था। असली बात तो यह थी कि अंग्रेजों की विभिन्न प्रकार की नितियों के कारण भुगतान संतुलन की अदृश्य मदों में भारत को काफी बड़ा घाटा रहता था। इस घाटे को पूरा करने के लिए भारत को अधिक मात्रा में वस्तुओं का निर्यात करना ही पड़ता था। भारत को जिन अदृश्य मदों के बदले अधिक मात्रा में वस्तुओं को निर्या करना पड़ता था वे थीं –

१. भारत पर विदेशी के बढ़ते हुए ऋणों के ब्याज के भुगतान के लिए,
२. तेजी से बढ़ते हुए गृह-प्रभारों को अथवा ब्रिटेन में भारत के खर्च जुटाने के लिए तथा,
३. ब्रिटिश प्रशासकों, व्यापारियों, खान मालिकों और पूंजीपतियों को इस देश का शोषण करके प्राप्त किए हुए वेतन, भत्तों, ब्याज, लाभ, लाभांश और बचत को अपने देश इंग्लैण्ड में भेजने की व्यवस्था के लिए।

इन अदृश्य मदों के कारण होने वाले घाटे को पूरा करने के लिए भारत को या तो अपनी वस्तुओं का अधिक मात्रा में निर्यात करना होता था या सोने के रूप में भुगतान करना होता था। इस प्रकार उस समय भारत के द्वारा इंग्लैण्ड को किया जाने वाला वस्तुओं का अधिक निर्यात भारत की मजबूरी थी और इसीलिए दादा भाई नौरोजी जैसे विद्वानों ने इसे भारतीय संसाधनों का निकास माना था। इस निर्यात के कारण भारत से निकलकर इंग्लैण्ड को जाते रहे और उसके बदले भारत को कुछ भी नहीं मिला। भारत पर जबरदस्ती थोप दी गई अदृश्य मदों के भुगतान में ही वस्तुओं का वह निर्यात खपता रहा। इस प्रकार बहुत ही चालाकी से अंग्रेज निर्यात आधिक्य के बहाने भारत का शोषण करते रहे। यहाँ एक बात ओर भी विचारणीय है कि भारत उन दिनों जिन वस्तुओं का अधिक निर्यात करता था उन कृषि वस्तुओं कीनिरन्तर सप्लाई बनाये रखना आवश्यक था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में कृषि क्षेत्र के उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा जिसका निर्यात किया जाना था। इससे अब देश की कार्यशील जनसंख्या का अनुपात कृषि क्षेत्र के में बढ़ गया। इसके फलस्वरूप देश का कृषिकरण और ग्रामीणीकरण बढ़ गया। इसने अर्थ–व्यवसायी के सम्पूर्ण ढांचे को ही पीछे की ओर धकेल दिया। कृष्ज्ञि वस्तुओं के निर्यात की निरन्तर सप्लाई बनाये रखने को दूसरा प्रभाव इससे भी भयंकर हुआ। देश में चाहे कैसी भी परिस्थिति हो ाारत को हर हाल में इन वस्तुओं को निर्यात करना ही पड़ता था। इसका अर्थ यह था कि भारत के लागों की जरूरी आवश्यकताओं की उपेक्षा करके भी भारत से जबरदस्ती इन वस्तुओं को बाहर भेजा जाता था। इसके परिणामस्वरूप भारत की दरिद्रता बढ़ती गयी और यहां के लोगों का रहन–सहन स्तर लगातार गिरता चला गया।

अब हम यह जांचने का प्रयास करेंगे कि आयातों को भारत की अर्थव्यवस्था पर क्या ओर कैसे प्रभाव पड़ा? हम यह जानते ही है कि भारत उन दिनों मूख्यतः ब्रिटिश उद्योगों में बने तैयार माल का ही आयात करता था। ये आयात लगातार बढ़ते ही जा रहे थे। ब्रिटिश अधिकारियों ने तो इन आयातों की यह कहकर वकालत की थी कि ये देश की बढ़ती हुई क्रय शक्ति के सूचक थे। किन्तु भारत के राष्ट्रवादी नेताओं के मत में तो ये आयात भारतीय अर्थव्यवस्था को नष्ट करने वाले ही थे। इन आयातों के परिणामस्वरूप न तो देश की उत्पादन क्षमता ही बढ़ रही थी औन नही ये ही हमारे आवश्यकताओं की वस्तुओं की पूर्ति कर पा रहे थे। न ही, ये नये उद्योगों का जन्म दे रहे थें और यदि तकनीकी ढंग से कहें तो ये प्रभावी मांग की वृद्धि भी नहीं कर पा रहे थे। इसके विपरीत ये तो परम्परागत हस्तशिल्प उद्योगों को ही नष्ट करते चले जा रहे थे। अपने ससतेपन तथा स्पर्धा की योग्यता के कारण इंग्लैण्ड के मशीनी उद्योगों में बनी वस्तुएं भारत की हस्तनिर्मित वस्तुओं की मांग को नष्ट करती चली जा रही थीं।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद भारत की साधन सम्पद का पूरा–पूरा फायदा उठाकर अंग्रेजों ने अपने देश में नये आधुनिक उद्योगों को अच्छी स्थिति में खड़ाकर लिया था। उद्योगों के विकास के प्रारम्भिक दिनों में उन्हं सब प्रकार से सरकारी सहायता व संरक्षण भी दिया गया था। अब इंग्लैण्ड के उद्योग इतने विकसित हो चुके थे कि वे स्वतंत्र बाजार में किसी भी प्रतियोगिता का खुलकर मुकाबला कर सकते थे। दूसरी ओर, भारत में आधुनिक उद्योग प्रारम्भ ही नहीं हो सके थे। उन्हे तो अपने प्रारम्भिक विकास के लिए सब प्रकार की सरकारी सहायता व संरक्षण की आवश्यकता थी। किन्तु अंग्रजों ने ऐसे समय में चालाकी से स्वतंत्र व्यापार की नीति घोषणा कर डाली। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी माल बेरोक टोक भारत के बाजारों में आने लगा। इस माल के मुकाबले भारत का कोई उद्योगपति उद्योग लगाने का साहस नहीं–कर पाता था। इस प्रकार अंगेजों की यह तथाकथित स्वतन्त्र–व्यापार की नीति भारत को नुकसान पहुँचाकर इंगलैण्ड को लाभ पहुंचाने के लिए बनाई गई थी और इसी ने काफी लम्बे समय तक भारत को औद्योगिक प्रगति करने से रोक रखा। हस्तशिलप उद्योगों के नष्ट हो जाने और नेय आधुनिक लोगों के विकसित न हो पाने का परिमाम यह हुआ कि देश में लोगों को अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहने के लिए मजबूर होना पड़ा। इससे देश की कृषि पर उत्तरोत्तर भारत बढ़ता जा रहा था, देश का राष्ट्रीय आय के स्रोत संकुचित होते जा रहे थे तथा देशवासी दरिद्र से दरिद्रतर होते जा रहे थे।

यदि हम तैयार माल के आयात ओर कच्चे माल के निर्यात पर एक साथ विचार करं तो पता चलेगा कि इनदोनों प्रवृतियों के कारण देश को काफी बड़ी मात्रा में क्षति उठानी पड़ी। उद्योगों में तैयार माल बनाने की बजाए जब देश के ज्यादातर लोग कृषि सम्बन्धी कच्चे माल के उत्पादन की ओर प्रवृत्त हो गए तो इसका अर्थ यह हुआ कि भारत अपेक्षाकृत उच्च से निम्न आर्थिक गतिविधि की ओर मुड़ गया। वह समृद्ध उद्योग की अपेक्षा कम लाभकारी कृषि को अपनाने लगा, कुशल कारीगरी से अप्रशिक्षित की ओर परिवर्तित हो जाने से उसे श्रम की उत्पादकता कम हो गई और इस सबके फलस्वरूप देश को पारिश्रमिकों और लाभों में अपरिमित हानि उठानी पड़ी। 'इसके विपरित यदि भारत कच्चा माल का उपयोग करके वस्तुओं का उत्पादन करता तो उससे जहां एक ओर अपनी पूंजी और अपने श्रम को विकास के नये अवसर उपलब्ध होते वहाँ दूसरी ओर देश के साधन बाहर निकलकर देश को दरिद्र न बना पाते।

विदेशी व्यापार की बहुत सी वस्तुओं जैसे चाय, कॉफी, नील और पटसन की वस्तुओं के सौदे मुख्यतः विदेशी पूंजी और विदेशी प्रयत्न के ही परिणाम थे। अतः इन सौदों से ये विदेशी पूंजीपति ही अधिक लाभ उठाते थे। उन दिनों में भारत के अधिकांश व्यापार पर विदेशियों विशेषकर ब्रिटिश व्यापारियों ने नियन्त्रण किया हुआ था। विदेशी व्यापार ही नहीं बल्कि आन्तरिक व्यापार को भी उन्होंने अपने अधीन कर लिया था। रेलें, जहाजरानी, बैंक बीमा कम्पनियों यहां तक कि गांव से बनदरगाह तक समान पहुँचाने तक की आंतरिक गतिविधि भी विदेशियों के नियन्त्रण में थी। जी॰ बी॰ जोशी महोदय के अनुसार भारत के व्यापार पर विदेशी नियन्त्रण के फलस्वरूप भार को प्रति वर्ष २६ करोड़ रूपये की हानि उठानी पड़ रही थी। वास्तव में हमारे इस विदेशी व्यापार को अधिकांश लाभ ये विदेशी व्यापरी हड़प जाते थे। इस प्रकार भारत के व्यापारियों को भारत के व्यापार का कोई विशेष लाभ नहीं मिल पाता था।

जब हम भारत के आयातों और निर्यातों के बारें में कुछ और अधिक गहराई से विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि हमारे हित से आयात हमारी आम जनता की आत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नहीं थे जबकि निर्यात अपनी जरूरी चीजों को बाहर भेज रहे थे। भारतीय आयातों का बहुत बड़ा भाग या तो भारत में रहने वाले विदेशियों की अथवा थोड़े–बहुत अंग्रेजनुमा स्वदेशी लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के काम आता था अथवा विदेशी उद्यमियों और रेलवे के काम आता था अथवा सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के काम आता था। सर्वसाधारण द्वारा काम में लाये जाने वाले आयात की मात्रा तो बहुत ही थोड़ी थी

और उसका मूलय प्रति व्यक्ति कुछ पैसे ही बैठता था। जहां तक निर्यात का सवाल था भारत अपने अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात नहीं करता था बल्कि उसे तो दबाव के अन्तर्गत गेहूँ, चावल, कपास, जूट और तिलहन जैसी वस्तुओं का निर्यात करना पड़ता था। ये सब ऐसी वस्तुएं थीं जिनकी उनके देश में काफी अधिक आवश्यकता थी और इनके अभाव के कारण उसे संकटों से भी गुजरना पड़ता था। इन अनिवार्य वस्तुओं के बदले उसे सुविधा और विलास की बहुत सरी ऐसी वस्तुएं लेनी पड़ती थी जिसके बिना वह अपना काम आसानी से चला सकता था। बंगवासी ने इस दृष्टिकोण को ६ जुलाई १८८७ के अंक में बहुत ही सशक्त ढ़ग से इन शब्दों में प्रकट किया था।

'हमें अपने चेहरे की दमक को बढ़ाने के लिए पाऊडर और घूंघराले बालों की चमक बढ़ाने के लिए सुगन्धित क्रीम की आवश्यकता नहीं है। हमें अपने लोगों की आकर्षक सुगन्ध, घड़ियों से मोहित करने की भी आवश्यकता नहीं है। हम रेशमी और ऊनी वस्त्रों में चमकना नहीं चाहते, हम आपकी शेरी और शैंपेन से अपनी पापी प्यास नहीं बुझाना चाहते। हम आपे वस्त्रों द्वारा लज्जा ढकना नहीं चाहते। यदि भारतीय जुलाहों के जाति का समूल नाश हो जाए तो हम उस स्थिति में वृक्षों की छालें भी ओढ़ लेंगे और यदि वृक्ष की छालें भी उपलब्ध न हुई तो हम नंगे ही रह लेंगे। परन्तु आपके वस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे। हम आपसे केवल यही प्रार्थना करते हैं कि हमें अपने ही हाल पर छोड़ दीजिए और जीवित तो रहने दीजिए।"

१. भारत से कच्चा माल और प्राथमिक कृषि और अंग्रेज व्यापारी अपनी शर्तों व उनके द्वारा निर्धारित कीमतों पर लेते थे तथा दूसरी ओर, भारत को ब्रिटिश वस्तुओं के लिए ऊंची कीमत देनी पड़ती थी। इस प्रकार इस व्यापार में भारत का दोनों ओर से दोहरा शोषण होता था।

२. अंग्रेजों ने तो अपने देश में उद्योगों को सब प्रकार से सरकारी सहायता व संरक्षण देकर खड़ा कर लिया। किन्तु भारत में वे उद्योगों को संरक्षण की नीति को स्वीकार किया तो उसे भी इस चालाकी से लागू किया कि भारतीय उद्योगों को कोई खास लाभ नहीं हो सका। इस प्रकार उपेक्षा व शोषण के शिकार भारत के हस्तशिल्प उद्योगों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती थी।

अतः उस समय की तथाकथित स्वतंत्र प्रतियोगिता दो असमान पार्टियों की बीच की प्रतियोगिता थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजों ने भारत पर एक ऐसी व्यापार–प्रक्रिया थोपी – जिसने भारत का शोषण कर उसे दरिद्र बना दिया और उसके विकास की सम्भावनाओं को ही ध्वस्त कर दिया।

अध्याय - 1(b)

आर्थिक निकासी

भारत के स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भारतीय नेताओं के मन में इस विचार ने काफी बल पकड़ा था कि भारत की दरिद्रता का एक महत्त्वपूर्ण कारण भारत से इंग्लैण्ड को सम्पत्ति की निकासी था। उनके इस विचार एवं विश्वास का आधार आर्थिक निकासी की अवधारण था। आर्थिक निकासी की इस अवधारणा से सबसे पहले दादा नौरोजी ने 2 मई 1867 को लंदन में हुई ईस्ट इंडिया ऐशोसियेशन की एक बैठक में पढ़े हुए अपने एक लेख इंग्लैण्ड्स डैट टू इण्डिया' (England's debt to India) में प्रस्तुत किया था। उन्होंने इस लेख में बताया था कि ब्रिटेन भारत में अपने शासन की कीमत के रूप में उस देश की सम्पदा को उस देश से छीन रहा है। भारत में वसूल किए गए कुल राजस्व का लगभग चौथाई भाग देश से बाहर चला जाता है तथा इंग्लैण्ड में संसाधनों से जुड़ जाता है। आगे चलकर दादा भाई नौरोजी ने 1871 में (Poverty and un-British Rule in India) नामक अपने एक अध्ययन में आर्थिक निकासी की मात्रा के बारे में अपना आकलन देते हुए इसे भारत की दरिद्रता का एक प्रमुख कारण बताया था। इसके फलस्वरूप भारत का रक्त निरन्तर निचोड़ा जा रहा है। इसके बाद से दादा भाई नौरोजी विभिन्न अवसरों पर और विभिन्न प्रकार से आर्थिक निकासी की अपनी धारण का प्रचार प्रसार करते रहे। दादा भाई नौरोजी के अलावा श्री आर. सी. दत्त ने भी 'इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' नामक अपने ग्रंथ में तथा अंग्रेज विद्वान 'डिग्वी' ने अपने ग्रंथ 'प्रासपरस ब्रिटिश इंडिया' में भी इस धारणा का समर्थन किया। इन विद्वानों के अलावा जस्टिस रानाडे, श्री भोलानाथ चन्द्र आदि ने भी दादा भाई नौरोजी की इस धारणा का समर्थन किया। वास्तव में आगे चलकर स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े हुए लगभग सभी नेताओं ने आर्थिक निकासी की धारणा को स्वीकार कर लिया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी 1896 में कलकत्ता में हुए अपने अधिवेशन में औपचारिक यप से निकासी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि वर्षों से लगातार देश से हो रही सम्पत्ति की निकासी ही देश के अकालों के लिए और देशवासियों की निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार भारत से सम्पत्ति की निकासी ब्रिटिश शासन का महत्त्वपूर्ण दुष्परिणाम था। अतः यहाँ हम इस धारणा के बारे में कुछ विस्तार से जानने का प्रयास करेंगें।

आर्थिक निकासी का अर्थ

आर्थिक निकासी से तात्पर्य अंग्रेजी शासन के दौरान भारत से इंग्लैण्ड को होने वाले साधनों के हस्तांतरण से था। दूसरे शब्दों में, आर्थिक निकासी से तात्पर्य ब्रिटेन को किए जाने वाले उन सब भुगतानों से था जिनके बदले भारत को कुछ नहीं मिलता था। ये भुगतान वास्तव में भारत की बचत थी जो ब्रिटेन को चली गई और फिर भारत को कभी वापिस नहीं मिली। यदि यह रकम भारत के विकास पर ही खर्च होती तो भारत में ब्रिटेन के समान ही विकास हुआ होता। किन्तु यह देश का दुर्भाग्य रहा कि भारत की बचत और साधनों का उपयोग भारत के लिए न होकर ब्रिटेन के विकास के लिए हुआ। भारत से इंग्लैण्ड को साधन और सम्पत्ति के उस हस्तांतरण को आर्थिक विकास की संज्ञा दी गई जो ब्रिटिश शासन के दबाव के कारण भारत की मर्जी के बिना हुआ। अपने परिश्रम से अर्जित की गई सम्पत्ति जब अपने ही देशवासियों के विकास के काम न आये और वह दूसरे देश के विकास में प्रयोग में लाई जाए तो इसे आर्थिक निकासी ही कहा जाता है। अंग्रेजी शासन के दौरान एक ओर तो सम्पत्ति के अभाव में भारत के श्रम व प्राकृतिक साधनों का उपयोग नहीं हो पा रहा था तो दूसरी ओर यह सम्पत्ति यहां से इंग्लैण्ड को भेजी जा रही थी। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शासन के दौरान भारत की मर्जी के बिना और भारत को बदले में कुछ प्राप्त हुए बिना ही भारत से इंग्लैण्ड को जो सम्पत्ति भेजी जा रही थी उसे ही अधिक निकास का नाम दिया गया था।

आर्थिक निकासी के रूप

भारत से इंग्लैण्ड को सम्पत्ति की निकासी के अनेक रूप व प्रकार थे। उनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं :

1. भारत उन दिनों इंग्लैण्ड से बहुत सी अदृश्य मदों का आयात करता था जैसे विदेशी बैंक, बीमा कम्पनियों एवे जहाजरानी कम्पनियों की सेवाएं, विदेशी उद्यमों जैसे चाय बागान, जूट विनिर्माण उद्योग एवं खनन उद्योगों के लाभ तथा ब्रिटिश अफसरों एवं व्यवसायियों द्वारा निजी तौक्र पर भारत से ब्रिटेन को धन सेवाएं आदि।

   भारत को भुगतान संतुलन – भारत के द्वारा इंग्लैण्ड को किया जाने वाला वस्तुओं का यह अधिक निर्यात भारत की मजबूरी थी और इसलिए दादा भाई नौरोजी जैसे विद्वानों ने इसे भारतीय संसाधनों का निकास माना था। इस निर्यात

के कारण भारत के साधन भारत से निकलकर इंग्लैण्ड को जाते रहे और उसके बदले भारत को कुछ नहीं मिला। उन दिनों आयातों की तुलना में भारत को जितना अधिक निर्यात करना पड़ता था वह अवांछित निर्यात ही था। वस्तुतः उन दिनों ईस्ट इंडिया कम्पनी की निर्यात नीति कुछ इस प्रकार की थी कि वह चालाकी से व्यापार के नाम पर भारतीय साधनों को लूटती ही थी। उदाहरण के लिए, ईस्ट इंडिया कंपनी अपने शासन के दौरान अनेक प्रकार के कर लगाकर जो धन एकत्रित करती थी उसी राशि से वह भारत से वस्तुएं खरीदकर इंग्लैण्ड को निर्यात करती थी। इस प्रकार इस तरह से भारत से वस्तुओं का निर्यात भी होता रहता था और उस निर्यात का भुगतान भी भारत स्वयं ही करना पड़ता था। इस प्रकार यह व्यापार भारतीय सम्पत्ति की लूट और डाके जैसा ही था। ऐसा अनुमान है कि बीसवीं सदी के प्रथम 10 वर्षों में लगभग डेढ़ करोड़ पौण्ड सालाना के हिसाब से भारत के निर्यात आयातों से ज्यादा थे।

जॉन स्ट्रेची ने 1878 के वित्तीय विवरण में टिप्पणी की थी कि 'इंग्लैण्ड के साथ भारत के सम्बन्ध और उस सम्बन्ध के वित्तीय परिणामों के फलस्वरूप भारत को प्रति वर्ष लगभग 200 लाख पौण्ड का उत्पादन बदले में प्रत्यक्ष रूप से बिना किसी प्रकार की व्यापारिक दृष्टि से तुल्य मूल्य की सामग्री को प्राप्त किए ही यूरोप को भेजने के लिए विवश होना पड़ता है। आयातों की इस अधिकता को ही अर्थशास्त्री अपनी भाषा में खिराज़ (tribute) का नाम देते है।' मोरिसन के अनुसार, भारत से सामग्री अथवा धन के निर्यातों की वह धनराशि, जिसके बदले भारत को उस वर्ष उन धन राशि के बराबर मूल्य का कोई सामान प्राप्त नहीं होता निकासी है।

विदेशी व्यापार किस प्रकार आर्थिक निकासी का उपकरण बना, इसे समझने की आवश्यकता है। ईस्ट इण्डिया कंपनी दोनो रूपों में काम करती थी–एक ओर तो वह व्यापारिक कंपनी थी तथा दूसरी ओर वह देश की शासक थी। 'व्यापारी के रूप में तो इसने देश को व्यापार पर आधिपत्य जमा लिया था और शासक के रूप में तो इसने भारत के राजस्व को हड़प लिया। भारत से वसूले गए राजस्वों से प्राप्त धन–राशि से ही वह यहां से वस्तुएं खरीदकर ब्रिटेन को भेजती रहती थी। अतः ब्रिटेन को भेजी इन वस्तुओं के बदले भारत को कुछ नहीं मिल पाता था। इस प्रकार साधनों का एक तरफा हस्तांतरण होता रहता था।

निकासी सिद्धांत बहुत कुछ 'अनावश्यक निर्यात' (Unrequitted exports) की अवधारणा से जुड़ा हुआ है। भारत को ग्रेट ब्रिटेन के साथ अपने राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धें में से उत्पन्न दायित्वों को पूरया करने के लिए अपने आयातों की तुलना में जितना अधिक निर्यात करना पड़ता था, उस निर्यात–आधिक्य को ही 'अनावश्यक निर्यात' के नाम से सम्बोधित किया गया था। दादा भाई नौरोजी और रमेश दत्त जैसे भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इसे भारत से सम्पत्ति की निकासी अथवा इंग्लैण्ड द्वारा भारत से निचोड़ा गया खिराज कहा था और इसे ही भारत की दरिद्रता का एक प्रधान कारण भी माना था।

2. अंग्रेजों ने भारत में बड़े–बड़े सैनिक एवं असैनिक पदों पर अंग्रेज अफसरो को नियुक्त किया हुआ था। इन अंग्रेज अफसरों को वेतन, भत्तों आदि के रूप में काफी बड़ी रकम दी जाती थी। इसके अलावा देश में अंग्रेज वकील एवं अंग्रज डॉक्टर भी काम करते थे। ये अंग्रेज अफसर, वकील और डॉक्टर अपनी आय और वेतन के एक बहुत बड़े भाग को इंग्लैण्ड भेजा करते थे। इससे भारत की सम्पत्ति भारत से निकलकर इंग्लैण्ड में चली जाती थी। यदि ब्रिटिश सरकार अंग्रेज अफसरों व अंग्रेज कर्मचारियों के स्थान पर भारत के लोगों को ही नियुक्त करती तो भारत की सम्पत्ति भारत में ही रहती। इसीलिए नौरोजी ने अंग्रेजी अफसरों के वेतन और भत्तों आदि को भी आर्थिक निकासी का एक प्रमुख कारण माना था। उन्होंने तो अंग्रेज अफसरों की नियुक्ति के बारे में बोलते हुए यहां तक कह दिया था कि भारतीय जनता की विषम दरिद्रता और चरम दीनता का एक मात्र कारण विदेशी कर्मचारियों की असामान्य नियुक्ति है। इसी के फलस्वरूप देश की भौतिक हानि हो रही है औद देश की सम्पत्ति की निकासी हो रही है। इस सम्बन्ध में उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा था कि देश के लिए यह जीवन–मरण का प्रश्न है। आप इस एक बुराई को हटा दीजिए भारत हर दृष्टि से सौभाग्यशाली बन जाएगा।

3. भारतीय नेताओं के अनुसार भारत से धन की निकासी का एक प्रमुख स्रोत गृह–प्रभार (Home Charges) के रूप में था। भारत सरकार की ओर से भारत सचित द्वारा इंग्लैण्ड में जो खर्चा किया जाता था उसे होम चार्जिज का नाम दिया जाता था। इस खर्च के लिए भारत से इंग्लैण्ड को भुगतान भेजा जाता था। अतः यह एक प्रकार से भारतीय सम्पत्ति की निकास ही था। गृह प्रभारों के अन्तर्गत भारत के सरकारी ऋणों और प्रतिभूत रेल पथों के ब्याज का भुगतान, सैनिक तथा अन्यान्य भण्डारों को की गई सप्लाई का मूल्य, भारत सचिवालय में भारत सचिव के कर्मचारियों पर होने वाले खर्चों तथा भारत सरकार के यूरोपीय कर्मचारियों को पेंशन व भत्ते आदि के लिए भारत के खाते से इंग्लैण्ड में किए जाने वाले समस्त भुगतानों को शामिल किया जाता था।

4. अंग्रेजों ने व्यापार और उद्योग के कई क्षेत्रों में अपनी पूंजी का निवेश किया हुआ थां इस पूंजी निवेश से वे बहुत बड़ी रकम लाभ और लाभांश के रूप में अपने देश को ले जाते थे। अतः भारतीय विद्वानों ने इस विदेश पूंजी निवेश पर होने वाले लाभ और लाभांशों को भी आर्थिक निकासी माना था।

5. युद्धों व भारत पर विजय के सैनिक व प्रशासनिक खर्चों की रकम का भुगतान भी भारत को करना पड़ता था। वास्तव में इस प्रकार के खर्चों का भुगतान इंग्लैण्ड के खजाने में से किया जाना चाहिए था। किन्तु अंग्रेजों ने अपने विजय युद्धों के खर्चे के भार को भी भारत के मत्थे मढ़ दिया था। अतः यह भी एक प्रकार से भारत की सम्पत्ति की निकासी ही थी।

दादा भाई नौरोजी के अनुसार भारत से आर्थिक निकासी मुख्य रूप से निम्नलिखित मदों के कारण होती थी –

(क) यूरोपीय कर्मचारियों द्वारा अपने वेतन व भत्तों के रूप में एक भाग को अपने परिवारों के गुजारे एवं बच्चों की शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड भेजना। यह वास्तव में उपनिवेशी प्रशासन प्रणाली का अपना एक अवश्यंभावी परिणाम ही होता है।

(ख) कंपनी के कर्मचारियों द्वारा अपनी बचतों को इंग्लैण्ड भेजना क्योंकि अधिकांश कर्मचारी अपने गृह–देश में ही निवेश करना पसन्द करते थे।

(ग) ब्रिटिश कर्मचारियों द्वारा अपने उपभोग के लिए ब्रिटेन में बनी वस्तुओं को ही खरीदने के कारण ब्रिटेन को भुगतान।

(घ) सरकारी भण्डारों के लिए ब्रिटेन में बनी वस्तुओं को खरीदना।

(ङ) विभिन्न प्रकार के ऋणों पर ब्याज का भुगतान।

ऊपर बताई गई इन मदों के अन्तर्गत प्रेषित भुगतान ही मुख्य रूप से भारत के विदेशी व्यापार में निर्यात–आधिक्य के लिए उत्तरदायी थे और यह निर्यात–आधिक्य ही आर्थिक निकासी का प्रमुख माध्यम बना।

इस प्रकार अंग्रेज अपनी कुटिलतापूर्ण नीतियों एवं सत्ता के सहारे अनेक रूपों में भारतीय सम्पत्ति को इंग्लैण्ड ले जाते थे। भारत से इंग्लैण्ड की ओर ही सम्पत्ति का प्रवाह होता रहा, उसके बदले में इंग्लैण्ड की ओर से भारत को कुछ नहीं आया। अतः यह एक तरफा प्रवाह था जिससे भारत के खजाने खाली होते रहे और भारत दरिद्र बन गया।

आर्थिक निकासी के अनुमान

अंग्रेजी शासन के दौरान भारत से इंग्लैण्ड को कितनी मात्रा में सम्पत्ति का निकास हुआ इसके बारे में निश्चित व सही–सही आंकड़े तो नहीं दिए जा सकते किन्तु फिर भी अनेक विद्वानों ने इसके बारे में कुछ मोटे अनुमान देने का प्रयास किया है। इन अनुमानों में काफी कुछ भिन्नता पाई जाती है क्योंकि अलग–अलग समय पर अलग–अलग विद्वानों ने आर्थिक निकासी का अपने–अपने ढंग से अलग–अलग अर्थ लगाया था। इसके अलावा सभी विद्वानों के अनुमान एक ही समयावधि से सम्बन्धित न होकर अलग–अलग अवधियों से सम्बन्धित थे। इसके अलावा शायद आर्थिक निकासी की विभिन्न रूपों के बारे में उस समय ठीक–ठीक आंकड़ों के मिलने के बारे में कठिनाई भी रही होगी। किन्तु इन सबके बावजूद भी आर्थिक निकासी की धारणा के समर्थकों के लिए आवश्यक था कि वे आंकड़ों की सहायता से यह बताएं कि किस अवधि में भारत से कितनी सम्पत्ति का निकास हुआ है। आर्थिक निकास की अपनी बात को जब ये नेता आंकड़ों के माध्यम से रखते थे तो उसका प्रभाव विद्वानों द्वारा किये गए आर्थिक निकासी के कुछ अनुमानों के बारे में संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

आर्थिक निकासी की धारणा के प्रतिपादक स्वयं दादा भाई नौरोजी के अनुमान ही समय–समय पर बदलते रहे। इसका कारण यह था कि वे समय–समय पर आर्थिक निकासी की गणना के बारे में अपने आधारों को ही बदलते रहे। 1867 में उन्होंने बताया कि आर्थिक निकासी 80 लाख पौंड थी जबकि 1870 में बढ़कर एक करोड़ 20 लाख पौड हो गई। 1876 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पावर्टी आफ इण्डिया' में उन्होंने बताया कि रेल पथों के ब्याज को निकालकर 1835 से लेकर 1872 की अवधि के दौरान 359300000 पौंड के बराबर आर्थिक निकासी हुई थी अर्थात् 1835 से 1872 तक की अवधि के दौरान लगभग 97 लाख पौंड सालाना के हिसाब से आर्थिक निकासी हुयी थी। आगे चलकर नौरोजी के अनुसार ही 1893 में आर्थिक निकासी की राशि 25 करोड़ रुपये से अधिक की थी। 1905 में उन्होंने घोषणा की कि लगभग तीन करोड़ 40 लाख पौंड अथवा 51.5 करोड़ रुपये के मूल्य के सामान की प्रतिवर्ष देश से निकासी हो रही है।

जी.वी. जोशी के अनुसार 1834-1888 तक लगभग 66 करोड़ पौंड की देश से निकासी हो चुकी थी। उन्होंने यह भी बताया कि यह निकासी हर वर्ष बढ़ती जा रही थी और 1888 तक 25 करोड़ रुपये प्रति वर्ष तक पहुंच गई थी। 1901 में डी.ई. वाचा ने निकासी की राशि 30 से 40 करोड़ रुपये प्रति वर्ष बताई थी। एस.एन. बैनर्जी के अनुसार 19वीं शताब्दी के अन्तिम तीस वर्षों

में निकासी की औसत राशि 3 करोड़ पौंड प्रति वर्ष थी। आर.सी. दत्त के अनुसार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में निकासी की राशि लगभग 2 करोड़ पौंड प्रति वर्ष थी जबकि पृथ्वी चन्द्र राय के अनुसार यह राशि 6 से 7 करोड़ पौड़ प्रति वर्ष थी। उस समय के भारतीय विद्वानों ने भारत से सम्पत्ति की निकासी की गम्भीरता को प्रकट करने के लिए कई बार निकासी की मात्रा को राजस्व के अनूपात के रूप में भी बताया था। आर.सी. दत्त एवं अन्य अनेक विद्वानों ने इस आधार पर बताया कि भारत के राजस्व का लगभग आधा भाग विदेशों को निष्कासित हो जाता है।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही बताया था कि भारत से इंग्लैण्ड को सम्पत्ति की निकासी के अलग–अलग विद्वानों के अनुमानों में काफी बड़ा अन्तर पाया जाता है। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वास्तव में ब्रिटिश शासन के दौरान सम्पत्ति की कितनी निकासी हुई थी। उदाहरण के लिए विलियम डिग्बी के अनुसार व्यापार के सरकारी आंकड़ों में बताए गए निर्यात आधिक्य और निजी खातों पर साधनों के हस्तांतरण को मिलाकर प्लासी के बाटरलू के युद्ध के बीच भारत से इंग्लैण्ड में बैंकों को लगभग एक हजार मिलियन पौंड के बराबर राशि का स्थानांतरण हुआ था। इसके अनुसार औसतन 17.2 मिलियन पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से आर्थिक निकासी हुई थी। दूसरी ओर, एक अमेरिकन प्रोफेसर फर्बर (Ferbur) के अनुसार 1783-1798 की अवधि के दौरान लगभग 1.9 मिलियन पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से भारत से सम्पत्ति की निकासी हुई थी। अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि प्रो0 डिग्बी के आंकड़े काफी बढ़ा–चढ़ाकर दिए गए हैं। अतः प्रो0 फर्बर के अनुमान सत्यता के निकट जान पड़ते हैं। यदि हम दर के अनुसार आर्थिक निकासी की गणना करें तो 1757 से 1833 के बीच कुल मिलाकर लगभग 150 मिलियन पौंड के बराबर भारत से सम्पत्ति की निकासी हुई थी। 1833 में ईस्ट इंडिया कम्पनी को अपनी व्यापारिक गतिविधियां बन्द कर देनी पड़ी थी। भारत से हाम चार्जिज के रूप में जो आर्थिक निकासी हुई थी उसका आकलन प्रो. सी. एन. वकील ने सीमित–संतुलित आधार पर किया है। प्रो. वकील के आकलन के इस आधार को स्वीकार करते हुए यदि हम गणना करें तो 1834 से 1939 के बीच आर्थिक निकासी की मात्रा लगभग 850 मिलियन पौंड आती है।

इसके अलावा हम जानते हैं कि भारत पर इंग्लैण्ड के काफी बड़ी मात्रा में ऐसे ऋण थे जो या तो अनुत्पादक थे या जिनके बिना भी काम चलाया जा सकता था। अतः ऐसे ऋणों का भुगतान भी भारत की दृष्टि से एक तरह से सम्पत्ति की निकासी ही था। 1839 तक इस प्रकार के ऋणों का भुगतान भी लगभग 200 मिलियन पौंड के लगभग था। इस प्रकार कुल मिलाकर 1757 से 1939 तक केवल मात्र सरकार के खाते पर ही आर्थिक निकासी की मात्रा लगभग 1200 मिलियन पौंड के बराबर थी। यदि हम इसमें निजी तौर पर जो सम्पत्ति की निकासी हुई उसको भी शामिल करें तो यह मात्रा काफी अधिक हो जाती है।

भारत से सम्पत्ति की निकासी के बारे में लिखते हुए सन् 1838 में मोन्ट गुमरी मार्टीन (Mont Gomery Martin) ने बताया था कि भारत से लगभग 3 मिलियन पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से निकासी होती है। यदि हम तीन मिलियन पौंड की निकासी प्रतिवर्ष मान लेते हैं तो 12 प्रतिशत चक्रवर्ती ब्याज की दर के हिसाब से गणना करने पर तीस सालों में निकासी की मात्रा 724 मिलियन पौंड हो जाती है। और यदि हम और भी कम केवल 2 मिलियन पौंड के हिसाब से निकासी मान कर चलें तो भी यह पचास वर्षों ममें 840 मिलियन पौंड के बराबर हो जाती है।

इस प्रकार ब्रिटिश शासन क दौरान भारत से आर्थिक सम्पत्ति की निकासी के ऊपर बताये गए विभिन्न अनुमानों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि समूचे ब्रिटिश शासन के दौरान भारत से काफी बड़ी मात्रा में साधन व सम्पत्ति की निकासी हो रही थी। अलग–अलग विद्वानों द्वारा दिये गए अनुमानों में भले ही अन्तर होगा किन्तु इस बात पर तो सभी सहमत हैं कि अंग्रेजों ने अपने शासन और सत्ता का दुरुपयोग करते हुए भारत के साधनों को बेरहमी से लूटा था। अनेक प्रकारों एवं अनेक बहानों से वे भारत की सम्पत्ति को इंग्लैण्ड ले जाते थे और बदले में भारत को कुछ भी नहीं देते थे।

निकासी के आर्थिक दुष्परिणाम

जैसा कि हम प्रारम्भ में बता चुके हैं कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व जो भारत विश्व में अपनी सम्पन्नता एवं वैभव के लिए विख्यात था वह अंग्रेजी शासन के दौरान एक अत्यन्त निर्धन देश के रूप में बदल गया। आखिर यह सब क्यों और कैसे हुआ? इसके कारणों पर विचार करते हुए बहुत से भारतीय एवं अंग्रेज विद्वानों ने यह मत प्रकट किया था कि भारत की इस दरिद्रता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण भारत से साधन व सम्पत्ति की लगातार होने वाली निकासी ही था। दादा भाई नौरोजी ने तो इस निकासी को देश के सभी रोगों, दुःखों और दरिद्रता का वास्तविक प्रधान और यहां तक कि एक मात्र मूल कारण बताया था। इस संबंध में 1880 में अपना मत उन्होंने इन शब्दों में प्रकट किया था 'यह आर्थिक नियमों की क्रूर प्रक्रिया नहीं है बल्कि यह तो ब्रिटिश नीति की विवेकशून्य और क्रूर कार्यवाही है। यह भारत की धन सम्पत्ति की क्रूर निकासी है। संक्षेपतः यह भारत का रक्त चूसने के रूप में दुःखद ढंग से आर्थिक नियमों को विकृत करना है और इसके फलस्वरूप भारत को नष्ट करने का निर्मम प्रयास है।'

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन विद्वानों ने निकासी को देश की दरिद्रता का प्रमुख कारण क्यों माना था? इसके पीछे क्या और कौन–सा आर्थिक तर्क था। इस सम्बन्ध में भी उस समय के विद्वानों ने अपने विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट किया था। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं का यह मानना था कि निकासी से देश की केवल सम्पत्ति की ही हानि नहीं होती बल्कि इससे पूंजी की भी हानि होती है। उनके अनुसार जब देश की सम्पत्ति बाहर जाती है और इसके बदले में हमें कुछ नहीं मिलता तो इससे पूंजी संचय में बाधा उत्पन्न होती है। हम जानते हैं कि पूंजी विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। इसके अभाव में देश के श्रम व प्राकृतिक साधनों का कुशलतम उपयोग नहीं किया जा सकता। अतः आर्थिक निकासी पूंजी संचय के मार्ग में बाधा उपस्थित कर देश के आर्थिक विकास के मार्ग का अवरूद्ध कर रही है।

निकासी सिद्धांत के समर्थक विद्वान इस बात से भली भांति परिचित थे कि इस निकासी के परिणामस्वरूप देश के आय, उत्पाद व रोजगार स्तर पर भी विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। जब देश की सम्पत्ति बदले में कुछ प्राप्त किए बिना ही विदेशों में चली जाती है, तो इस देश को उस सम्पत्ति की मात्रा के बराबर नुकसान नहीं होता बल्कि उस देश उस सम्पत्ति के फलस्वरूप उत्पादन व रोजगार में होने वाली वृद्धि से भी वंचित हो जाता है। यदि हम आधुनिक केंजियन भाषा में कहें तो यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति की इस निकासी के परिणामस्वरूप भारत के लोगों की क्रय शक्ति एवं प्रभावी मांग कम होती गई। इसके परिणामस्वरूप निवेश प्रेरणा पर प्रतिकूल असर पड़ा। निवेश–प्रेरणा के कमजोर पड़ जाने के कारण देश का आय, उत्पादन व रोजगार स्तर भी गिर गया इसने फिर से देश की क्रय शक्ति व प्रभावी मांग को कम कर दिया। इस प्रकार यह सिलसिला चलता रहा और दो सौ सालों में अंग्रेजी शासन काल के दौरान सम्पत्ति की सतत निकासी के परिणामस्वरूप देश की आर्थिक गतिविधियां मंद व कमजोर पड़ गई और भारत एक पिछड़ी हुई, गरीब और गतिहीन अर्थव्यवस्था के रूप में बदल गया। आर्थिक सम्पत्ति की इस निकासी के किस प्रकार भारत के उत्पादन व रोजगार स्तर को प्रभावित किया था इसके बारे में आर.सी. दत्त ने इन शब्दों में टिप्पणी की थी। 'जब देश में उगाहे करों को देश में ही खर्च किया जाता है तो यह धन देश की जनता में परिचालित होता है। व्यापार उद्योगों एवं कृषि को परिपृष्ट करता है तथा किसी न किसी रूप में जनसाधारण के पास पहुंच जाता है परन्तु जब देश में वसूल किए करों को देश के बाहर प्रेषित कर दिया जाता है तो देश का वह धन देश के लिए सदा के लिए नष्ट हो जाता है। वह न तो देश के व्यापार अथवा उद्योगों को सम्पन्न बना पाता है और न ही किसी भी रूप में देश के जनसाधारण के पास पहुंच पाता है। भारत के राजस्व में से 20 मिलियन पौंड से भी अधिक की धनराशि का प्रतिवर्ष निकास हो रहा है। और यह आश्चर्यजनक ही होगा यदि यहि प्रक्रिया कई दशकों तक जारी रहे और उसके बाद भी संसार का सबसे सम्पन्न देश दरिद्र न बन जाए।

आर.सी. दत्त एवं कुछ अन्य भारतीय विद्वानों ने देश के करों को देश के बाहर विदेशों में खर्च करने पर देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों के समर्थन में श्री जार्ज विंगेट (Sir George/Wingate) की निम्नलिखित टिप्पणियों को उद्धृत किया है–

"किसी देश से वसूल किए गए करों को उसी देश में खर्च करने तथा देश से वसूल किए गए करों को दूसरे देश में खर्च करने में प्रभाव की दृष्टि से एक बड़ा अन्तर है। प्रथम स्थिति में जनता से वसूल किए गए करों का विशाल भाग सरकारी सेवा में लगे लोगों को ही वापिस मिल जाता है। उन लोगों के द्वारा प्राप्त धन जब खर्च किया जाता है तो वह फिर से मेहनतकश वर्गों के पास पहुंच जाता है। परन्तु वह स्थिति सर्वथा और पूर्णतया भिन्न होती है जबकि किसी देश से उगाहे गए करों को उसी देश में खर्च नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में यह देश के नागरिकों से दूसरे देश के नागरिकों को राष्ट्रीय आय के एक भाग का हस्तांतरण मात्र ही नहीं होता बल्कि करारोपित देश से निकाला गया धन उस देश के लिए भार और वास्तविक हानि होती है। जहां तक एक राष्ट्रीय उत्पादन पर इसके प्रभावों का सम्बन्ध है, सारे का सारा धन समुद्र में फेंका गया ही समझना चाहिए क्योंकि इसका कोई भी भाग किसी भी रूप में उस देश से करारोपित देश में वापिस नहीं आ पाता। भारत से हमनें अब तक जो कुछ भी कर (या नजराना) वसूल किया है उसकी प्रकृति इसी प्रकार की है।

श्री सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी और आर.सी. दत्त के अनुसार ब्रिटिश शासकों से तो वे स्वेच्छाचारी विलासिता प्रिय मुगल शासक ही अच्छे थे जो भारत से उगाहे गए करों को यहीं पर खर्च करते थे। वे भले ही भारी रकम सेना, चकाचौंध उत्पन्न करने वाले महल और स्मारक तथा विलासिता की वस्तुओं पर काफी बड़ी राशि खर्च करते थे, तो भी उन सबके परिणामस्वरूप देश के उत्पादकों को और कारीगरों को ही प्रोत्साहन और संपोषण मिलता था। किन्तु अंग्रेज शासकों ने भारत की जनता से कर उगाहकर उसके ब्रिटेन भेज दिया। यह तो सरासर भारत की सम्पदा की लूट ही थी। इस संबंध में श्री आर.सी. दत्त ने प्राचीन भारतीय विद्वानों के उस मत को उद्धृत किया है जिसके अनुसार राजा के द्वारा वसूल किया गया कर तो सूर्य द्वारा पृथ्वी से जल सोखने की तरह ही होता है जिसे सूर्य पृथ्वी से इस लिए लेता है ताकि उसे उपजाऊ वर्षा के रूप में फिर से पृथ्वी को लौटा दे। अतः राजा को भी जनता के कल्याण पर खर्च कर देना चाहिए। किन्तु यहां तो ब्रिटिश शासकों ने इसके बिल्कुल विपरीत ही आचरण किया था। उन्होंने तो भारत की धरती से करों के रूप में जल सोखकर उसे भारत को लौटाने की बजाए इंग्लैण्ड की धरती

पर वर्षा कर दी और वे उससे वहीं की सम्पन्नता बढ़ाते रहे। इससे जहां एक ओर भारत की धरती का जल सोखा जाता रहा वहां वर्षा के अभाव में भारत की उपज बढ़ाने की शक्ति भी कम होती रही और यही भारत की दरिद्रता का कारण बना।

इस प्रकार जब अंग्रेजी शासन के दौरान भारत से 2 से 3 मिलियन पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से सम्पत्ति की निकासी की बात की जाती थी तो उसका अर्थ मात्र इतना ही नहीं था कि भारत के कुल उत्पादन में से हर साल 2 या 3 मिलियन पौण्ड के बराबर वस्तुएं इंग्लैण्ड को चली जाती थी और भारत के लोग उससे वंचित हो जाते थे। वास्तव में इस निकासी का अधिक गहरा और दूरगामी परिणाम था। होता यह था कि 2 या 3 मिलियन पौंड के बराबर पूंजी या उत्पादन–क्षमता से देश वंचित हो जाता था। यदि यह सम्पत्ति देश में ही रहती ओर देश इसे देश की उत्पादन प्रक्रिया में योगदान करने दिया जाता तो इसके परिणामस्वरूप देश की सम्पत्ति में कई गुणा वृद्धि हो सकती थी। जिसे आगे चलकर केन्ज ने निवेश गुणक (Investment multiplier) का नाम दिया। वस्तुतः इस पूंजी के देश से बाहर चले जाने के कारण देश में निवेश गुणक' की प्रक्रिया ने विपरीत दिशा में काम करके देश के कुल उत्पादन के कई गुणा कम कर दिया था। इस प्रकार इस निकासी के फलस्वरूप देश आगे की दिशा में निवेश गुणक के लाभों से वंचित हो गया था।

भारतीय विद्वानों का यह भी मत था कि इस आर्थिक निकासी ने भारत के औद्योगिक विकास के मार्ग में भी बाधा खड़ी की थी। सम्पत्ति की निकासी के कारण देश में पूंजी संचय एवं पूंजी निर्माण की कमी होती चली गई। आधुनिक उद्योगों के विकास में पूंजी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक होती है, अतः पूंजी के अभाव में भारत के उद्योग प्रगति नहीं कर सके। इसके अलावा, जितनी मात्रा में भारत से सम्पत्ति इंग्लैण्ड को जाती थी उतनी मात्रा में भारत की क्रय शक्ति और उसके परिणामस्वरूप मांग भी कम हो जाती थी। मांग की कमी के कारण भी बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों में निवेश की प्रेरणा नहीं मिल पाती थी और यह भी भारत के उद्योगों के विकसित न होने का एक प्रमुख कारण था। दादाभाई नौरोजी ने इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए अंग्रेजी शासको पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए कहा था कि–जबकि अंग्रेज लोग भारत की मूल पूंजी का ही अपहरण कर रहे हैं तो फिर वे इस बात पर आश्चर्य क्यों प्रकट करते हैं कि भारत में उद्योगों की स्थापना नहीं हो रही है। दादाभाई नौरोजी ने तो यहां तक कहा कि भारत के पुराने उद्योगों की क्षति का आंशिक दायित्व भी निकासी पर है। ग्रेट ब्रिटेन ने भारतीयों का जीवन रक्त ही चूस लिया है। वे अब अपने उद्योगों को चलाने की स्थिति में नहीं हैं क्योंकि इसके लिए उनके पास साधन ही नहीं हैं।

निकासी का भारतीय अर्थव्यवस्था पर एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि इसने विदेश पूंजी को देश में घुसने और देश का शोषण करने का अवसर प्रदान कर दिया। निकासी ने यह काम दो प्रकार से किया। प्रथम, निकासी ने भारत के अनदर पूंजी संग्रह में बाधा पहुंचाकर और आन्तरिक पूंजी को पंगु बनाकर स्वदेशी प्रतियोगिता की संभावना को ही समाप्त कर दिया। इसके फलस्वरूप विदेशी पूंजीपतियों को भारत में आकर एकाधिकार जमाने और भारत के संसाधनों का शोषण करने का अवसर एवं सुविधा मिल गई। द्वितीय, भारत में जिस विदेशी पूंजी का निवेश किया गया वह वास्तव में निकासी के रूप में भारत से गई सम्पत्ति ही थी। इस प्रकार इंग्लैण्ड ने भारत से सम्पत्ति ले जा कर उसे ही फिर से अपनी पूंजी के रूप में भारत में निवेश कर दिया। यह निकासी ही उनकी पूंजी का सबसे बड़ा स्रोत बनी।

निकासी के परिणामस्वरूप देश के किसानों की दरिद्रता में भी वृद्धि हुई थी। आर.सी.दत्त का मत था कि निकासी एवं भूमि पर ऊंचे लगानों की पारस्परिक क्रिया क परिणामस्वरूप भारत के किसानों की दरिद्रता बढ़ती गयी। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि निकासी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सरकारी राजस्व से है और सरकारी राजस्व मं बहुत बड़ा भाग भूमि के लगानों का है। किसानों को भूमि के लगान का भूगतान करने के लिए अपनी उपज के एक बहुत बड़े भाग को बाजार में बेचना पड़ता है। किसना से प्राप्त लगान की राशि से ही अंग्रेज शासक इस कृषि उपज को खरीदकर भारत से निर्यात कर देते हैं। इस प्रकार लगान निकासी का माध्यम बनता है। इसका परिणाम यह है कि एक ओर तो किसान भारी भरकम लगानों के भुगतान के कारण दरिद्र बनता है तथा दूसरी ओर अन्न के अभाव में वह भूखों मरता है क्योंकि लगान चुकाने के लिए उसे अनाज बेचने को मजबूर होना पड़ता है। इस प्रकार भारत का गरीब किसान लगान और निकासी की दोहरी मार से पीड़ित है।

सम्पत्ति के एक पक्षीय हस्तांतरण के अलावा, निकासी के परिणामस्वरूप भारत को प्रतिकूल व्यापार शर्तों पर विदेशी व्यापार करने को मजबूर होना पड़ता था। भारत को होम चार्जिज, विदेशी ऋण, लाभांश आदि के रूप में इंग्लैण्ड को जो भुगतान करना पड़ता था उसके लिए जरूरी था कि वह अपने आयातों से अधिक निर्यात करे। भारत के लिए निर्यात बढ़ाना उसकी अपनी मजबूरी हो गयी थी। भारत को विदेशी क्रेताओं को अपना माल खरीदने को राजी करने के लिए अपने माल की कीमत घटानी पड़ती थी अथवा अन्य किसी प्रकार से उनको प्रलोभन देना पड़ता था। इस प्रकार निकासी के फलस्वरूप जिन शर्तों पर भारत आयात के बदले निर्यात करता था, वे सर्वथा इसके अनुकूल नहीं थी।

भारतीय विद्वानों एवं राष्ट्रीय नेताओं के अलावा अनेक विदेशी विद्वानों ने भी भारत से सम्पत्ति के निकासी के दुष्परिणामों को समझा था और इस संबंध में अपना मत व्यक्त किया था। गुमारी मार्टिन ने इस निकासी का वर्णन करते हुए कहा था कि यदि इंग्लैण्ड से इतनी बड़ी मात्रा में और लगातार सम्पत्ति की निकासी होती तो उसका आर्थिक विकास भी असम्भव हो जाता। उसने स्वीकार किया कि आधी शताब्दी तक हम भारत से दो से तीन तक और कभी–कभी तो चार मिलियन पौंड प्रतिवर्ष तक सम्पत्ति की निकासी करते रहे हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी मानवीय कुशलता के लिए यह संभव नहीं है कि भारत जैसे देश से तीन से चार मिलियन पौंड प्रतिवर्ष तक की लगातार की जाने वाले निकासी के बुरे प्रभावों को रोक सके।

सर जार्ज विंगेट ने भी स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि 'ग्रेट ब्रिटेन को दिया जाने वाला खिराज (Tribute) हमारी वर्तमान नीति का सबसे अधिक आपत्तिजनक भाग है।

मिल ने भी अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में लिखा कि, '...यह राष्ट्रीय उद्योग की शिराओं से जीवन रक्त निचोड़ने के समान है, जिसे बनाये रखने के लिए बाद में किसी भी प्रकार के पोषक तत्त्व नहीं दिए जाते।

कार्ल मार्क्स ने भी भारत से सम्पत्ति की निकासी की खुलकर आलोचना की थी और इसे चूसने की घनघोर प्रक्रिया बताया था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निकासी ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर अनेक दुष्प्रभाव छोड़े थे। इस निकासी ने भारत की बचत व निवेश करने की क्षमता को कम करके इसकी औद्योगित प्रगति को रोक दिया। इसने खिराज के भुगतान के लिए देश के खाद्यान्नों के निर्यात के लिए विवश किया जिसके फलस्वरूप देश की जनसंख्या एवं खाद्यान्नों की पूर्ति के बीच संतुलन बिगड़ गया। इसी के परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरर्ध में भारत में खाद्यान्नों की कीमतें ऊंची हो गई, अकाल बढ़ गए और देश में खाद्य संकट की समस्या उत्पन्न हो गई। कुल मिलाकर, यह निकासी भारत की दरिद्रता एवं पिछड़ेपन का कारण बनी।

निकासी की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

ब्रिटिश शासन के समर्थन बहुत से विद्वानों ने निकासी की अवधारणा को गलत, भ्रामक तथा ब्रिटिश शासन को जानबूझकर बदनाम करने वाला षडयंत्र बताया था। उनक अनुसार निकासी के जो भी अनुमान दिए गये थे वे सब तथ्यों को तोड़–मरोड़कर और बहुत बढ़ा–चढ़ाकर पेश किए गए थे ताकि ब्रिटिश शासन को बदनाम किया जा सके और उनके खिलाफ भारतीय जनता को भड़काया जा सके। इन आलोचकों ने निकासी सिद्धांत की आलोचना करते हुए यह बताया कि इसकी गणना करते समय जिन विभिन्न मदों को शामिल किया गया है वे वास्तव में भारत से सम्पत्ति की निकासी को बताती ही नहीं। उन्होंने इस अवधारणा की आलोचना प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्कों के आधार पर की है।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि निकासी को आयातों पर निर्यातों की अधिकता के रूप में परिभाषा किया गया था। इस परिभाषा के अनुसार समूचे निर्यात–आधिक्य को निकासी माना गया था। किन्तु आलोचकों के अनुसार जब निर्यात आधिक्य का भात तो अदृश्य आयातों क लिए किया जाने वाला भुगतान ही होता था। इन अदृश्य आयातों में जहाजरानी सेवाएं, बीमा और बैंक सेवाएं तथा भारतीय छात्रों और पर्यटकों द्वारा विदेशों में किया गया खर्चा शामिल होता था। इस प्रकार के अदृश्य आयातों के लिए भुगतान तो हर देश को करना पड़ता है, इसे निकासी नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार पूंजी खाते में कार्य व्यापार भी व्यापार संतुलन का गलत रूप प्रस्तुत करते थे। निर्यात अधिशेष की गणना करते समय निकासी सिद्धांत के पक्षधरों ने सोने और चांदी के भारी आयातों की ओर ध्यान नहीं दिया।

निकासी सिद्धांत के आलोचकों के अनुसार यह कहना भी गलत है कि निर्यात आधिक्य के बदले भारत कुछ भारत कुछ भी प्राप्त नहीं करता। निकासी में सबसे बड़ा हिस्सा विदेश ऋणों पर दिए जाने वाले ब्याज का था। भारत ने ये ऋण रेलों के निर्माण, सिंचाई साधनों, बागान तथा अन्य उद्योगों क विकास के लिए थे। अतः ऋणों से भारत में जो काम प्रारम्भ हुए उनसे भारत को बहुत लाभ हुआ। इन लाभों के बदले यदि भारत को ब्याज के रूप में थोड़ी सी रकम का भुगतान करना पड़ा हो तो उसे निकासी नहीं माना जा सकता। ये ऋण तो भारत के आर्थिक विकास और सम्पन्नता के सूचत थे न कि दरिद्रता के। यदि इन ऋणों के रूप में भारत को विदेशी पूंजी प्राप्त न हुई होती तो भारत का अनेक क्षेत्रों में विकास रूक गया होता। इसके अलावा भारत को ये ऋण कम ब्याज दर पर प्राप्त हुए थे। अतः इन ऋणों के लिए तो भारत के इंग्लैण्ड का आभार मानना चाहिए था। ऐसी स्थिति में इन ऋणों की अदायगी एवं ब्याज के भुगतान को निकासी कहना सर्वथा अनुचित ही है।

गृह–प्रभारों और यूरोपीय कर्मचारियों द्वारा अपनी बचतों को बाहर भेजने के बारे में निकासी सिद्धांत के आलोचकों का स्वर अवश्य कुछ मात्रा में दबा हुआ सा लगता था। किंतु इसे भी वे निकासी मानने के लिए तैयार नहीं थे और इसके लिए तो वे कुतर्क की सीमा तक आगे बढ़ गए से लगते हैं। उन्होंने कहा कि भारत को परिश्रमी, निस्वार्थ और योग्य ब्रिटिश अधिकारियों की जो

सेवाएं प्राप्त हुई तथा उन्होंने विदेशी आक्रमण से सुरक्षा तथा लोक कल्याण के लिए प्रशासन चलाने वाली जो उत्तम सरकार उपलब्ध कराई, उसके बदले में ही भारत को होम–चार्जिज और कर्मचारियों के वेतन आदि के रूप में कुछ खर्चा करना पड़ता था। यदि अंग्रेज विदेशी आक्रमणों से रक्षा करके शांति व आंतरिक सुरक्षा का वातावरण उत्पन्न न करते तो भारत में किसी भी प्रकार की प्रगति सम्भव ही नहीं थी।

इस प्रकार इन अंग्रेज विद्वानों के अनुसार भारत से इंग्लैण्ड को ऐसा कोई भुगतान नहीं किया जा रहा था जिसके बदले में उसे वस्तु या सेवा के रूप मं कुछ प्राप्त न हो रहा हो। अतः निकासी की अवधारणा आधारहीन कल्पना की उड़ान मात्र थी। भारतीय विद्वानों ने ब्रिटिश शासन के इन समर्थकों की सभी आलोचनाओं का जवाब देते हुए यह सिद्ध किया था कि निकासी की धारणा एक ठोस एवं वास्तविक धारणा है। उन्होंने निकासी की गणना करते हुए जो अनुमान लिए थे उनमें सोने–चाँदी के व्यापार को पहले ही शामिल नहीं किया था। निकासी सिद्धांत के समर्थक भारतीय विद्वान अदृश्य आयातों के लिए किए जाने वाले भुगतानों से भी भली–भांति परिचित थे। उन्होंने निकासी की गणना करते समय पहले से ही जहाजरानी के किराये और बीमे के व्यय आदि का ध्यान रखा था। बल्कि नौरोजी का तो यहां तक कहना था कि यदि निर्यातों के मूल्य में माल भाड़े और बीमें की रकम को जोड़ दिया जाए तो निकास की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाएगी। इसके अलावा उनका यह भी कहना था कि यदि कोई सेवा देश के लिए उपयोगी है तो निश्चित ही निकासी में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु यदि वह सेवा निरर्थक है अथवा भारत में उपलब्ध हो सकती है तो ऐसी विदेशी सेवा के लिए लिया गया भुगतान अवश्य ही निकासी का रूप है।

भारत के राष्ट्रवादी निकासी सिद्धांत के आलोचकों की इस बात से भी सहमत नहीं थे कि विदेशी ऋणों और विदेशी पूंजी से भारत को बहुत बड़ा लाभ मिला है और ये भारत के विकास और सम्पन्नता के सूचक हैं। उनका कहना था कि पहले तो भारत को विदेशी पूंजी की आवश्यकता ही नहीं। भारत को विदेशी पूंजी की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि अंग्रेज भारत की सम्पत्ति ले जाते रहे और इससे भारत में पूंजी संचयच कम हो गया। यदि भारत की सम्पत्ति को भारत में ही रहने दिया गया होता तो भारत को रेल व अन्य कामों के लिए ब्रिटिश पूंजी मांगने की जरूरत ही नहीं पड़ती। यह विदेश पूंजी एक तरह से भारत से गई हुई पूंजी मांगने की जरूरत ही नहीं पड़ती। यह विदेश पूंजी एक तरह भारत से गई हुई पूंजी ही थी। अंग्रेज अनेक बहानों से भारत की सम्पत्ति को भारत से बाहर ले जाते रहे ओर फिर उसी की विदेशी पूंजी और ऋणों के रूप में भारत को आपूर्ती कर दी और उस पर ब्याज लाभांश भी लेते रहे। भारत द्वारा इंग्लैण्ड के लिए गए रेलवे व अन्य ऋणों पर दिए गए ब्याज को निकासी न माना जाता यदि ये ऋण भारत ने अपनी इच्छा से लिए होते। किन्तु ये ऋण तो भारत पर जबरदस्ती लाद दिए गए थे उन पर दिए जाने वाली ब्याज की दर भी बहुत ऊंची और मनमानी तय की गई थी। इन ऋणों की अद्‌भुत विशेषता यह भी थी कि इंग्लैण्ड ने ये ऋण उसी पूंजी में से दिए थे जो पूंजी किसी न किसी बहाने भारत से ही इंग्लैण्ड को गई हुई थी। इस प्रकार शुरू की निकासी बाद में और अधिक निकासी को जन्म दे रही थी। इसी बात को समझाते हुए दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि पहले तो भारत की अपनी ही सम्पत्ति यहां से बाहर ले जाई गई और फिर उसी सम्पत्ति को ऋणों के रूप में भारत वापिस भेज दिया गया। इन ऋणों के लिए भारत को ब्याज के रूप में फिर काफी बड़ी रकम का भुगतान करना पड़ा। इस प्रकार यह समूची प्रक्रिया एक विषम–चक्र के रूप में चलती रही और भारत का शोषण करती रही। इसके अलावा भारतीय नेताओं का यही भी मत था कि विदेशी पूंजी का जिन क्षेत्रों में निवेश किया गया था उसका उद्देश्य भारत का हित न होकर ब्रिटेन का हित था। अतः इस पूंजी निवेश से भारत को उतना लाभ प्राप्त नहीं हुआ जितना लाभ ब्रिटिश शासक बढ़ा–चढ़ाकर बताते थे। उदाहरण के लिए रेलों ने भारत को लाभ पहुंचाने की बजाय ब्रिटिश व्यापार और ब्रिटिश प्रशासन को अधिक लाभ पहुंचाया।

इस प्रकार भारतीय विद्वानों ने निकासी सिद्धांत के आलोचकों के एक–एक तर्क का जवाब देते हुए हर प्रकार से सिद्ध किया कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत से निश्चित ही काफी बड़ी मात्रा में सम्पत्ति की निकासी हुई थी। सम्पत्ति की निकासी कितनी मात्रा में हुई और इसमें किस–किस मद को शामिल किया जाना चाहिए। इस बात को लेकर तो मतभेद हो सकता है किन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि अंग्रेज अपने शासन का नाजायज फायदा उठाते हुए भारत की सम्पत्तित्त को भारत के बाहर धकेलते रहे। ब्रिटिश शासन का यह शायद क्रूरतम आर्थिक आक्रमण था जिसने निश्चित ही भारत की सम्पत्ति का हरण कर उसे दरिद्र बना दिया था।

अध्याय - 2(a) **वित्तीय - व्यवस्था**

सीमा शुल्क नीति
(Tariff Policy)

मुक्त व्यापार की नीति

सीमा–शुल्क नीति किसी देश के उद्योगों को संरक्षण देने और फलस्वरूप उनके विकास में कफी सहायक सिद्ध होती है। सभी औद्योगिक राष्ट्रों ने समय–समय पर अपने नवोदित उद्योगों को संरक्षण देने के लिए इसके अनुरूप सीमा–शुल्क नीतियां तय की। इसका एक मोटा सा सिद्धांत यह है कि अगर कोई राष्ट्र अपने उद्योगों को दूसरे देशों के उद्योगों की प्रतियोगिता से बचाना चाहता है तो उसे दूसरे देशों से आने वाले उद्योग–धंधों के उत्पादित माल पर ज्यादा दर से आयात–शुल्क लगाकर अपने उद्योगों की रक्षा करनी चाहिए। अधिक आयात शुल्क लगाने से उस देश के उद्योगों का माल घरेलू मंडियों में महंगा बिकेगा और देशी उद्योग ज्यादा आसानी से राष्ट्रीय मंडियों में उससे प्रतियोगिता कर पायेंगे। लेकिन अंग्रेज सरकार ने प्रथम विश्व युद्ध के पहले तक देशी भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की कोई जरूरत ही महसूस नहीं की। चूंकि उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड सबसे औद्योगिकृत तथा अग्रणी राष्ट्र बना रहा इसलिए इसे स्वयं दूसरे राष्ट्रों की प्रतियोगिता का उतना अधिक डर नहीं था। सिद्धांत रूप में ब्रिटिश सरकार ने मुक्त व्यापार की नीति का अनुसरण किया। इसका अर्थ था कि इंग्लैण्ड व्यापार की तथाकथित स्वतंत्रता के लिए न दूसरे देशों के औद्योगिक माल पर आयात–शुल्क लगायेगा और न इसलिए वे देश उसके माल पर आयात शुल्क लगाये। यह मुक्त व्यापार नीति केवल ऊपर से देखने पर समानता की नीति थी। जैसा कि हम अनयत्र देख चुके हैं कि अंग्रेज सरकार ने भारत में अपने सैन्य, रेलवे तथा अन्य सरकारी गोदामों के लिए औद्योगिक माल खरीदारी में भेदभाव वाले स्टोर रूल्स (Store rules) अपनाये जिसके तहत इंग्लैण्ड के उद्योग का साजो–सामान ही अंग्रेज सरकार खरीदती थी। इसी तरह भारत में अंग्रेज उद्योगपतियों के दबाव में ही सीमा–शुल्क नीति निर्धारित करती रही। 1870-1900 के मध्य ज्यादातर नये औद्योगिकरण की राह पर बढ़े राष्ट्र जैसे आस्ट्रेलिया, जापान, अमेरिका, कनाडा और रूस आदि सामान्यतया अपने उद्योगों की रक्षा के लिए सीमा–शुल्क की ऊँची दीवार का निर्माण कर रहे थे लेकिन अंग्रेजी सरकार ने फिर भारत के संदर्भ में, देशी सूती मिल उद्योग को कोई संरक्षण देने की कोशिश नहीं की। इसके पीछे औपनिवेशिक हित या भारत और चीन जैसे देशों में अपने माल के लिए मंडियों को सुरक्षित रखना ही उनका लक्ष्य था। 1896 में जोजेफ चैम्बरलेंन ने कहा था कि "साम्राज्य हमारा व्यापार ही है" "(Empire is commerce)" हालांकि कई बार औपनिवेशिक सरकार के बढ़ते खर्चों के दबाव में बजट और वित्त के घाटे से निपटने के लिए अस्थायी सीमा–शुल्क जरूर लगाये लेकिन यह कोई स्थायी कदम नहीं था। यह राजस्व इकट्ठा करने के लिए किया जाता था और बाद में वित्तीय घाटा पूरा होने पर आयात–शुल्क ही हटा दिया जाता था। बीसवीं सदी में, राष्ट्रीयवादी आंदोलन के दबाव तथा अन्य तत्कालिक (विशेष रूप से प्रथम विश्वयुद्ध से जन्मी आर्थिक कठिनाईयों) कारणों से ही अंग्रेज सरकार की 'मुक्त व्यापार' की नीति का अंत होता है।

उन्नीसवीं सदी के शुरू से ही अंग्रेज सरकार ने एक–तरफा भेदभाव वाला मुक्त व्यापार हिन्दुस्तान के साथ शुरू किया था। जहां इंग्लैण्ड से भारत आयात किये गये सूती तथा रेशमी कपड़ों पर मात्र 3.5% की दर से कर लगाया जाता था वहीं भारत के सूती कपड़ों पर 10%, रेशमी कपड़ों पर 20% तथा ऊनी कपड़ों पर 30% की दर से आयात–शुल्क इंग्लैण्ड में प्रवेश पाने के लिए देना पड़ता था। 1848 में इंग्लैण्ड से आने वाले औद्योगित पदार्थों पर जिनमें सूती कपड़े भी शामिल थे– 3.5 से 5% की दर से आयात शुल्क लगाया गया था। यहीं आयात–शुल्क गैर–ब्रिटिश आयातों पर दुगनी दर पर लगाया गया था। यह कदम ब्रिटिश सरकार का अपनी औपनिवेशिक मंडी पर नियंत्रण स्थापित करने का तरीका था। 1859 तक आयात शुल्क की यही दरें बनाये रखी गयी। 1857-59 के बीच ब्रिटिश सरकार को 1857 के विद्रोह को दबाने के लिए सैन्य खर्चे करने पड़े थे। सरकार की वित्तिय स्थिति इस समय बहुत नाजुक थी और सरकार को किसी भी जरिए से राजसव से आय बढ़ानी थी। इस स्थिति में 1859 में सामान्य आयात शुल्क 5% से बढ़ा कर 10% कर दिया गया और आयात किये जा रहे सूत पर आयात शुल्क 3.5% से बढ़ा कर 5% कर दिया गया। 1860 में धागे और सूत पर भी आयात–शुल्क की दरें बढ़ाकर 10% कर दी गई। लेकिन 1862 तक आते–आते जब सरकार की वित्तिय स्थिति जब सुधरी तो पुनः सूती कपड़ों पर आयात शुल्क 5% तथा सूत पर 3.5% कर दिया गया। 1863 में रेलवे–निर्माण की गति बढ़ाने के लिए ब्रिटिश सरकार को इंग्लैण्ड की नीजि रेल कम्पनियों को प्रोत्साहन देने के लिए एक और कदम उठाना पड़ा। लोहे एवं इस्पात क आयात पर आयात शुल्क 10% से कम करक मात्र 1% कर दिया

गया। इस समय इंग्लैण्ड दुनिया की मंडियों को 3/4 वां हिस्सा लोहा अकेले ही निर्यात कर रहा था और 1870-1885 तक इंग्लैण्ड लौह–इस्पात का सबसे बड़ा उत्पादक देश बन रहा था इसलिए यह डर भी नहीं था कि दूसरे औद्योगिकृत राष्ट्र भारत की मंडियों पर कब्जा कायम करने की कोई कोशिश करेगें। 1862-1863 से लेकर 1878 तक ब्रिटिश सरकार ने आयात शुल्कों की दरों में कोई परिवर्तन नहीं किया। इस अवधि में हांलाकि इंग्लैण्ड का सूत कपड़ा उद्योग 1866-67 के बाद संकट के दौर से गुजर रहा था। 1870 के दशक में उद्योग की हलात सुधर रही थी लेकिन इस समय लंकाशायर के उद्योगपतियों ने अपने सूती कपड़ों पर लगाये जा रहे आयात शुल्क का विरोध करना शुरू किया। उनका तर्क था कि इससे पश्चिमी भारत विशेषकर बम्बई में अभर रहे सूती मिल उधोग को अनावश्यक संरक्षण मिलता है। 1874 में मैनचेस्टर चैम्बर्स ऑफ कामर्स ने सैक्रेटरी ऑफ स्टेट, लॉर्ड सेलीसबरी को एक ज्ञापन दिया और इंग्लैण्ड से भारत को भेजे जा रहे सूती कपड़े पर आयात शुल्क हटाने की माँग की। सैक्रेटरी ऑफ स्टेट ने उन्हें आश्वासन दिया कि धीरे–धीरे करके ये आयात शुल्क हटा लिये जाएंगें।

1877 में वायसराय नार्थब्रुक ने आयात शुल्क हटाना ये कह कर टाल दिया कि वित्तिय मजबूरियाँ ऐसी हैं कि संभव नहीं होगा। लेकिन लंकाशायर और मेनचेस्टर के पूँजीपतियों ने ब्रिटिश संसद पर दबाव बनाये रखा। 1877 में ब्रिटिश संसद के निम्न सदन, हाऊस ऑफ कॉमन्स ने एक प्रस्ताव पास किया कि भारत में वे आयात–शुल्क हटा लिये जायेंगें जिससे वहां के घरेलू उद्योग को संरक्षण प्राप्त होता है। 1878 में लॉर्ड लिट्टन ने मोटे किस्म के सूती वस्त्रों पर से आयात–शुल्क खत्म कर दिया। भारतीय सूती मिलें इस समय सूत का तथा मोटे किस्म के कपड़े का उत्पादन कर रही थी अतः लिट्टन के इस कदम का देशी सूती मिलों पर बुरा असर पड़ा। 1882 में लॉर्ड रिपन वायसराय बने और इस तथाकथित 'उदारवादी' प्रशासन ने 'मुक्त व्यापार' की नीति को लागू करने की घोषणा की। नमक तथा शराब को छोड़कर उन्होंने विदेशों से (विशेषकर ब्रिटेन से) होने वाले आयतित माल पर आयात शुल्क बिल्कुल हटा दिया। इससे ब्रिटिश सरकार को भारत में प्रतिवर्ष राजस्व के रूप में 12,19,000 पौंड का नुकसान हुआ। लेकिन यह कदम ब्रिटिश उद्योगपतियों के हित में था इसलिए सरकार ने यह नुकसान सह लिया। 1882 से 1894 की बीच पूर्ण मुक्त व्यापार का काल था लेकिन इसका एक परिणाम यह हुआ कि इस अवधि में रूपये का अवमूल्य तेजी से होने के कारण सरकार पर वित्तिय बोझ बढ़ता जा रहा था। सरकार घाटे को पूरा करने के लिए 1888 में नमक पर कर बढ़ा दिया गया था पैट्रोलियम पर भी नया आयात शुल्क लगाया गया था लेकिन इसके बावजूद 1894 के सरकार के बजट में 3.5 करोड़ रुपये का घाटा था। इस बजट के घाटे की पूर्ति करने के लिए राजस्व प्राप्ति करने के लिए सरकार ने 5% की दर से एक सामान्य आयात शुल्क सभी आयातों के ऊपर लगा दिया हांलाकि रेलवे के साजो–सामान को आयात–शुल्क से मुक्त रखा गया और लोहे तथा इस्पात पर केवल नाममात्र का 1% आयात–शुल्क ही लगाया गया। लंकाशायर के पूंजीपतियों के हितों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 5% का एक उत्पादन शुल्क (Excise duty) भी भारतीय सूती कपड़ों के उत्पादन पर साथ–ही–साथ लगा दी। 1896 में लंकाशायर के दवाब में आकर सरकार ने सूती कपड़ों के आयात पर शुल्क घटा कर 3.5% करना पड़ा। भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने देशी सूती मिलों पर लगाये गये उत्पादन–शुल्क की तीखी आंलोचना की। आर.सी. दत्त ने कहा कि इससे भारतीय सूती कपड़ों के निर्माताओं को चीन और जापान के साथ प्रतियोगिता करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। बम्बई में मिल मालिकों के संगठन ने भी इसे हटाये जाने की माँग की लेकिन सरकार ने 1896 में इसे लंकाशायकर से आयतित कपड़े पर लगाये गये आयात शुल्क के समतुल्य 3.5% कर दिया और स्पिनिंग मिलों से सूत–उत्पादन पर शुल्क खत्म कर दिया। इसके बाद प्रथम विश्वयुद्ध तक सीमा–शुल्क की नीति में कोई बदलाव नहीं लाया गया।

विभेदकारी संरक्षण एवं औद्योगीकरण

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय उद्योगों के प्रति सरकार की नीति में कुछ परिवर्तन आया। सरकार से भारतीय उद्योगों को एक सीमा तक संरक्षण देना स्वीकार किया और इसके लिए सरकारी ने विभेदकारी राजकोषीय संरक्षण की नीति अपनाई। ऊपर से तो यह ब्रिटिश उद्योगों के मुकाबले भारत के नए–नए ही शुरू हुए उद्योगों को संरक्षण व सहायता देने के लिए अपनाई गई थी किन्तु इस नीति को भी अंग्रेज सरकार ने जिस चालाकी और आधे–अधूरे मन से लागू किया उससे भारतीय उद्योगों को कोई विशेष लाभ नहीं मिल सका। कई मामलों में तो ऐसा भी हुआ कि भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के नाम पर उसके लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों को ही मिले। इस प्रकार संरक्षण की इस नीति को भी भारत की बजाय ब्रिटिश हितों को पूरा करने वाली ही बना लिया गया। अतः यहां हमें अंग्रेजों की इस संरक्षण नीति की गहराई में जाकर जांच करनी होगी और यह समझना होगा कि इसने भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया को कैसे और कहां तक प्रभावित किया।

1918 के भारतीय औद्योगिक आयोग ने भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण की नीति अपनाने का सुझाव दिया था। कुछ वर्षों से देश के राष्ट्रवादी नेता एवं भारतीय उद्योगपति भी संरक्षण की मांग कर रहे थे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए काफी सोच–विचार के बार सरकार ने अक्तूबर 1921 में प्रथम राजकोषीय आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में अथवा अनुचित विदेशी प्रतियोगिता के दबावों से बचाने के लिए कुछ उद्योगों को राजकोषीय संरक्षण

देने की नीति बनाई। इस संरक्षण की नीति में यह कहा गया कि जो उद्योग निम्नलिखित तीन कसौटियों को पूरा करेंगे उन्हें सरंक्षण दिया जाएगा।

(1) उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक लाभ प्राप्त होने चाहिए जैसे कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती बिजली, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और बड़ा विस्तृत घरेलू बाजार;

(2) यह उद्योग ऐसा हो जिसके लिए संरक्षण के बिना बिल्कुल भी विकसित हो पाना सम्भव न हो अथवा उतनी तेजी से विकसित हो पाना सम्भव न हो जितना देश के हित में आवश्यक है।

(3) यह उद्योग ऐसा भी होना चाहिए जो अन्ततोगत्वा संरक्षण के बिना ही विश्व प्रतियोगिता का मुकाबला कर सकने की क्षमता रख सकता है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राजकोषीय आयोग द्वारा संरक्षण के लिए बताई गई ये तीनों कसौटियां तर्क संगत हैं और काफी आवश्यक हैं। ऐसी किसी भी उद्योग को संरक्षण देना जिसमं विकास की क्षमता ही न हो और जो संरक्षण दे देने के बाद भी विश्व प्रतियोगिता में टिक पाने की क्षमता न रखता हो, आर्थिक दृष्टि से गलत ही कहा जाएगा। किन्तु इस त्रिसूत्री सिद्धांत में इस बात की ओर ध्यान नहीं रखा गया कि कभी–कभी कुछ मामलों में आर्थिक तर्कों की भी अनदेखी करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए ऐसे उद्योग को कभी–कभी काफी लम्बे समय के लिए संरक्षण देना पड़ता है जो या तो देश की सुरक्षा की दृष्टि से देश आवश्यक है अथवा जो एक ऐसा आधारभूत उद्योग है जिसका राष्ट्रीय हित की दृष्टि से देश के भीतर ही विकास करना होता है। इसके अलावा जब देश में काफी बड़ी मात्रा में बेरोजगारी अथवा अल्प रोजगार की स्थिति हो तब भी केवल योग्य उद्योगों को ही संरक्षण देने के तर्क से चिपका नहीं रहा जा सकता।

विभेदकारी संरक्षणकारी नीति के विरोध में ऊपर दिए गए सामान्य तर्कों के अलावा भारत सरकार की 1923-39 के बीच की नीति की इसलिए भी आलोचना की गई कि उसने राजकोषीय आयोग द्वारा बताई गई कसौटियों को बहुत ही कठोर और असहानुभूति तरीके से लागू किया। उदाहरण के लिए उसने किसी उद्योग को केवल इसलिए संरक्षण देने से मना कर दिया क्योंकि उसक पास उसके लिए आवश्यक अनेकों प्रकार के कच्चे माल में से केवल एक कच्चा माल उपलब्ध नहीं था जबकि दूसरी ओर उन्हीं दिनों जापान में ऐसे उद्योगों को संरक्षण दिया गया और उन्होंने सफलतापूर्ण काम भी किया जो अपना सारा कच्चा माल बाहर से आयात करते थे। वास्तव में राजकोषीय आयोग की मंशा यह नहीं थी कि उसके प्राकृतिक लाभों वाले प्रथ्याम सिद्धांत की इतनी कठोर और शाब्दिक व्याख्या की जाए, किन्तु भारत सरकार ने तो बहुत छोटे–छोटे बहाने बनाकर अनेकों उद्योगों की संरक्षण की प्रार्थना को अस्वीकार कर इस नीति की वास्तविक मंशा को ही समाप्त कर दिया।

संरक्षण प्रदान करने के लिए अधिकारियों ने जो तरीका अपनाया वह भी काफी असन्तोषजनक था। राजकोषीय आयोग ने तो संरक्षण प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले उद्योगों के प्रार्थना पत्रों पर विचार करने के लिए एक स्थाई प्रशुल्क मण्डल बनाने की सलाह दी थी किन्तु सरकार तो अस्थाई प्रशुल्क बोर्ड ही बनाती थी जो किसी उद्योग विशेष के संरक्षण के मामले पर विचार करने के बाद भंग कर दिया जाता था। इससे एक ओर तो प्रशुल्क बोर्ड की मशीनरी ठीक से काम नहीं कर पाती थी दूसरी ओर प्रशुल्क बोर्ड में काम करने वाले कर्मचारियों को पिछले अनुभवों का पूरा–पूरा लाभ नहीं मिल पाता था, क्योंकि अलग–अलग उद्योगों के लिए अलग–अलग प्रशुल्क बोर्ड बनता था। अतः यह विभिन्न उद्योगों के बीच ठीक से तालमेल भी नहीं बिठा पाता था। इस नीति के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में अधूरा, असंतुलित और विकृत विकास हुआ। इसके अलावा किसी भी उद्योग को संरक्षण तब दिया जाता था जब वह संरक्षण पाने के लिए स्वयं आगे होकर प्रार्थना पत्र देता था। सरकार ने स्वयं कभी भी देश की औद्योगिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी उद्योग को संरक्षण देने की पहल नहीं की।

इन सब सीमाओं के बावजूद सरकार की विभेदकारी संरक्षण की नीति ने निश्चित ही औद्योगित विकास को आगे बढ़ाने में कुछ मदद की। संरक्षण की इस नीति के तहत सबसे पहले लोहा व इस्पात उद्योग को 1924 में संरक्षण दिया गया। इसके बाद तो अनेकों उद्योगों को संरक्षण दिया गया जैसे 1925 में कागज उद्योग को, 1926 व 1930 में सूती वस्त्र उद्योग को, 1928 में माचिस उद्योग को,1931 में भारी रसायत उद्याग को, 1932 में चीनी उद्योग को और 1934 में सिल्क उद्योग को संरक्षण दिया गया। कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण उद्योग रहे जिन्हें संरक्षण दिया जाना चाहिए था किन्तु नहीं दिया गया, जैसे सीमेंट, शीश एवं पैट्रोलियम उद्योग। यहां यह बात ध्यान देने की है कि 1924 में लोहा उद्योग को संरक्षण मिल जाने के बाद कई अनय उद्योगों ने भी संरक्षण के लिए प्रार्थना पत्र दिए। अधिकांश मामलों में इन आवेदनों को मंजूर नहीं किया। क्या यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि सीमेंट और पैट्रोलियम जैसे उद्योगों के आवेदनों को तो नामंजूर कर दिया गया और माचिस उद्योग के आवेदन पत्र स्वीकार कर लिया गया। वास्तविकता यह थी कि भारत के माचिस उद्योग में अधिकांश विदेशी पूंजी को ही संरक्षण दिया था। इसमें भारत का हित कम विदेशी हित ही अधिक था।

उन दिनों भारत सरकार की राजकोषीय संरक्षण की नीति से सम्बन्धित जो एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा सामने आया वह था शाही साम्राज्य से आने–जाने वाले सामानों को रियायत देने का मुद्दा। भारत की जनता तो इस मत की थी कि सभी सामानों पर एक जैसी दर से ही आयात व निर्यात कर लगे चाहे वे फिर किसी भी देश से आये अथवा किसी भी देश को जाये। किन्तु अंग्रेजों की शाही रियायत की नीति के अनुसार ब्रिटेन तथा ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र के देशों से आने अथवा उनको जाने वाले सामान को खास प्राथमिकता दी जानी चाहिए थी। 1920 में शाही रियायत की इस नीति को एक छोटे–से रूप में पहले से ही लागू किया जा चुका था जबकि ब्रिटेन एवं ब्रिटिश क्षेत्रों को हड्डियों व खालों के निर्यात पर अन्य देशों की तुलना में कम दर से शुल्क लगता था। जब राजकोषीय आयोग ने भारत के लिए संरक्षणात्मक प्रशुल्क नीति का सुझाव दिया तो शाही रियायत का यह प्रश्न और अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। ब्रिटेन से आने वाले आयातों को रियायत देने की नीति का भारत के लोगों ने इस आधार पर विरोध किया कि ऐसा करने पर तो संरक्षण नीति की प्रभोत्पादकता ही समाप्त हो जाएगी और यह तो भारतीय उपभोक्ताओं की भारत पर ब्रिटिश उत्पादकों की सहायता करने जैसा होगा। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका जैसे ब्रिटिश आधिपत्य वाले देशों से आयातों को विशेष रियायत देने का तो राजनीतिक आधार पर भी विरोध किया गया। उनका कहना था कि जब तक ये देश अप्रवास एवं निवासी बनने के मामले में एशिया विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं तब तक भारत भी उनके निर्यातों के मामले में उदार नहीं हो सकता। किन्तु इन सब विरोधों के बावजूद भारत सरकार ने 1924-25 के दौरान देश के प्रशुल्क कानूनों में शाही रियायतों के उपयों को शामिल कर दिया। जब 1924 में स्टील के आयात पर संरक्षणात्मक शुल्क लगाया गया था तब गैर ब्रिटिश देशों के मुकाबले ब्रिटेन के आयात पर शुल्क की दर कम रखी गयी थी। इसी प्रकार सूती कपड़े के सामने में ब्रिटेन से आने वाले आयातों को शुल्क में विशेष रियायतें दी गई थीं।

1932 में ओटावा में जो समझौते हुए उन्होंने तो शाही रियायतों की इस नीति को और भी अधिक पक्का कर दिया। ओटावा समझौते के अनुसार ब्रिटिश बाजारों में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों की वस्तुओं को प्रवेश करने देने की सुविधा प्राप्त की गई थी और उसके बदले ब्रिटिश वस्तुओं के आयातों को रियायतें दी गई थीं। भारत और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों के बीच 20 अगस्त 1932 को यह समझौता हुआ था। इस समझौते के अनुसार ब्रिटिश बाजारों में भारत की निम्नलिखित वस्तुओं को बिना शुल्क के प्रवेश करने की इजाजत मिली; कपड़े व जूट से बनी वस्तुएं, कमायी गई हड्डियां व खालें, चावल, चाय, काफी, मूंगफली, मैगेनीज, मैग्नेशियम क्लोराइड, गैर जरूरी वनस्पति तेल आदि। उसके बदले भारत ने ब्रिटेन से मोटर वाहनों के आयात पर 7½ प्रतिशत तथा अन्य अनेकों प्रकार की वस्तुओं के आयात पर 10 प्रतिशत की दर से रियायत देना स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन से आने वाले सूती कपड़े तथा लोहा व इस्पात की वस्तुओं को रियायतें देने का भी इस समझौते में प्रावधान किया गया था। इस समझौते के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि विश्वव्यापी महामंदी से उत्पन्न जबरदस्त प्रतियोगिता के वातावरण में केवल इस प्रकार द्विपक्षीय समझौते के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि विश्वव्यापी महामंदी से उत्पन्न जबरदस्त प्रतियोगिता के वातावरण में केवल इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौतों के माध्यम से ही भारतीय निर्यातों को बनाये रख पाना संभव हो सकता था। ब्रिटेन द्वारा भारतीय सामानों के आयात में वृद्धि हुई और 1931-32 में यह 35.5 प्रतिशत से बढ़कर 1934-35 में 40.6 प्रतिशत हो गई। जापान तथा ब्रिटेन के अलावा अन्य देशों के सूती सामान पर शुल्क 50 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। 1933 में जबरदस्त व्यापारिक होड़ के दौरान एक समय तो इसे बढ़ाकर 75 प्रतिशत तक कर दिया गया था। दूसरी ओर, ब्रिटेन के सूती सामानों पर शुल्क घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया गया। 1933 में शुल्क बोर्ड की रिपोर्ट ने शाही सामानों के प्रति बरती जाने वाली रियायत के विरूद्ध अपना मत व्यक्त किया था लेकिन सरकार ने इसकी अवहेलना कर दी और रियायत की नीति जारी रखी।

कुल मिलाकर ओटावा समझौते के तहत चलने वाली शाही सामानों की रियायत की नीति भारत के लिए संतोषजनक नहीं हुई। इस नीति के कारण भारत में ब्रिटेन के निर्यात तो बहुत तेजी से बढ़े जबकि ब्रिटेन को भारत के निर्यातों में बहुत थोड़ी–सी ही वृद्धि हुई। इस समझौते के कारण भारत के साथ व्यापार में सहयोगी यूरोप एवं उत्तरी अमरीका के देशों के मन में असंतोष उत्पन्न हो गया। वस्तुतः इस समझौते ने भारतीय अर्थव्यवस्था के बजाय ब्रिटिश उद्योगों को ही अधिक लाभ पहुँचाया था। जब 1936 में इस समझौते को नवीनीकरण के लिए रखा गया तो भारतीय विधान सभा ने इसकी शर्तों का जमकर विरोध किया और परिणामस्वरूप समझौता रद्द कर दिया गया। किन्तु भारतीयों के विरोध के बावजूद मार्च, 1939 में एक नया भारत–ब्रिटिश समझौता कर लिया गया। यद्यपि इस समझौते में ब्रिटिश आयातों को दी जाने वाली रियायतों के क्षेत्र को काफी कर दिया गया था किन्तु उस समय के राजनीतिक वातावरण में भारतीय जनता ऐसे किसी समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी जो गैर ब्रिटिश देशों की तुलना में ब्रिटिश आयातों को कुछ भी विशेष रियायत देता हो।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 1923-39 वाली राजकोषीय नीतियां ही जारी रहीं। विदेशों से आयात बन्द हो जाने के कारण भारत में कई नये उद्योग शुरू होते जा रहे थे। इन उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने जून 1940 में राजकोषीय नीति में उदारता बरतने की घोषणा की। नये उद्योगों को इस बात का आश्वासन दिया गया कि यदि वे सुदृढ़ धरातल पर काम करते

रहेंगे तो उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा की जाएगी। यह युद्ध से पहले की नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था। किन्तु एक अर्थ में यह आश्वासन कोई बहुत अधिक ठोस धरातल पर आधारित नहीं था क्योंकि युद्ध के दिनों के बहुत से उद्योग तो उस समय की परिस्थितियों में काम चलाने के लिए ही शुरू किये गये थे और उन्हें युद्ध के बाद कृत्रिम ढंग से चालू रखने के प्रयास अनार्थिक ही साबित होने वाले थे।

भारत सरकार ने अप्रैल 1945 में युद्ध के दौरान अस्तित्व मे आये उद्योगों को संरक्षण देने के मामलों की जांच करने के लिए एक विशेष प्रशुल्क मण्डल का गठन किया। इस प्रशुल्क मण्डल के मार्गदर्शन के लिए सरकार ने निम्नलिखित दो मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाये–

(1) जिस उद्योग की सहायता की जानी हो वह ठोस व्यवसायिक आधारों पर स्थापित हुआ हो और काम कर रहा हो, तथा

(2) (क) या तो वह उद्योग उसे प्राप्त प्राकृतिक एवं आर्थिक लाभों तथा उसकी वास्तविक व संभावित लागतों को ध्यान में रखते हुए एक उचित समय–सीमा की भीतर संरक्षण अथवा सरकारी सहायता के बिना सफलतापूर्वक अपना काम चलाने में समर्थ हो।

(ख) अथवा वह ऐसा उद्योग हो जिसे राष्ट्रीय हित में संरक्षण या सहायता देना वांछनीय हो और इस प्रकार के संरक्षण या सहायता का संभावित भार समाज पर बहुत अधिक न होता हो।

जिन लोगों ने 1922-1923 की संरक्षण नीति का यह कहकर विरोध किया था कि वह कठोर है उन्हें संतुष्ट करने के लिए ही उपधारा (ख) को पर्याप्त उदार बनाया गया था। यहां संरक्षण के आधार को तो विस्तृत कर दिया गया था किन्तु प्रशुल्क मण्डल को तीन वर्ष से अधिकर समय के लिए संरक्षण स्वीकृत करने का अधिकार नहीं दिया गया था। अतः इसे अपर्याप्त माना गया क्योंकि युद्ध के समय के उद्योगों को युद्धोतर प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए बड़ी मात्रा में निवेश करना जरूरी था और इसके लिए उन्हें लम्बे समय के संरक्षण की आवश्यकता थी।

संरक्षण की नीति के तहत भारत में जिस प्रकार की शुल्क प्रणाली लागू की गई उसने भारतीय उद्योगों के विकास को प्रभावित करने के साथ–साथ विदेशी हितों को भी फायदा पहुंचाया और इन विदेशी हितों में सबसे जयादा ब्रिटिश हित ही थे। इस संरक्षणात्मक प्रणाली का खुलकर लाभ उठाते हुए बड़े विदेशी इजारेदारों ने भारत में अपने उप व्यवसाय स्थापित कर लिये और भारत के औद्योगिक विकास के लिए गंभीर खतरा बन गए। जब भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया गया तो इसमें इन उद्योगों को भी संरक्षण मिल गया जो ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में स्थापित किये थे। इसके अलावा, भारत सरकार ने शाही रियायतों की जो प्रशुल्क नीति लागू की थी उसके माध्यम से ब्रिटिश पूंजीपति भारत के बाजारों को गैर ब्रिटिश प्रतियोगियों के आक्रमण से बचाने में सफल हो गये और इसके परिणामस्वरूप भारत के बाजारों में उनका वर्चस्व कायम रहा। इस प्रकार इस संरक्षण की नीति का भी बहुत लाभ ब्रिटिश पूंजीपतियों व उद्योगपतियों ने उठा लिया।

भारत की विभेदकारी संरक्षण नीति की ओर भी कई आधारों पर आलोचना की जाती रही है। कुछ लोगों का कहना है कि संरक्षण की नीति जिस समय लागू की गई उस समय भारत के उद्योगों को इससे विशेष लाभ हो ही नहीं सकता था। यदि यही संरक्षण प्रथम विश्व युद्ध से पहले दिया जाता तो भारत के औद्योगित विकास को भी अच्छा बढ़ावा मिल सकता था। 1924 में जब लोहा व इस्पात उद्योग को संरक्षण दिया गया तब तक रेलवे निर्माण का काफी बड़ा भाग पूरा किया जा चुका था, अतः इसका देश को पूरा लाभ नहीं मिल पाया। इसके अलावा भारत में संरक्षण की नीति को पूरी ईमानदारी से भी लागू नहीं किया गया। सरकार ने संरक्षण देने की खानापूर्ति ज्यादा की, वास्तव में सहायता कम। किन्तु जो कुछ भी संरक्षण दिया गया उसका उद्योगों को अवश्य ही लाभ हुआ। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि भारत में समय पर, पर्याप्त मात्रा में पूरी ईमानदारी के साथ संरक्षण की नीति को लागू कर दिया गया होता तो भारत भी दुनिया के औद्योगिक क्षेत्र में ताकत बनकर खड़ा हो गया होता। किसी भी विकासशील देश की संरक्षण की नीति के माध्यम से ही अपने देश के उद्योगों के विकास में मदद कर सकती थी। आज के लगभग सभी विकसित देशों की सरकार ने अपने विकास के प्रारम्भिक चरणों में ऐसा किया भी था। यह तो एक वह नयूनतम काम है जो किसी भी सरकार को करना ही चाहिए। किन्तु भारत की अंग्रेज सरकार ने तो अपने इस न्यूनतम दायित्व को भी ईमानदारी से नहीं निभाया।

अध्याय - 2 (b) वित्तीय - व्यवस्था

आधुनिक बैंकिंग प्रणाली

आधुनिक भारतीय बैंक प्रणाली के दो महत्वपूर्ण भाग थे– अनौपचारिक क्षेत्र में नीजि महाजनी घराने आते हैं तथा औपचारिक क्षेत्र में संगठित बैंक। संगठित बैंकों कें अनेक अवयव थे जैसे विनियम बैंक, भारतीय संयुक्त पूँजी बैंक तथा सहकारिता ऋण प्रदान करने वाली संस्थायें। विनियम बैंक, विशेषकर विदेश–व्यापार तथा भुगतानों से जयादा जुड़े हुए थे जबकि प्रेजीडेन्सी बैंक तथा भारतीय व्यापारिक बैंक, घरेलू व्यापार और उद्यम को वित्त की सुविधायें देते थे। भारतीय साहूकार, महाजनों के घराने किसानों, जमींदारों तथा कारागरों की साख की जरूरतों को पूरा करते थे। ये सभी औपचारिक तागि अनौपचारिक बैक प्रणाली के अवयव एक ही व्यापार को अलग–अलग चरणों में वित्तिय सहायता देते थे। संगठित बैंकों का विदेश व्यापार, बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों तथा भुगतानों से बाहर बड़े व्यापक आर्थिक क्षेत्र में कोई बड़ा योगदान नहीं था। व्यापारिक बैंक भी अनौपचारिक क्षेत्र में बहुत से साख के लेन–देनों का उत्तरादायितव सीाालते थे। वे उत्पादकों को ऋण देने, मुद्राओं को बदलने तथा घरेलू भुगतानों को निपटाने का काम करते थे। वे सार्वजनिक पैसा जमा करके बचत बैंक जैसे काम नहीं कर रहे थे, अतः उन्हें औपचारिक दृष्टि से बैंक का दर्जा देना भी मुश्किल है। प्रेजीडेन्सी बैंक सरकारी पूँजी की सहभागिता और प्रबंधन से शुरू किये गये थे। ये एक प्रकार से सरकार के खजाने का काम भी करते थे और सीमित मात्रा में नोट जारी करना, बट्टे पर सरकारी बिल तथा सुरक्षा–पत्रों का भुगतान करना तथा अन्य व्यापारिक बैंकों को अल्प–अवधि के कार्यशील पूँजी के उद्यमियों को ऋण देना तथा सार्वजनिक बचत प्राप्त करना आदि महत्वपूर्ण काम भी करते थे। ना तो इन्होंने उद्यमियों को लम्बी–अवधि के स्थायी पूँजी के लिए ऋण देने की कोशिश की और न सरकार ने इन्हें विदेशी मुद्रा के विनिमय में भागीदारी करने दी। १६२१ में प्रेजीडेन्सी बैंकों को मिलाकर राष्ट्रीयकृत इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की गयी थी। भारतीय संयुक्त पूँजी बैंकों के पास पर्याप्त पूँजी का अभाव था लेकिन इन्होंने जोखिम उठाते हुए मुनाफा कमाने के लिए कई बार बिना उचित सुरक्षा के लिये भी ऋण प्रदार किये। भारत में सबसे महत्वपूर्ण समस्या रही कि वित्तिय प्रबंधन तथा मुद्रा का प्रबंधन अलग–अलग रहा क्योंकि एक केन्द्रीय बैंक के विकास की दिशा में बहुत देर से कदम उठाये गये।

हम जानते हैं कि भारत में सर्राफ एवं साहूकार के रूप में देशीय बैंकिंग प्रणाली काफी पुराने बनाने से चली आ रही है। जब अंग्रेज ईस्ट इंडिया कम्पनी के रूप में व्यापार करने भारत आए तब यह देशीय प्रणाली काफी सशक्त रूप में काम कर रही थी। कई बार कम्पनी ने भी इसने उधार लिया। तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने के लिए इनकी सेवाओं का प्रयोग किया। किन्तु यहाँ हम अंग्रजी शासन काल के दौरान आधुनिक ढंग की बैकिंग प्रणाली के विकास के बारे में थोड़ी चर्चा करेंगे।

एजेन्सी हाउस एवं प्रेसीडेन्सी बैंक

अनेक कठिनाइयों के कारण यूरोपियन व्यापारी भारत के परमपरागत देशी बैंकों का अधिक उपयोग नहीं कर सके ओर उनको अपने वयवसाय की सुविध के लिए अपनी ही ओर से किसी बैकिंग सुंस्था के विकास के आवश्यकता महसूस होने लगी। इसी आवश्यकता में से १८वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो तथा १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में यूरोपियन एजेन्सी आउस का उदय हुआ। वस्तुतः इन एजेन्सी हाउसेज के प्रारम्भ को ही हम भारत मेुं आधुनिक बैंकिग प्रणाली का उदय मान सकते है। ये एजेन्सी हाउस प्रारम्भ में कलकत्ता एवं बम्बई में ही शुरू किये गए थे और इन्हें ईस्ट अण्डिया कम्पनी के कुछ सेवा निवृत कर्मचारियों तथा कुछ वयवसायियों ने प्रारम्भ किया था। ये एजेन्सी आउस मुलतः तो व्यवसायिक इकाइयां थी किन्तु ये अपने व्यवसाय के साथ–साथ बैंकिग कार्य भी करती थीं। एजेन्सी हाउस के तहत सबसे पहला बैंक १७७० में कलकत्ता में बैंक शुरू किए और उनमें से कई बन्द होते गये और नए बनते गए। ये एजेन्सी आउस बैंक के रूप में जमा स्वीकार करते थे, उधार देते थे और नोट भी जारी करते थे। १८२६–३२ के व्यवसायिक संकट के बाद इस प्रकार के एजेन्सी हाउस लगभग समाप्त ही हो गए।

१८वी शताब्दी के अन्त में बैंक ऑफ कलकत्ता के नाम से एक नए बैंक की स्थापना हुई। कुछ वर्षो बाद १८०६ में इसने अपना नाम बदलकर बैंक ऑफ बंगाल कर लिया। इस बैंक की कुल निर्गमित पूँजी ५० लाख रूपये की थी जिसमें से १० लाख रूपये की पूँजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगाई थी। कम्पनी का संरक्षण प्राप्त होने के कारण यह बैंक शीघ्र ही सचूचे भारत में एक प्रमुख बैंक बन गया और इसे सरकारी कोश रखने का काम भी सो।पा गया। १८३६ में प्रेसीडेन्सी बैंक अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के तहत सरकारी वित्तिय सहयोगक के आधार पर जिन कुछ बैंकों की स्थापना की गई उन्हें ही प्रेसीडेन्सी बैंक कहा गया। सबसे पहले तो १८४० में पहले से चले आ रहे बैंक ऑफ बंगाल को ही प्रसीडेन्सी बैंक का दर्जा दे दिया गया।

इसके बाद १८४० में ही बैंक ऑफ बाम्बे और बैंक ऑफ मद्रास को भी प्रेजीडैन्सी बैंकों का दर्जा दिया गया। इन प्रेजीडेन्सी बैंकों को कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त हुए जैसे सरकारी बैकिंग व्यवसाय का एकाधिकार। किन्तु इसके साथ ही इनके लिए कुछ नियंत्रण भी लागू किए गए। कुछ नियंत्रणों के साथ इनबैंकों को अपने-अपने क्षेत्रों में नोट जारी करने का भी अधिकर दिया गया। इन पर जो कुछ नियंत्रण लगाए गए उनमें प्रमुख थे-विदेशी बिलों का व्यापार करने तथा विदेशों से उधार लेने पर रोक, छः महीने से अधिक के लिए उधार न देना, अचल सम्पति की जमानत पर उधार देने की मनाही आदि। १८२६-६६ के दौरान सरकार ने इन प्रेसीडेन्सी बैंकों से नोट जारी का अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

प्रेसीडेन्सी बैंकों के कार्य के बारे में कुछ अनुभवों तथा अनेक प्रकार की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए १८७६ में एक नया प्रेसीउेन्सी बैंक अधिनियम लाया गया। इस अधिनियम के अनुसार सरकार ने अपनी पूँजी लिकाल ली तथा निदेशकों; सचिवों एवं कोषाध्यक्षों की नियुक्ति का अपनी अधिकार भी छोड़ दिया। किन्तु शेष नियंत्रण पहले के समानही जारी रहे। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि प्रेसीडेन्सी बैंको पर जो कई तरह के नियंत्रण लगाए गए थे उनके कारण इनकी स्थिति ठोस व स्थिर बनी। किन्तु अपनी स्थिति को मजबूत कर लेने के बाद भी इन पर उसी प्रकार का नियंत्रण बनाए रखना व्यर्थ था और इसके कारण इनके कामकाज करने में बाधा भी पड़ती थी। इस सबके बावजूद भी प्रेसीडेन्सी बैंकों ने देश के कई महत्वपूर्ण व्यापारिक केनदों पर अपनी शाखाएं स्थापित कीं। किन्तु विभिन्न बैंकों एवं विभिन्न बैकिंग कार्यों के बीच तालमेल बनाए रखने के लिए किसी एक प्रमुख बैंक की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। १६१३-१७ के बैंक संकट ने तो भारत में स्वतंत्र बैंकिंग प्रणाली की कमियों को और भी अधिक उजागर कर दिया। इस आवश्यकता में से ही इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर एक बैंक बना देने के लिए १६२० में एक अधिनियम पास किया गया और इसके बाद १६२१ में इन तीनों बैंकों के सम्मिलन के समय इनकी कुल ७० शाखाएं, पौने चार करोड़ रूपये की प्रदत्त पूँजी, साढ़े तीन करोड़ रूपये के कुल रिजर्व, ६ करोड़ की सरकारी जमा और ७८ करोड़ रूपये की निजी जमा थी।

भारतीय संयुक्त पूँजी बैंक

१८६० से पहले तक भारत में जो बैंक स्थापित किए गए थे वे लगभग सभी असीमित दायित्व वाले बैंक थे। १८६० में सीमित दायित्व के आधार पर संयुक्त पूँजी बैंक प्रारम्भ कर सकने की अनुमति देने वाला अधिनियिम पास किया गया। अमेरिकन सिविल युद्ध के बाद १८६२-६५ के दौरान जो तेजी आई उस अवधि में यद्यपि कई संयुक्त पूँजी बैंकों की स्थापना हुई किनतु उनमें से अधिकांश थोड़ी अवधि के बाद ही बन्द हो गए और इससे बैंकों पर जनता के विश्वास को ठेस लगी। इसके बाद भी १८७३-६३ के दौरान जो करेंसी को लेकर भ्रमपूर्ण अवस्था रही इसने व्यापार एवं व्यवसाय के क्षेत्र में अनिश्चताएं उत्पन्न कर नए बैंकों की स्थापना के लिए प्रतिकूल वातावरण का निर्माण कर दिया। अतः १८६५ से लेकर १६०० तक संयुक्त पूँजी बैंकों की प्रगति बहुत ही धीमी रही। १६वीं शताब्दी के अनत तक देश में ५ लाख रूपये से अधिक की पूँजी व रिजर्व वाले केवल ६ बैंक थे। इनकी कुल पूँजी व रिजर्व सवा करोड़ रूपये की थी और कुल जमा ८ करोड़ रूपये की थी।

इलाहाबाद बैंक की स्थापना १८६५ में और एलायन्स बैंक शिमला की स्थापना १८७५ में हुई थी और ये दोनों ही बैंक यूरोपियन प्रबन्ध व स्वामित्व के बैंक थे। विशद्ध रूप से भारतीय प्रबन्ध में चलने वाला सबसे पहला सीमित दायित्व वाला संयुक्त पूँजी बैंक १८८१ में अवध कामर्शियल बैंक के कनाम से स्थापित हुआ। इसके बाद १८६४ में पंजाब नेशनल बैंक और १६०१ में पीपल्स बैंक की स्थापना की गई। इन सबने अच्छी प्रगति की। किन्तु पीपल्स बैंक १६१३ में और अवध कामर्शियल बैंक १६५८ में फैल हो गए। १६०६ से आरम्भ हुए स्वदेशी आन्दोलन के कारण भारत में भारतीय वाणिज्य बैंकों को काफी प्रोत्साहन मिला। इसे परिणामस्वरूप १६०६-१३ के बीच ५ लाख रूपये से अधिक की पूँजी व रिजर्व ४ करोड़ रूपये और कुल जमा २२ करोड़ रूपये की थी। इस अवधि के दौरान स्थापित हुए छोटे बैंकों की स्थापना हुई और जिन्होंने बाद में अच्छी प्रगति की वे थे, बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड, द इण्डियन बैंक लि० द सैण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लि०, द बैंक ऑफ बड़ौदा लि० और बैंक ऑफ मैसूर लि० आदि।

१६१३ तक बैकिंग क्षेत्रों में प्रगति होने के बाद १६१३-१७ के दौरान गम्भीर बैंकिंग संकट पैदा हो गया। इस अवधि के दौरान ८७ बैंक फेल हुए जिनकी कुल चुकता पूँजी पौनो दो करोड़ रूपये से भी अधिक थी। इनमें से ज्यादातर तो छोटे और कमजोर बैंक थे किन्तु लगभग आधा दर्जन बड़े बैंक भी थे। इतनी बड़ी संख्या में बैंकों के फेल हो जाने से जनता का देश की बैंकिंग संस्था से विश्वास हिल गया और इसने भारत में बैकिंग के विकास को गहरा आघात पहुँचाया। बैंकों के फेल होने के कई कारण थे। जैसे, बहुत थोड़ी-सी निगेमित पूँजी एवं प्रदत्त पूँजी से ही बैंक प्रारम्भ कर देना, बैंकिंग व्यवसाय के लिए जमाओं पर अधिक निर्भरता, जमाओं पर बहुत ऊँची ब्याज-दर देना, जमाओं को आकर्षित करने के लिए अनुचित प्रतियोगिता, गलत पूँजी निवेश, किसी व्यवसाय के बारे में समुचित जानकारी के लिए अनुचित प्रतियोगिता, गलत पूँजी निवेश, किसी व्यवसाय के बारे में समुचित जानकारी किए बिना ही उधार दे देना, प्रबन्ध की कुशलता का अभाव, योग्य कर्मचारियों की कमी, बैंकों के निर्देशकों एवं प्रबन्धकों द्वारा अनुचित लाभ उठाने का प्रयास आदि।

१६१४–१८ की प्रथम विश्व युद्ध की अवधि में जो तेजी की परिस्थितियाँ हुई उससे एक बार फिर से नये बैंको की स्थापना में गति आई। असके परिणामस्वरूप कुल जमाओं में भारतीय संयुक्त पूँजी बैंकों का हिस्सा जो १६१४ में केवल २१ प्रतिशत था वह बढ़कर १६२० में ३३ प्रतिशत हो गया। १६१८–२१ के दौरान बैंको के फेल होने की गति भी कुछ कम हुई और इस अवधि के दौरान केवल २१ बैंक फेल हुए। किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद जो मंदी की अवस्था आई, उसके परिणामस्वरूप ब।क फेल होने की गति फिर से बढ़ गई। १६२२–२६ की अवधि के दौरान कुल ३७३ बैंक फेल हुए जिनकी चुकता पूँजी ६.८ करोड़ रूपये की थी। इसके बाद भी १६३७–४८ के बीच ६२० बैंक और फेल हो गए। बैंको के फेल होने के अधिकांश वे ही कारण थे जिनकी हम पीछे चर्चा कर चुके हैं। इस सारी परिसिंति को देखते हुए बैंकों के नियंत्रण एवं नियमन की तीव्र आवश्यकता महसूस की जाती रही और इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप १६४६ में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम के द्वारा भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोषों को दूर कर उसे एक सुदृढ़ आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया।

विनिमय बैंक

चूँकि प्रेसीडेन्सी बैंको और बाद में उनसे बने इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया पर विदेशी विनिमय व्यापार में हिस्सा लेने पर कानूनी प्रतिबन्ध था, भारतीय संयुक्त बैंक अपनी स्वयं की सीमाओं के कारण विदेशी व्यापार के लिए वित्त प्रदान करने में कोई भूमिका अदा नहीं कर पा रहे थे, अतः ऐसी स्थिति में विदेशी विनिमय बैंकों को इस क्षेत्र में लगभग एकाधिकर सा ही प्राप्त था। इस विदेशी बैंकों का मुख्यालय विदेश में ज्यादातर लन्दन में होता था और उनकी शाखायें भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों पर होती थी। १६१४ से पहले, प्रमुख भारतीय संयुक्त पूँजी बैंक जिसकी लन्दन में भी शाखा थी वह था इण्डियन स्पेसी बैंक (Indian Specie Bank) किन्तु इनका व्यवसाय मुख्यतः चांदी एवं मोतियों का होता था। द एटायन्स बैंक ऑफ शिमला तथा टाटा इण्डिरस्ट्रयल बैंक ने कुछ सीमा तक विदेशी विनिमय व्यापार किया था। वस्तुतः तो पहले भारतीय विदेशी विनिमय बैंक १६३६ में ही सैण्ट्रल एक्सचेन्ज बेंक आफफ इण्डिया के नाम लन्दन में खोला गया था, किन्तु यह भी आगे चलकर बारक्लेज बैंक, लन्दन (Barclays Bank, London) के साथ १६३८ में मिल गया। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में दो प्रकार के विनिमय बैंक काम करते रह हैं। पहले वर्ग में हम ब्रिटिश बैंकों को शामिल कर सकते हैं जैसे चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया; आस्ट्रेलिया एण्ड चायना (१८३५), द नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया (१८६३), द हाँगकांग एण्ड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन (१८६४), द मराकेण्टाइल बैंक ऑफ इण्डिया (१८६३) और ईस्टर्न बैंक (१६१०)। दूसरे वर्ग में वे बैंक थे जो भारत के साथ अपने–अपने देशों के व्यापार में विशेषज्ञ थे जैसे काम्पटायर नेशनल डी एन्कम्पटी डी पेरिस (फ्रांस); द योकोहामा स्पेसी बैंक (जापान), द डयूशिव एशियाटिश्ची बैंक (जर्मनी), द इण्टरनेशनल बैंकिंग कारपोरेशन (अमेरिका) और द रूसो– एशियाटिक बैंक (रूस)।

इस बात में तो कोई संदेह नहीं कि विदेशी विनिमय ब।कों को कुछ ऐसी सुविधाएं प्राप्त थी जो भारत के विदेशी व्यापार को वित्त प्रदार करने की दृष्टि से भारतीय संयुक्त पूँजी बैंकों को प्राप्त नहीं थी जैसेः पूँजी ग्रबन्ध एवं कार्मिक अनुभव की दृष्टि से बेहतर साधनों का उपब्ध होना तथा मुख्यालयों के माध्यम से लन्दन के मुद्रा बाजार तक आसानी से पहुँच आदि। भारत के विदेशी व्यापार को वित्त देना उन दिनों एक आकर्षण व्यवसाय माना जाता था। किन्तु वास्तव में यह उतना लाभप्रद नहीं था जितना समझा जाता था। विनिमय बैंकों की आपसी प्रतियोगिता के कारण भी इनके मार्जिन कम होते रहते थे और उसका लाभ अन्ततोगत्वा भारतीय आयातकों अथवा निर्यातकों को ही मिलता था। किन्तु इस सबके बावजूद भी इन विनिमय बैंकों पर सदैव यह आरोप लगाया जाता रहा कि ये अपने एकाधिकार का नाजायज फायदा उठाकर हमेशा भारतीय व्यवसाय को नुकसान ही पहुँचाते हैं। इस दृष्टिकोण के कारण ही केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१६२६–३१) को इन विनिमय बैंकों के बारे में कई शिकायतें की गई थीं।

इनमें से कुछ शिकायेतें तो जायज थीं किन्तु कुछ शिकायतें बैंकों के प्रति दराग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही की गई थीं। इनमें से कुछ शिकायतें ऐसी थीं जो विनिमय बैंक की सीमा से बाहर थीं, वे तो तत्कालीन परिस्थिति की उपज थी। किन्तु इतने पर भी यह तो सच ही था कि विदेशी विनिमय बैंकों के सामने अपने–अपने देश का हित ही प्रमुख रहता था और वे भारतीय हित के लिए काम नहीं करते थे। मुख्य रूप से उन्हें विदेशी विनिमय का काम भी सौंपा गया था।

केन्द्रीय बैंक की स्थापना

भारत में केन्द्रीय बैंक की धारणा को हम बंगाल के गर्वनर वारेन हेस्टिंग्स के जन० १७७३ के उस सुझाव में देख सकते हैं जिसमें उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बंगाल और बिहार में एक जनरल बैंक बनाने की योजना प्रस्तुत की थी। इसके बाद इसव प्रकार के जरनर बैंक की सीपना के बारे मेंकई सुझाव पेश किए जाते रहे। १८३६ में इंग्लैण्ड में व्यापारियों के एक संगठन ने भी ब्रिटिश भारत के लिए एक ग्रेट बैंकिंग संस्था के निर्माण का सुझाव रखा था। वायसराय कौंसिल के भारत के प्रथम वित्तीय सदस्य विल्सन ने भी ३ मार्च १८६० को भारतीय विधान परिषद में पेपर करेंसी के बारें में बिल पेश करते हुए, एक राष्ट्रीय बैंकिंग जैसी संस्था

की स्थापना का सुझाव दिया था। १८६७ में जी. डिकन्सन ने, जोकि बैंक ऑफ बंगाल के तत्कालीन सेक्रेटरी एवं ट्रेजरर थे, तीनों प्रसीडेन्सी बैंको को मिलाकर करेंसी एवं साख पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से समूचे देश के लिए एक बैंक बनाने का सुझाव रखा था। किन्तु इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया गया। इसके बाद १८७० एवं १८८४ में भी केन्द्रीय बैंक जैसी ही किसी संस्था के बनाने के सुझाव आए, किनतु इन्हें भी अस्वीकार कर दिया गया।

१८९८ में एक बार फिर से फाउलर करेंसी कमेटी के सदस्य ई० हम्ब्रो ने (E. Hambro) भारत में बैंकिंग सुविधाओं के लिए विकास करने तथा करेंसी के नियन्त्रण को ठीक से लागू करने के लिए एक मजबूत केन्द्रीय बैंक बनाने का सुझाव दिया था। इन्होनें केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए जो तर्क दिये दिये थे उन्हें लार्ड कर्जन ने अस्वीकार कर दिया। आगे चलकर चेम्बरलिन आयोग के दो सदस्यों सर अर्नेस्ट केवल और जे.एम. केन्ज ने १९१३ में भारत में केन्द्रीय बैंक की स्थापना की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। किन्तु १९१४ में विशव युद्ध छिड़ जाने के कारण इस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया जा सका। बाद में जब अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ परिषद ने ऐसे देशों में जहां बैंक नहीं थे, वहां इनकी स्थापना पर जोर दिया तो भारत में तीन प्रसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर १९२१ में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कर दी गई। इसकी सीपना के साि ही यह माना गया कि यह ही प्रस्तावित केन्द्रीय बैंक के कामों को कर देगा, अतः किसी अलग संसी को बनाए जाने को कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः तो यक एक वाणिज्य बेंक ही था जिसे कुछ केन्द्रीय बैंक के काम भी सौंप दिये गए थें। किन्तु आगे के अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया कि इम्पीरियल बैंक देश में केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा नहीं कर पाया। १९२६ में हिल्टन यंग कमीशन ने भी इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बैंक में कार्य करने के विचार का समर्थन नहीं किया और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से देश में एक अलग से केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव रखा। इस कमीशन ने रिजर्व बैंक को शेयर होल्डर्स की एक निजी संस्था के रूप में स्थापित करने का सुझाव दिया था ताकि इस राजनीतिक दबावों से मुक्त रखा जा सके और यह देश की वित्तीय स्थिरता की दिशा में ठीक से काम कर सके। इस सुझाव के अनुसार भारत सरकार ने जनवरी १९२७ में निजी शेयन होल्डर्स के बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की स्थापना के बारें में एक बिल पेश किया। किन्तु विधान–परिषद में यह पास नहीं हो सका। सरकान इसे एक सरकारी बैंक बनाना चाहती थी। कई वर्षों तक यह विवाद चलता रहा कि रिजर्व बैंक की स्थापना प्राइवेट शेयर होल्डर्स के बैंक के रूप में हो अथवा एक सरकारी बैंक के रूप में। आखिरकार सित० १९३३ में फिर सरकार ने रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए बिल पेश किया ओर यह बिल मार्च १९३४ में पास कर दिया गया। इसके अनुसार १ अप्रैल से रिजर्व बैंक अस्तितव में आ गया और इसने काम करना शुरू कर दिया। प्राश्रम्भ में रिजर्व बैंक को निजी शेयर होल्डर्स की एक संख्या के रूप में ही सीपित किया गया था। इस बैंक की कुल चुकता पूंजी ५ करोड़ रूपये की रखी गई और उसे १०० रूपये के शेयर्स में बाँटा गया था। रिजर्व बैंक अधिनियम (१९३४) की प्रस्तावना में रिजर्व बैंक की स्थापना के उद्देश्य को इन शब्दों में समझाया गया है– 'बैंक नोटों के निर्मनन को नियामित करना तथा रक्षित निधियों का रखना ताकि भारत में मौद्रिक स्थिरता बनाई रखी जा सके तथा देश की साख व करेंसी प्रणाली को देश के लाभ के लिए क्रियाशील किया जा सके।' भारत की विशेष परिस्थिति को देखते हुए भारत में रिजर्व बैंक केवल परम्परागत केन्द्रीय बैंकिंग कार्य ही नहीं करता बल्कि भारत के एक अल्पकिसित देश होने के कारण इसकी आर्थिक प्रगति की दिशा में कुछ गैर–परम्परागत कार्य भ करता हे। आग्र चलकर यह महसूस किया गया कि अपने काम को प्रभावी ढंग से करने की दृष्टि से रिजर्व बैंक को सरकार के स्वामित्व में ही होना चाहिए। अतः रिजर्व बैंक अधिनियम (१९४८) के अन्तर्गत १ जरवरी, १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। सरकान ने १०० रूपये के प्रत्येक शेयर के बदले ११८.१० रूपये देकर सब शेयर खरीद लिए। इस प्रकार अब ये अंशधारियों का बैंक न रहकर सरकारी स्वामित्व वाला बैंक हो गया।

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के बैंकों के अलावा अंग्रेजी शासनकाल में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो से सहकारी साख प्रणाली की भी शुरूआत हो चुकी थी। यद्यपि स्वतन्त्रता से पहले सहकारी साख समितियों एवं सहकारी बैंकों की संख्या सीमित ही थी, तो भी इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ हो चुके थे और लगातार आगे बढ़ते जा रहे थे– यह एक स्वागत योग्य कदम था।

2(c) प्रबन्धक अभिकर्ता प्रणाली (Managine Agency System)

अंग्रेजी शासन काल के दौरान अभिकर्ता प्रणाली ने देश के व्यवसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उस उसमय की परिस्थितियों के अनुसार व्यवसाय का यह एक नया ही रूप विकसित हुआ था जो बहुत ही जल्दी लोकप्रिय हो गया। कुछ ही वर्षो में भारत के व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र पर मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली नेअपनी काफी अच्छी पकड़ बना ली थी। अतः उस समय के औद्योगि संगठन के ढांचे को समझने के लिए इस प्रणाली को समझना आवश्यक है।

प्रबन्ध अीकर्ता (मैनेजिंग एजेन्ट) वह व्यक्ति, फर्म या कम्पनी होता था जिसे कम्पनी के साि एक समझौते द्वारा कम्पनी के सब मामलों का प्रबन्ध करने का अधिकार प्राप्त होता था और जो सिवाय उस सीमा के जिसका उल्लेख करार में होता था, निदेशकों के नियन्त्रण व निर्देशों के अन्तर्गत काम करता था।

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली इतनी जल्दी ही क्यों स्वीकार्य हो गई इसके काराणों को समझना आवश्यक है। १६वीं सदी के आरमी में नये–नये धनी बने अंग्रेजी और भारतीय व्यापारी अपनी पूँजी को लाभप्रद व्यसायों में निवेश करने के लिए आतुर थे किन्तु उनमें व्यावसायिक कुशलता व योग्यता का अभाव था। वास्तव में जो लोग अपनी पूँजी को नये वयवसायिक एवं औद्योगिक कार्यों में निवेश करना चाहते थे, उनमें उन कार्यों के प्रबन्ध की जिम्मेवारी सम्भालने की न तो क्षमता ही थी और न ही तेयारी। मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया। वास्तव में इस प्रणाली ने व्यावसयिक इकाई के स्वामित्व के कार्यो और प्रबन्ध के कार्यो के बीच विभाजन कर दिया। मैनेजिंग एजेन्सी फर्म किन्हीं दूसरें शेयर होल्डर्स के स्वामित्व वाली कम्पनी के प्रबन्ध के लिए अपनी सेवाएं देती थी और बदले में पारिश्रामिक लेती थी। पारिश्रमिक की मात्रा और आधार मैनेजिंग एजेन्सी फर्म और कम्पनी के बीच आपसी समझौते द्वारा निर्धारित किया जाता था और यह अलग–अलग मामलों में बदलता रहता था। किनतु यह इतना अवश्य होता था कि मैनेजिंग एजेन्सी फर्म के रूप में काम करने वाले लोग किसी दूसरी कम्पनी के प्रबन्ध की जिम्मेवारी लेने को तैयार हो जाएं। इस प्रकार मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली के द्वारा एक ओर विशुद्ध व्यावसायिक कुशलता तथा दूसरी ओर पूँजी–कोक्ष के बीच एक योग्य मेल बिठाने का प्रयास किया गया था। क्योंकि दोनों को ही एक दूसरे की जरूरत थी।

१६वीं सदी में मध्य में जब ब्रिटिश पूँजी रेलवे, बागानों, खानों आदि में लगाई जाने लगी तब इस प्रकार की मैनेज्रिक एजेन्सी प्रणाली की और भी अधिक आवश्यकता महसूस हुई। ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए इंग्लैण्ड में इतनी दूर बैठकर भारत के उनके व्यवसायों का सम्भालना सम्भव नहीं था और न ही बार–बार आना व्यवहारिक था। ब्रिटिश कम्पनियों को कोई भी डायरेक्टर इतनी आसानी से नहीं मिल पाता था कि वह भारत जाकर कम्पनी की प्रबन्ध व्यवस्था सम्भालने के लिए तैया हो जाए। ऐसी स्थिति में भारत में काम करने वाली मैनेजिंग एजेन्सी फर्म ही ब्रिटिश कम्पनियों की इस समस्या का समाधान कर सकती थी। अतः अधिकांश ब्रिटिश कम्पनियों ने भारत में उनके व्यसाय के प्रबन्ध की जिम्मेवारी इन मैनेजिंग एजेन्सी फर्मो को सौंप दी।

ये मैनेजिंग एजेन्ट मुख्य रूप से निम्नलिखित काम करते थे :

(१) निवेश अवसरों का पता लगाना और उनकी जांच करना।

(२) नई संयुक्त पूंजी कम्पनियों के निर्माण, विस्तार एवं प्रबन्ध में सहायता करना।

(३) कम्पनी में स्वयं पूंजी लगाना तथा अन्यों से कम्पनियों में पूंजी जुटाना।

(४) कम्पनी द्वारा किये गये सौदों व लिए गए ऋणों के लिए गारण्टी देना।

(५) कम्पनी की खरीद व बिक्री के लिए एजेन्ट काकाम करना।

उपर्युक्त काम के अलावा विभिन्न प्रकार की संयुक्त पूंजी कम्पनियों को अपना काम–धाम चलाने के लिए जब और जिस प्रकार के कार्य की आवश्यकता पड़ती थी और वे उसके लिए यदि किसी मैनेजिंग एजेन्सी फर्म से सहायता मांगते थे तो वह हमेशा देने के लिए तैयार रहती थी। इ सब कामों के लिए ये प्रबन्ध एजेन्ट कम्पनी से कमीशन लिया करते थे। कमीशन की मात्रा, उत्पादन, बिक्री या लाभ के आधार पर तय की जाती थी। कुछ लोगों का ऐसा मानना हे कि यदि उन दिनों इस प्रकार की मैनेजिंग प्रणाली न होती तो ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत के उद्योगों में जो कुछ और जितना भी निवेश किया था वह भी नहीं हो पाता। जैसे–जैसे इस प्रणाली का विकास होता गया, वैसे–वैसे एक ही मैनेजिंग एजेनसी को बाहर की कई फर्मों ने अपने प्रबन्ध की जिम्मेवादी सौंप दी। इससे प्रबनध व्यवस्था एवं प्रशासन में फिजूल खर्ची कम हुई और मितव्ययता आई। इस व्यवसी के कारण अब कई फर्में जो एक दूसरे से सम्बन्धित भी नहीं होती थी वे सब एक साथ ही एक ही कार्यालय का प्रयोग कर सकती थी तथा तरल पूंजी के उसी कोश और विशेषज्ञों की एक ही टीम की सेवाओं का प्रयोग कर सकती थीं किन्तु कभी–कभी किसी एक मैनेजिंग एजेन्सी पर जब बहुत–सी कम्पनियों का भारत पड़ जाता था तब कभी–कभी इसका नुकसान भी होता था।

इस प्रकार, इस प्रणाली के माध्यम से अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी–मैनेजिंग एजेन्सी फर्में विभिन्न औद्योगिक कम्पनियों ओर कल–कारखानों का बढ़ावा देती है, उन पर नियंत्रण रखती है और काफी हद तक उनके लिए पूंजी इकट्ठा करती है, उनके संचालन और उत्पादन पर अपना प्रभुत्व बनाये रखती है तथा उनमें निर्मित सामान को बाजा में बेचती है। इन कम्पनियों के बार्ड ऑफ डायरेक्टर्स एक मातहस की भूमिका निभाते हैं उनकी भूमिका तो नाममात्र की ही होती है। वास्तव में तो सारा काम मैनेजिंग एजेन्सी फर्म ही करती है।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत में मैनेज्रिग एजेन्सी फर्में औद्योगिक एवं व्यापारिक विशेषता की आधार होने के साथ–साथ एक ही अच्छी खासी मात्रा में पूंजी कोश की मालिक भी हो गई थीं। इन मैनेजिंग एजेन्टों के साथ व्यापारिक साख का भी काफी गहरा सम्बन्ध हो गया था और एक कम्पनी की वित्तीय सुदृढ़ता का जायजा बहुता कुछ इस बात से लगाया जाता था कि उस कम्पनी की मैनेजिंग एजेन्ट कौन है। यहां तक कि भारत के वाणिज्य बैंक भी कम्पनियों को उनकी स्थायी परिस्म्पतियों के बदलें

ऋण देने से पहले इस बात का आग्रह करते थे कि मैनेजिंग एजेन्ट उस ऋण के लिए हस्ताक्षर करे। ऐसी स्थिति मैनेजिंग एजेन्ट का आश्रय प्राप्त नहीं कर लेती थी। तब तक उसे बाजार में अपने शेयर्स बेचना तक भी मुश्किल हो जाता था। कई बार तो मैनेजिंग जिन कम्पनियों का प्रबन्ध करना स्वीकार कर लेते थे उन कम्पनियों के शयर्स खरीदने में अपने स्वयें के पास की जमा राशियों को भी लगा देते थे बाद में चलकर वे अपने इन शेयर्स को जनता में बेचते रहते थे। इस प्रकार मैनेजिंग एजेन्सी फर्मो का कोश एक घूमने वाले कोश का रूप ले लेता था जो ऐसे समय में नई कम्पनियों में शेयर खरीदकर उनकी सहायता करता था जो ऐसे समय में नई कम्पनियों में शेयर खरीदकर उनकी सहायता करता था जब पूंजी बाजार में आम जनता उस कम्पनी के शेयर्स को खरीदने के लिए तैयार नहीं होती थी।

इस प्रकार मैनेजिंग प्रणाली ने भारत के अनेक क्षेत्रो मे निवेश उद्यम को प्रोत्साहित किया तथा प्रबन्ध में कुशलता व मितव्ययता लाकर व्यवसाय के विस्तार का अवसर प्रदान किया, किनतु इस प्रणाली के अनेक दुष्परिणाम भी हुए। इस प्रणाली के प्रमुख रूप से निम्नलिखित दुष्परिणाम सामने आए।

(१) इस प्रणाली के कारण कुछ थोड़े से ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथों में ही आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण हो गया। उदाहरण के लिए १९३१ में 'एन्ड्रयू यूल नामक कम्पनी ५० फर्मो पर नियन्त्रण कर रही थी तथा केवल १२ प्रबन्ध एजेन्सियां ही २५८ औद्योगिक फर्मो को नियन्त्रित कर रही थी।

(२) ये प्रबन्ध एजेन्ट कम्पनी पर अपने नियन्त्रण का नाजायज फायद उठा कर बहुत ऊंचे–ऊंचे कमीशन लिया करते थे। कई बर तो कम्पनी को घाटे में रहकर भी इन एजेन्टों को कमीशन देना पड़ता था।

(३) वे ऐसी कम्पनियों से जिनके पास फालतू पैसा होता था उधार लेकर ऐसी कम्पनियां को ऊंचे ब्याज पर उधार दे देते थे जिन्हे वित्त की आवश्यकता होती थी इस प्रकार वे बिचौलियों के रूप में दोनों ओर से कमाई करते थे।

(४) वे विभिन्न कम्पनियों के आन्तरिक मामलों की जानकारी को अनुचित लाभ उठाकर शेयरों की सौंदेवाजी करते थे और कम्पनी को नुकसान पहुँचाकर भी लाभ कमाते थे।

(५) ज्यादातर मामलों में मैनेजिंग एजेन्टों और कम्पनी के मालिकों का हित एक समान नहीं होता था बल्कि उनके हितों में टकराहट होती थी। ऐसी स्थिति में वे कम्पनी के हितों को नजरअन्दाज कर अपने ही हितों के लिए काम करते थे। हितों की ऐसी टकराहट के अनेंको उदाहरण दियो जा सकते थे मैनेजिंग एजेन्टस के पारिश्रमिक का निर्धारण बहुधा कुल उत्पादन की मात्रा के आधार पर किया जाता था। ऐसी स्थिति में एजेन्ट का हित इस बात में होता था कि वह कम्पनी के द्वारा ज्यादा से जयादा उतपादन की योजना बनाये। वह इस बात की ओर विशेष ध्यान नहीं देता था कि यह कम्पनी कितने उत्पादन को लाभप्रद ढंग से बेच सकेगी। इस प्रकार कई बार मैनेजिंग एजेन्टों को कम्पनी के लिए की गई खरीद पर कमीशन मिलता था। ऐसी स्थिति में वे इस प्रकार के मूल्य को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करते थे, चाहे फिर इससे उत्पादन लागत बढ़ जाए और लाभ कम हो जाए।

(६) बैंक में अन्य वित्तीय संस्थाओं पर नियंत्रण करके ये विदेशी पूजी व भारतीय पूंजी दोनों पर नियन्त्रण रखते थे।

(७) इस प्रणाली से विशिष्ट दीर्घकालीन वित्तीय संस्थाओं के विकास में काफी बाधा पहुँची। मैनेजिंग एजेन्टों ने इस प्रकार की वित्तीय संस्थाओं को देश मे पनपने ही नहीं दिया। इससे आगे चलकर देश के औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के न तो अच्छे अवसर ही उपलब्ध हो पाते थे और न ही भारतीयों उच्चस्तरीय प्रबन्ध की जानकारी ही हो पाती थी।

(८) मैनेजिंग एजन्सी फर्मे ऊंचे पदों पर ज्यादातक यूरोपियन अफसरों को ही नियुक्त करती थी इससे भारतीयों को औद्योगिक क्षेत्र में राजगार के न तो अच्छे अवसर ही उपलब्ध हो पाते थे और न ही भारतीयों को उच्चस्तरी प्रबन्ध की जानकारी ही हो पाती थी।

(९) धीरे–धीरे प्रबन्ध एजेन्सियों व ब्रिटिश पूंजीपतियों के बीच एक अपवित्र गठबन्धन हो गया जिसने भारतीय हितों को बहुत नुकसान पहुँचाया। ये विभिन्न एकाधिकारी संगठन बनाकर कच्चे माल की कीमत को नीचा और ब्रिटिश तैयार माल की कीमत 'को ऊंचा रखते थे और श्रमिकों को बहुत ही कम मजदूरी देते थे। विभिन्न प्रकार की छूटों के लिए सरकार पर दबाव डालते थे और भारतीय व्यापारियों व उद्योगपतियों के लिए तरह–तरह से कठिनाईयाँ पैदा करते रहते थे।

समय के साथ–साथ बहुत–सी प्रबन्ध एजेन्सी फर्मो में पहले योग्यता व कुशलता भी नहीं रही थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली में जो अनेकों दोष उत्पन्न हो गये थे, उनसे देश की अर्थव्यवस्था को बड़ा नुकसान हो रहा था। इन दोषों को दूर करने के लिए १९३६ में भारतीय कम्पनी अधिनियम में संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार एक मैनेजिंग

एजेन्ट के लिए २० वर्ष का समय निर्धारित कर दिया गया ओर इसमें यह भी प्रावधान किया गया कि यदि वे किसी भी प्रकार की जालसाजी व धोखेबाजी करता पाया गया तो कम्पनी के शेयर होल्डर्स उसे पहले भी हटा सकते हैं। अब किसी भी कम्पनी के मैनेजिंग एजेन्ट का पारिश्रमिक केवल मात्र उस कम्पनी के शुद्ध लाभ के आधार पर निर्धारित किये जाने की बात तय की गई। लाभ निर्धारित के लिए बिक्री, उत्पादन व अन्य किसी भी आधार को समाप्त कर दिया गया। मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा उसके द्वारा प्रबन्धित कम्पनी के ही कोशों से उधार ले सकले के उसके अधिकार को सीमित कर दिया गया और कम्पनी के लिए की जाने वाली खदी व बिक्री पर कमीशन प्राप्त करने के अधिकार को भी नियन्त्रित कर दिया गया। इस प्रकार १९३६ के इस संशोधन के द्वारा मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली की कुछ बुराईयों को कम करने का प्रयास अवश्य किया गया था किन्तु फिर भी इस अधिनियम में कुछ ऐसी खामियां व छिद्र रह गये थे जिनका लाभ उठाकर ये मैनेजिंग एजेन्ट कम्पनी के हितों को नुकसान पहुंचाते रहे।

मैनेजिंग एजेन्सी ने बडी चतुराई से भारत के ऐसे उद्योगों पर भी अपनी पकड़ मजबूत कर ली थी जिनमें मुख्यता भारतीय पूजी लगी हुई थी। इस प्रकार इस प्रणाली का इस्तेमाल भारत के औद्योगिक विकास पर अंग्रेजों का प्रभुतव बनाये रखने के लिए किया गया। मुनाफे की राशि कम्पनी के हिस्सेदारों को नहीं मिल्ती थी बल्कि उसे ये मैनेज्रिग एजेन्सियां ही हजम कर जाती थीं। १९२७ में सीमा शुल्क बोर्ड, सूती वस्त्र उद्योग जांच समिति के सामने दिये गये साक्ष्य के अनुसार, १९०५ से १९२५ के २० वर्षों के दौरान बम्बइ की कपड़ा मिलों ने मैनेजिंग एजेन्टों को जो कमीशन दिया वह कुल प्रदत्त पूजी का औसतन ५.२ प्रतिशत था। या राशि मैनेजिंग एजेन्सी के शेयरों पर दिये गये किसी लाभांश और खरीद व बिक्री के जरिये मिले कमीशन के अलावा हैं। ऐसे भी मामले देखने में आये हैं जिनमें कपड़ा मिलों को घाटा हुआ है और साथ ही मैनेजिंग एजेन्सी को उस मिल के कुल घाटे से जयादा कमीशन मिला हे जिसकी वह देखरेख करती थी। उदाहरण के लिए, १९२७ में बम्बई की ७५ कपड़ा मिलों को कुल ७, ३६,३०६ रूपये का घाटा हुआ लेकिन मैनेजिंग एजेन्टों ने भत्तते और कमीशन के रूप में ३०, ८७, ४७७ रूपये प्राप्त किये।

मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनियां भारतीय और ब्रिटिश दानों ही प्रकार की थीं किन्तु ब्रिटिश कम्पनियां भारतीय कम्पनियों की तुलना में अधिक सुदृढ़ थीं। इन्हें अंग्रेज सरकार का भी वरदहस्त प्राप्त था। ऐन्ड्रयू यूल एंड कम्पनी तथा जार्डन ऐंड स्किनर जैसी फर्म में ब्रिटिश राज के इतिहास का एक प्रमुख अध्याय है। १९२७ में सीमा शुल्क बोर्ड सुती वस्त्र उद्योग जांच समिति ने बम्बई की कपड़ा मिलों से म्बिन्धित आंकड़ों के आधार पर ब्रिटिश व भारतीय मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनियों की तुलनात्मक शक्ति की एक तस्वीर पेश की थी। उन्हीं आंकडो के आधार पर रजनीपामदत ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' में निम्नलिखित तालिका दी है जिससे कम्पनियों की शक्ति का पता चल जाता है।

बम्बई की कपड़ा मिलें

	मिलें	तकले	करघे	पूंजी (करोड़ रूपये)
अंगेज मैनेजिंग एजेन्टों वाली कम्पनियां ६ भारतीय मैनेजिंग	२७	११,९२,११४	२२,१२१	६.८६
एजेन्टों वाली कम्पनियां ३२	५६	२३,६०,५२८	५१,५८०	६.७७

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अंग्रेजी मैनेजिंग एजेन्टों का जहां केवल २२ प्रतिशत कम्पनियों पर नियंणत्र था वहीं उनका मिलों पर ३३ प्रतिशत, तकलों पर ३२ प्रतिशत, करघों पर ३० प्रतिशत ओर पूजी के एक बड़े अर्थात् ५०.३ प्रतिशत पर नियंत्रण था।

बाद के वर्षों में उत्पन्न आर्थिक संकट ने मैनेजिग एजेन्सियों को कपड़ा मिलों पर अपना जंजा जमाने ओर कुछ मामलों में तो भारतीय शेयर होल्डरों का स्वामित्व तक छीन लेने का मौका जमाने और कुछ मामलों में तो भारतीय शेयर होल्डरों का स्वामित्व तक छीन लेने का मौका दिया। इस तथ्य का १९३१ की इण्डियन सैन्ट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया था। उसने लिखा था कि ऐसे कई मामले सामने आये हैं जिसमें एजेन्टों ने अपने कर्ज को मिलों के नाम ऋण–पत्र के रूप में तबदील कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि ये मिलें पूरी तरह उनके हाथ में आ गई और शयर धारकों ने जो पूंजी लगाई थी, वे उससे हाथ धो बैठे।

अध्याय - 3

मूल्यों की गति

(Price Movements)

भारत औननिवेशिक काल में एक कृषि–आश्रित अर्थव्यवथा के रूप में ही विकसित होता है। कृषि–उत्पादन एक ऐसी स्वतंत्र क्रिया थी जो भारत में मौसम की (विशेषकर मानसून की) परिस्थितियों पर निर्भर करती थी। यहीं कारण था कि भारत में मूल्यों की गति में अस्थिरता और चपलाता के लक्ष्ण दिखाई पड़ते है। कभी–कभी मूल्यों में २०–३०% वृद्धि हो जाना एक सामान्य बात दिखाई पड़ती हैं। सामान्यतया इसके बाद उतनी ही तेजी से मूल्यों में गिरावट भी आ जाती थी। मुल्यों में इस तरह का उतार–चढ़ाव मुनाफे में भी इसी तरह की अस्थिरता को जन्म देता ाि और यह स्थिति निवेश को भी बुरी तरह प्रभावित करती है। भारत में औपनिवेशिक काल में कृषि–उत्पाद के मूल्यों में यह उतार–चढ़ाव क्यों आता था? इस का एक आंशिक जवाब ही है। आंशिक रूप से ये उतार–चढ़ाव मुद्रा–व्यवसी, सरकार की मौद्रिक नीति तथा अंर्तराष्ट्रीय मंडियों से भारतीय मंडियों के जुड़ जाने जैसे कारकों से भी संम्बंध रखता है। भारतीय मुद्रा–प्रणाली में हमेशा विदेशी व्यापार के लिए रूपयों की माँग तथा रूपयों की आपूर्ति में एक संतुलन बना कर रखा जाता था। इसमें उन व्यापारियों और उत्पादकों के लिए रूपया प्राप्त करके और खरीदारी करने की गुंजाईश कम थी जो निर्यात–व्यापार में नहीं लगे हुये थे। यानि इस मुद्रा–प्रणाली में, आंतरिक व्यापार में भुगतान के साधन जुटाने के लिए ज्यादा स्थान नहीं था। हाँलाकि आंतरिक व्यापार केवल विदेशी व्यापार की मात्रा और मांग से संचालित नहीं होता था, बल्कि फसलों के उत्पादन पर भी निर्भर करता था। औपनिवेशिक मुद्रा–प्रणाली में इतना लचीलापन नहीं था कि फसलों के सामान्य से अच्दी या बुरी होने पर यह आंतरिक व्यापार की जरूरतों के अनुसार, अपनी आपूर्ति का समायोजन (adjustment) कर सके। इसी से कृषि–उत्पाद के ज्यादा लेन–देन के लिए ज्यादा मुद्रा की जरूरत होती थी लेकिन विदेश व्यापार की स्थिति के कारण मुद्रा का संकुचन (contraction) हो सकता था। एक बुरी फसल के समय, मुद्रा की आंतरिक व्यापार में कम माँग हो सकती थी लेकिन वास्तव में उस समय मुद्रा की आपूर्ति का विस्तार हो सकता था।

1860–1947 के बीच मूल्यों की गति

१८६० के बाद का समय भारतीय कृषि के लिए ऐसा था जिसमें मंडियों का स्वरूप एकदम से बदल जाता है। स्थानीय मंडियों का अलग–थलग अस्तित्व खत्म होना शुरू हो जाता है। आंतरिक स्थल यातायात की सुगमता और सुधार से मंडियाँ परस्पर एक दूसरे से घनिष्ट रूप से जुड़ती चली जाती हैं। इस प्रकार से समुद्री यातायात के सस्ता और सुगम हो जाने से, समुद्री मार्गो से कृषि–उत्पादों को ढोकर ले जाने पर लागत कम आने लगती है और भारत जैसी औपनिवेशिक मंडियाँ विश्व–व्यापार में अपना माल बड़े पैमाने पर भेजने लगती है। इससे अंर्तराष्ट्रीय मंडियों के उतार–चढ़ाव का असर भी घरेलू मंडियों पर गहरा होने लगता है। कृषि उत्पाद के मूल्य प्रतिवर्ष बदलते रहते हैं लेकिनइन मूल्यों के रूझान को समझना जरूरी है। १८६१ से १८८३ तक कई उतर–चढ़ावों के बावजूद हम पाते हैं कि अंत में मूल्य उसी स्तर पर है जिस स्तर पर इस अवधि की शुरूआत में थे। लेकिन १८८० के दशक के बीच में कृषि–उत्पादों के मूल्यों का स्तर बढ़ना शुरू हो जाता है और बीच–बीच में उतार–चढ़ाव को शुरू में थोड़ा धीमा था लेकिन प्रथम विश्व–युद्ध के बाद में अत्यधिक गिरावट आती है लेकिन इनके बाद १९३१–४० के बीच मूल्यों का स्तर १९००–१९१० के दशक के बराबर बना रहता है। १९४० के शुरू के वर्षो में (द्वितीय युद्ध के कारण) फिर मूल्यों में काफी ज्यादा तेजी से वृद्धि होती है और १९४७ तक वे ऊँचे स्तर पर ही कायम रहते हैं।

कृषि-उत्पादों के मूल्यों का निर्धारण करने वाले कारण:

१८८५–१९२० के बीच कृषि उत्पाद के मूल्यों में उतार–चढ़ाव को हम मंडियों में कृषि–उत्पाद की आपूर्ति का ही नतीजा मान सकते है। कृषि उत्पादों की माँग, विशेषकर अगर इसका बड़ा हिस्सा खाद्यान्नों का हो, तो आमतौन पर स्थायी ही रहती है क्योंकि इनकी माँग साल–दर–साल नहीं बढ़ती है। इसका अर्थ है कि कृषि–उत्पादों की मंडियों में आपूर्ति (supply) ही मूल्यों की गति का निर्धारण करती है। मंडियों मं कृषि–उत्पाद तथा खाद्यान्नों की आपूर्ति में परिवर्तन मुख्यतया प्रति एकड़ उपज में होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करेगा। जब मानसून तथा मौसम की परिस्थितियाँ कृषि के पक्ष में होगी तो प्रति एकड़ उपज अधिक होगी और मंडियों में कृषि–उत्पाद की आपूर्ति ज्यादा होगी। इसके विरीत अगर मौसम और मानसून की स्थिति खराब है तो प्रति एकड़ उपज भी कम होगी और मंडियों में कृषि–उतपाद की आपूर्ति कम हो जाएगी। अगर कृषि उत्पाद की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता तो कृषि–उत्पाद के मूल्य उसकी आपूर्ति पर ही निर्भर करेंगें। दूसरे शब्दों में, अच्छी फसल के समय मूल्य कम और खराब फसल के समय मूल्य ज्यादा रहेंगे। विश्लेषकों ने पाया है कि ज्वार, गेहूँ और चावल जेसे खाद्यान्नों के लिए प्रति एकड़ उपज

का सीधा सम्बंध उनके मडियों मूल्यों की दृष्टि से १६१४ से पहले प्रति एकड़ुसल का ज्यादा गहरा सम्बंध हैं। ये दोनों ही नकदी फसलें विश्व मंडियों में निर्यात की जाती थी और इनका अपनी–अपनी अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में अलग–अलग महत्व था। कपास के क्षेत्र में, भारत अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में, इसकी कुल खपत का एक छोटा अंश ही निर्यात करता था लेकिन इसके बावजूद घरेलू उपज की बजाय विश्व की मंडियों के प्रभाव इसके मूल्यों का निर्धारण करते थे। इसके विपरित जूट का निर्यात, अंर्तराष्ट्रीय मंडियों पर अपना प्रभुत्व सिमित कर चुका था। प्रथम विश्व यद्ध के बाद रूसी फ्लैक्स के प्रतियोगिता से बाहर हो जाने से, भारतीय जूट का वर्चस्व और ज्यादा कायम हो गया। लेकिन जूट के मूल्यों पर अंर्तराष्ट्रीय मंडियो का उतना ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता था।

फसलों और मुल्यों के इस सम्बंध से दो बाते देखने को मिलती है। पहली यह कि वे कौन सी अंर्तनिहित मंडियों की संरचनायें हैं जिनके कारण प्रति एकड़ फसल की उपज के कम होने से उस ुसल के मूलय बढ़ जाते हैं या प्रति एकड़ फसल की उपज जयादा होने से उसके मंडियों में मूल्य बढ़ जाते हैं या प्रति एकड़ फसल की उपज ज्यादा होने से उसके मंडियों में मुल्य कम हो जाते है। दूसरा यह कि उन फसलों के मूल्य, जिनमें प्रति एकड़ उपज और मुल्यों की बीच कोई स्पष्ट सम्बंध नहीं है, के रूझानों को कैसा समझा जाये? इस सवालों के जवाब के लिये हम १६वी सदी के मध्य से ही कृषि–उत्पादों की मंडियों में होने वाले संरचनात्मक बदलावों को समझना पड़ेगा। मंडियों की संरचना समझने से हमें मूल्यों का रूझान भी समझ में आयेगा। १८६० से पहले तक भारत में छोटी–छोटी, अलग–थलग मंडियां ही थी। इस स्थानीय मंडियों में स्थानीय अधिकता या वस्तुओं का अभाव से मूल्य तेजी से बढ़ या घट जाते थे लेकिन इनका असर बिल्कुल ही स्थानीय स्तर का रहता था। यातायात की अधिक लागत होने के कारण बड़े भारी परिमाण की कृषि–की वस्तुओं को नियमित रूप से दूर की मंडियों में भेज पाना सम्भव नहीं था। हाँलाकि समुद्र तट के साथ–साथ तथा नदियों के माध्यम से अन्न का व्यापार करते थे लेकिन यह व्यापार नियमित नहीं थे–कभी–कभार ही ये व्यापार किये जाते थे। जब तक यातायात की लागत ज्यादा रही तब तक केवल कुछ उच्च मूल्य तथा कम परिमाण वाली वस्तुयें जैसे नील, अफीम आदि ही नियमित रूप से अंर्त क्षेत्रीय या अंर्तदेशीय व्यापार के लिए भेजी जा सकती थी। यहाँ तक कि उच्च मूल्य वाली नील तथा गन्ने आदि फसलों का उत्पादन भी मुख्य जल मार्गो के क्षेत्रों में ही केन्द्रित था। मंडियों में नियमित रूप से कृषि–उत्पादों को न बेचने से, अलग–अलग स्थानीय मंडियों में खाद्यान्न या दूसरी फसलों के मूल्य में आपस में कोई नियमित या ऐसा सम्बंध नहीं था जिसके बारे में कोई पहले से अनुमान न लगाया जा सकता। इस परिस्थितियों में, विशेषकर १८६० के बाद काफी सुधार आया और इसने स्थल यातायात पर लागत को कम कर दिया। रेलवे का उन क्षेत्रों पर काफी असर पड़ा जहाँ मंकडयों में लाना शुरू कर दिया। इससे किसानों ने अपना कृषि का अधिशेष उत्पाद मंडियों में लाना शुरू कर दिया। कई क्षेत्रों में रेलवे का अना, किसानों को अपने कृषि–उत्पाद को मंडियों में बिक्री के लेकर आना एक नया आर्थिक अवसर था तो दूसरे क्षेत्रों में इतने एक अतिरिक्त सुविधा प्रदान की, एक ऐसी सुधि जिससे किसानों को पहले की अपेक्षा ज्यादा ऊँचे मूलय अपनी फसल के लिए मिलते है। जैसे बेराड़ के क्षैत्र से कपास का निर्यात काफी लम्बें समय से चल रहा था। लेकिन पहले यह कपास बैलगाड़ियों में ढ़ोकर गंगा नही के किनारे मिर्जापुर ले जायी जाती थी जहाँ से नदी के जलमार्ग से यह कलकत्ता की मंडियों में पहुँचती थी। अब रेलवे के आने से इस व्यापार की दिशा बदल गयी। अब इसे रेलगाड़ियों द्वारा बम्बई की मंडी से लाया जाने लगता है। इसी प्रकार सेन्ट्रल प्रोविन्स में रेलवे लाई के आने से यहाँ काफी अन्न का निर्यात होन लगा ताकी निर्यात के लिए ज्यादा भूमि पर गेहूँ का उत्पादन बढ़ता है। इस परिवर्तनों का प्रारम्भ के वर्षो में कृषि–उत्पाद के मूल्यों पर प्रभाव क्या पड़ा होगा, इसका आकलन थोड़ा कठिन कार्य कह सकते है कि देश के अंदर मूल्य कुछ हद तक बढ़तें हैं तथा रेलवे लाइनों के पास की मंडियों से काफी मात्रा में कृषि–उत्पाद निर्यात किये जाने के बावजूद उन मंडियों में मूल्यों में कोई खास गिरावट नहीं आती है।

जैसे–जैसे रेलवे का विस्तार होता है वैसे–वैसे यातायात के खर्ये कम हो जाने से भारती परिमाण की कृषि तस्तुओं का भी नियमित अंर्त–क्षेत्रीय व्यापार विकसित होता है। इस नियमित व्यापार के विकास का एक प्रभाव यह था कि इससे विभिन्न मंडियों के मुलयों में एक समरूपता आनी शुरू हो जाती है। मुल्यों में इस समरूपता आने के दो कारण हो सकते थे – एक देश के अंदर दो सीनीय मंडियों के बीच आंतरिक व्यापार बढ़ जाने से उनके मूल्य एक दिशा में ढ़ि रहे थे क्योंकि दो अलग–अलग क्षेत्रों की मंडियों से अंर्तदेशीय निर्यात एक साथ हो रहा था। इन दोनों ही रूझानों के कारण अलग–अलग दो मंडियों में मूल्यों में समरूपता का रूझान बढ़ता चला जाता है। पहली रेलवे लाइनों ने देश के अंदर के भागों को बंदरगाहों से जोड़ने का काम किया। अगर हम देश के अंदर की मंडियों में अन्न के मूल्यों की तुलना बंदरगाहों के मूलयों से करें तो उनमें एक जैसा ही रूझान दिखाई पड़ता है। लेकिन देश के आंतरिक बाजारों में गेहूँ का मूल्य बंदरगाह पर गेहूँ के मूल्य से १६०० तक कम ही रहता है। चूँकि गेहूँ का निर्यात हो रहा था–आयाता नही, इसलिये औसत मूल्य निर्यात के बंदरगाह पर लाजिमी रूप से अधिक ही होगा– इसमें कोई आश्यर्च की बात नहीं है। बंदरगाह पर अन्न का औसत मूल्य अधिक था क्योंकि उसमें उसे देश के अंदर की मंडियों से बंदरगाह तक लोने की यातायात की लागत भी जुड़ जाती थी। लेकिन गेहूँ की अपेक्षा चावल के लिए यह बात ठीक उल्टी थी।

१८६० से पहले बंदरगाह पर चावल का औसत मूल्य अंदर देश की मंडियों के औसत मूल्य से अकसर कम रहता था। इसका कारण था कि चावल का भारत में, विशेषकर कलकत्ता बंदरगाह पर बर्मा से आयात किया जा रहा था। अयाता के कारण बंदरगाह शहरों में चावल के मूल्य देश के अंदर के भागों की अपेक्षा कम रहते थे क्योंकि यह आयात किया चावल देश के अंदर की मंडियों में यह इतने ऊँचे दामों पर बिक सके ताकि इससे बंदरगाह से इसे अंदर की मंडी तक लाने की यातायात की अतिरिक्त लागत पूरी हो सके।

उन्नसवीं सदी के अंत में हम व्यापार का एक नया स्वरूप विकसित होते हुए देखते है। इस समय तक रेलों का काफी विस्तार हो चुका था और बढ़ते रेल के घन्तव के साथ रेलों पर माल के भाड़े भी कम हो रहे थे। खाद्यान्नों, दालों तथा कपास आदि का रेलों द्वारा ज्यादा परिमाण में ढोया जाने लगा था। १६०० से शुरू होकर प्रथम विश्व युद्ध तक की अवधि में कृषि–उत्पादों के आंतकिर मंडियों का विकास हुआ, उसके कारण बंदरगाह तथा देश के अंदर की मंडियों में मूल्यों का अंतर भी कम हो जाता है। कम से कम गेहूँ के मूल्यों के बारे में यह बात ज्यादा स्पष्ट रूप से झलकती नजर आती है। मंडियों की संरचना के इस विश्लेषण से यह बात साफ दिखाई देती है कि कृषि उत्पादों के मूल्यों का फसल की उपज से गहरा सम्बंध था और फसलों के आकार के क्षेत्रीय उतर–चढ़ावों का प्रभाव जब अधिक से अधिक पूरे भारतवर्ष के मूल्यों पर भी पड़ रहा था। कृषि में भारती वस्तुओं की मंडियों के निर्माण का मतलब था कि स्थानीय फसलों के आकार के अनुरूप स्थानीय मंडियों में मूल्यों के उतार–चढ़ाव कम हो जाते है लेकिन अन्य क्षेत्रों में फसलों के आकार के कारण दूसरे क्षेत्रों में फसलों के आकार के कारण दूसरे क्षेत्रों तथा अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में मूल्यों का उतार–चढ़ाव और भी ज्यादा बढ़ जाता है। अब तक हम यह देख चुके मंडियों में मूल्यों का उतार–चढ़ाव और भी ज्यादा बढ़ जाता है। अब तक हम यह देख चुके है कि भारत के अंदर व्यापार की परिस्थितियों ने कैसे कृषि–उत्पादों के मूल्यों के उतार–चढ़ाव को प्रभाव किया था। इस विश्लेषण में बाहरी अंर्तराष्ट्रीय मंडियों का घरेलू कृषि–उत्पादों के मूल्यों पर प्रभाव भी अंर्तनिहित है लेकिन इस बाहरी अंर्तराष्ट्रीय व्यापार तथा मंडियों के प्रभाव को अलग से साफ–साफ समझ लेना भी जरूरी है क्योंकि मूल्यों का ज्यादा उतार–चढ़ाव इन्हीं बाहरी सम्बन्धों से ज्यादा आता है।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे भाग में तीन महत्वपूर्ण कारक थे जिनके कारण कृषि–उत्पादों की यूरोप की मंडियों में माँग बढ़ जाने से उसका प्रत्यक्ष और दूरगामी प्रभाव भारत पर पड़ा। इनमें सबसे प्रमुख बात थी कि देश के अंदर स्थल यातायात पर लागत कम हो जाने से भारी–भरकम परिमाण की कृषि की वस्तुओं को बंदरगाह शहरों तक उन मूल्यो पर लाना सम्भव हो गया जिन पर वे दूसरे कृषि के निर्यातक देशों की कृषि–वस्तुओं से अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में आसाना से प्रतियोगिता कर सकती थी। दूसरा समुद्र में माल–भाड़े की गिरती हुई दरें थी, जिसका रूझान १८६६ में स्वेज नहर के खुल जाने से जयादा साफ रूप से देखा जा सकता था। उदाहरण के लिए एक टन गेहूँ को कलकत्ता से लंदन भेजने पर १८७३ में २.७६ पौंड से लेकर ३ पौड तक यातायात पर लागत आती थी लेकिन १८६७ में यह खर्चा कम होकर ०.७६ पौंड से १.२६ पौंड ही आता था। समुद्री यातायात में आई इस तेज गिरावट के कारण ही यूरोप की मंडियों में भारतीय कृषि–उत्पाद ज्यादा खरीदा जाने लगा। हत यहाँ यह अपेक्षा कर सकते हैं कि यातायात में भाड़े का खर्च कम हो जाने से यूरोप की कृषि उत्पाद की मंडियों का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय मंडियों पर पड़ेगा। यह एक अहम सवाल है कि किस हद तक भारतवर्ष में कृषि उत्पादों का रूझान अंर्तराष्ट्रीय मूल्यों की गति को दर्शाता है? इसके लिए हम भारतीय कृषि–वस्तुओं के मूल्यों का सूचांक (index) या तो स्थायी है या वह गिर रहा है वहीं भारतीय कृषि की वस्तुओं के मूल्यों का सूचंक बढ़ रहा था। १८६५ के बाद अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में कृषि–उत्पादों के मूल्य का सूचांक बढ़ रहा था लेकिन यह वृद्धि इतनी ज्यादा नहीं थी जितनी की भारतीय कृषि उत्पादों में प्रामि विश्व युद्ध शुरू होने तक होती नजर आती है। इससे यह बात सॉ हो जाती है कि भारतीय कृषि–उत्पादों के मूल्यों का निर्धारण केवल अंर्तराष्ट्रीय मंडियों के उतार–चढ़ाव नहीं कर रहे थे।

अंतराष्ट्रीय मंडियों और भारतीय मंडियों में मूल्यों के अंतर को फिर कैसे समझा जाये–खासकर जब घटती यातायात पर लागत के कारण उनका रूझान हम एक ही दिशा में होने की अपेक्षा करते है। इसके लिए यूरापीय बाजारों में भारतीय कृषि की वस्तुओं के मूल्य को प्रभावित करने वाले तीसरे कारण पर नजर डालनी पड़ेगी। यह कारण था कपड़े का अवमूल्यन या उसके मूल्य में लगातार आ रही कमी। १८७३ में अगर हम रूपये के मूल्य का सूचांक सोने के मापदंड के अनुसार १०० मान ले तो १८६५ में इसका सूचांक ६४ ही रह गया था। यह अपने आप में रूपये का बड़ अवमूल्यन था हाँलाकि १६१० में थोड़ा सुधार होकर यह सूचांक ७४ पर पहुँच गया। रूपये के मूल्य में यह कमी विश्व बाजारों में चाँदी के गिरते मूल्यों के कारण थी क्योंकि भारतीय मुद्रा चाँदी के रूप में ही थी या चाँदी के मानक के आधार पर चलती थी। अगर हम बम्बई में गेहूँ के दाम को सोने की मद्रा (इंग्लैण्ड के सैन्ट्स) में बदल ले ओर इसको शिकागो या लिवरपूल के मूल्यों से तुलना करं तो पाते हैं कि वास्तव में १८७३ और १६१३ के बीच भारतीय गेहूँ के दामो में कोई ज्यादा महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता है। इससे हमारी यह अपेक्षा भी पूरी हो जाती है कि इस अवधि में यातायात के खर्चे कम हो जाने विश्व में वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि का रूझान होने से भारतीय वस्तुओं के मूल्य भी विश्व में कृषि उत्पादों के मूल्य के अनुरूप दिशा में बढ़े। यानि कि हम पाते हैं कि भारत, इंग्लैण्ड और अमेरिका में

कृषि–वस्तुओं के मूल्य में अंतर मूख्यतया उनकी मुद्राओं के सापेक्ष मूल्य में परिवर्तन के कारण से है। यहाँ यह बात भी समझ लेना चाहिये कि यातायात के खर्चों में कमी यूरोप में कृषि–उत्पादों की बढ़ती माँग को प्रभावी बनाने की पूर्व शर्त थी। अगर भारत में अयातायात की आगत १८३० के स्तर पर ही रहती तो भारत के अंदर मंडियों का एकीकरण भी नहीं होता और उनकों बंदरगाहों से जोड़ने का भी सवाल ही पैदा नहीं होता। अगर भारत में भारी–भरकम परिमाण की कृषि वस्तुओं का व्यापार नहीं बढ़ा होता तो चाँदी के मूलयों में बदलाव का भारतीय कृषि की वस्तुओं के दामों पर भी उतना अधिक असान नहीं पड़ा होता। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत में कृषि–उत्पादों के मूल्यों का उतार–चढ़ाव अमेरिका में कृषि–उत्पादों के मूल्यों के उतार–चढ़व से मिलता–जुलता हीथा। दोनों ही देशों के संदर्भ में, १६१६–२८ के बीच मूल्यों का रूझान, युद्ध से पहले के मूल्यों से थोड़ा उपर उठकर स्थिर हो जाने का है और १६२६–३१ में मूल्यों में एकदम भारी गिरावट आती है। भारत में १६२६–३१ में कृषि–उत्पाद के मूलयों में गिरावट उन्हें खींचकर १६००–०५ के स्तर पर ले आती है। भारतीय तथा अमेरिका की मंडियों में कृषि–उत्पाद के मूलयों की यह समानता विश्व की मंडियों के बढ़ते जा रहे घनिष्ठ सम्बंध को भी दर्शाती है और साथ ही साथ इस तथ्य को भी कि १६२२ के बाद रूपये का मूल्य अपेक्षाकृत स्थिर ही रहता है।

अंत में कृषि–उत्पादों के मूल्यों की गति के बारे में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन फसलों के, जो भारत में पैदा की जाती है और यही जिनका व्यापार सीमित रहता है जैसे ज्वार और चावल या जिनका भारत एक मुख्य निर्यातक था जैसे जूट, उनके संदर्भ में प्रति एकड़ उपज के बदलाव साल–दर–साल मूल्यों के परिवर्तन की दिशा का निर्धारण करता है। इसके विपरित जो कृषि वस्तुएं प्रतिस्पधात्मक अंर्तराष्ट्रीय मंडियों में निर्यात की जाती है जैसे कपास और गेहूँ, उनके संदर्भ में अंर्तराष्ट्रीय बाजारों में माँग और आपूर्ति के प्रभाव, घरेलू मंडियो में भी मूल्यों की दिशा का निर्धारण करते है। अंर्तराष्ट्रीय मंडियोंके साथ घनिष्ठ सम्बंध ा ही मूल्यों के बदलाव को इन फसलों के लिए निर्धारण करता है। १८८० से १६१५ तक कृषि–उत्पादों के मूल्यों में वृद्धि का रूझान मुख्यतया यूरोप की मंडियों में भारतीय माल की माँग बढ़ने के कारण पैदा होता हे। इस माँग का प्रभावशील होना स्थल तथा समुद्री यातायात के खर्चो में कमी आने पर निर्भर था। रूपये की कीमत का तेजी से अवमूलयन होन से उस फसलों के दाम भी बढ़े जिनकी माँग अंर्तराष्ट्रीय बाजारों में थी। इसी प्रकार इस फसलों के वैकल्पिक कृषि–उतपादों के दाम भी बढ़ते हैं। जैसे अगर विश्व–बाजार में गेहूँ के दाम बढ़ते हैं तो भारत में गेहूँ के साथ–साथ जवार ओर बाजरे के दाम भी बढ़ जाते है। इससे कृषि–क्षेत्र में नई मंडियों के सुअवसर पैदा होते हैं जो कृषि–उत्पादन के कुछ सीमित विस्तार में भी सहायक होते हैं। इस सबका प्रभाव सभी कृषि–आश्रित वर्गो तथा समूहों के लिए भी एक जैसा ही रहा हो, ऐसा नहीं ाी लेकिन कम से कम एक धनी समृद्ध किसान वर्ग इनका लाभ उठा पाता है।

गैर-कृषि पदार्थो के मूल्यों की गतिः

महतवपूर्ण गैर–कृषि पदार्थो में कपड़ा, धातुयें, नमक, कोयला तथा कैरोसीन आदि शामिल किये जा सकते हैं। साल–दर–साल इनके मूल्यों में अपेक्षाकृत कम उतार–चढ़ाव देखने को मिलता हैं। दूसरी बात इनके संदर्भ में हम देखते है कि इनके मूल्यों में १६०५ तक कोई ज्यादा उछाल नहीं दिखाई देता। १६०५ के बाद इन गैर–कृषि वस्तुओं के मूल्यों का सूचांक वस्तुओं के सामान्य मूल्य सूचांक के साथ–साथ ही बढ़ता है। क्या कारण है कि १८८५ और १६०५ के बीच कृषि–उत्पादों के दाम तेजी से बढ़ते हैं लेकिन गैर–कृषि पदार्थो के मूल्य नहीं बढते? गैर–कृषि पदार्थो में अधिकांश ऐसे थे जो या तो आयात किये जाते थे या ऐसे पदार्थ जो आयात किये गये पदार्थो के साथि प्रतियोंगी थे। १८७० के मध्य से ही इंग्लैण्ड में उद्यांगों के निर्मित पदार्थो के मूल्य कम होता जा रहे थे और १८६० के मध्य में ये एकदम नीचे के स्तर पर पहुँच जाते हैं। उनके बाद ही ये धीरे–धीरे प्रमि विश्व युद्ध तक बढ़ते हैं। लेकिन फिर इंग्लैण्ड ओर भारत में गैर–कृषि पदार्थो के मूल्यों में अंतर को हम कैसे समझ सकते हैं। यातायात के कम होते खर्चों के कारण इंग्लैण्ड के औद्योगिक–उत्पादों में गिरावट आने से इनका भारत की मंडियों में भी मूल्य कम होना चाहिये था क्योंकि भारत इन औद्योगिक–उत्पादों में गिरावट आने से इनका भारत की मंडियों में भी मूल्य कम होना चाहिये था क्योंकि भारत इन औद्योगिक–उत्पादों का बड़े पैमाने पर आयात करता था। हाँलाकि आयात किये गये औद्योगिक निर्मित पदार्थो के मामले में यातायात के खर्चों के कम होन का प्रभव मूल्यों पर कम पड़ता था। इसका कारण भी रूपये के अवमुल्यन में ही था। १८७५–१८६५ के बीच औद्योगिक–उत्पादों के मूल्य में इंग्लैण्ड में करीब ३५% की गिरावट दर्ज की गई लेकिन इस अवधि ा में रूपये का मूल्य भी ३५% कम हो गया था। इसका तात्पर्य था कि भारत में इंग्लैण्ड से आयात किये जा रहे औद्योगिक–उत्पादों के मूल्य रूपये के रूप में कम नही होते हैं।

मूल्यों की इस गति में हम यह मान कर चल रहे हैं कि निर्यात किये पदार्थो में कृषि–उत्पाद और आयात किये जा रहे पदार्थो में औद्योगिक–उत्पाद ही प्रमुख स्थान रखते थे। मोटे तोर पर इसलिये निर्यात के मूल्यों का रूझान कृषि–औद्योगिक उत्पादों के मूलयों के समतुल्य ही होनी चाहिए।

यह बात मोटे रूप से सच भी है कि निर्यात के मूल्यों की गति और कृषि–उत्पादों के मूल्यों की गति समानान्तर ही चलती है लेकिन प्रतिवर्ष कृषि–उत्पाद के मूल्यों में जितनला उतार–चढ़ाव देखने को मिलता है उतना निर्यात के मूल्यों में नहीं। इसी प्रकार आयात के मूल्यों की गति ओर गैर–कृषि औद्योगिक वस्तुओं के मूलयों की गति भी एक ही दिशा में समानान्तर चलती है हाँलाकि आयात के मूल्यों में १८७०–१८६५ के बीच जितनी तेजी से गिरावट आती है उतनी गैर–कृषि उत्पादों के मूल्यों में नहीं आती। इसी प्रकार आयात के मूल्यों में वृद्धि, प्रथम विश्व युद्ध के बाद भी विदेशी आपूर्ति समाप्त होन से, गैर–कृषि औद्योगिक पदार्थो में हुई मूल्य–वृद्धि से कहीं ज्यादा थी।

उत्पादन के विभिन्न कारकों के मूल्यों की सापेक्ष गतिः

यदि पैसे के रूप में भुगतान किये जा रहे उत्पादन के विभिन्न कारकों के मूलय (मीमतें जिन पर मुन्ाा निर्भर है) मजदूरी की दर (wage) तथा लगान (rent) एक ही अनुपात में बढ़ या घट रहे हों तो इसका मतलब होता है कि अर्थ व्यवस्था में आय के वितरण में भी कोई बदलाव नहीं आयेगा। लेकिन हमेशा नहीं होता है। उत्पादनके विभिन्न कारकों के मूल्यों में जो सापेक्ष गति होती है यानि कुछ के मूलय दूसरों के मूलयों की तुलना में जब कम या ज्यादा होते हैं तो इससे आय का पुर्नवितरण भी होता है। जब कृषि के मूल्य गैर–कृषि के मूल्य गैर–कृषि मूल्यों से ज्यादा तेजी से बढ़ते है, तब किसान तथा किसान कृषि अधिशेष के अन्य स्वामी (जैसे जमींदार) कृषि उत्पाद की बेची गई प्रत्येक इकाई के बदले ज्यादा गैर–कृषि पदार्थो को खरीद सकते हैं। इससे उनकी वास्तविक आय में वृद्धि होगी। हाँलाकि उनकी वास्तविक आय में वृद्धि इस पर भी निर्भर करेगी कि उनके द्वारा बाजारो में बेचे जा रहे कृषि–उत्पाद की मात्रा में कमी नहीं आये। अकाल के समय में कृषि–उत्पाद के दाम गैर–कृषि उत्पादों के मुकाबले बहुत ज्यादा हो सकते हैं लेकिन ऐसे में हम यह नही कह सकते कि इससे किसानों की वास्तविक आय में वृद्धि हो रही है क्योंकि अभाव के समय किसान के पास मंडियों में बेचने के लिए कृषि–उत्पाद ही नहीं होगा। हाँलाकि कृषि–उत्पादों के सापेक्ष मूल्य में वृद्धि होने से कृषि पर आश्रित लोगों की वासतविक आय में वृद्धि होती है लेकिन यह जरूरी नहीं कि इससे गैर–कृषि उत्पादकों की आय कम ही हो जाये। अगर उनके द्वारा उतपादित वस्तुओं की माँग पहले जैसे ही रहती है तो वे प्रति इकाई अपने उत्पाद के बदले पहले से कम कृषि–वस्तुएं खरीद पायेंगें ओर उनकी वास्तविक आय कम होगी लेकिन अगर गैर–कृषि उत्पादों की माँग बढ़ती है और वे अपना उत्पादन भी बढा सकने में समर्थ होते हैं तो वे अपनी आय का पहले का स्तर कायम रख सकते हैं।

कृषि-अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रिया-कलाप तथा मूल्यों की गति का सम्बंधः

औद्योगिक अर्थ व्यवस्थाओं में यह माना जाता है कि मूल्य वृद्धि की अवधि में आर्थिक क्रिया–कलापों का विस्तार होता है। अर्थात् इसमें पूँजी–निवेश बढ़ता है, उत्पादन भी बढ़ता है तथा इसमें उत्पादन के विभिन्न कारकों की कीमतों भी बढ़ती है। इसके विपरित, एक औद्योगिक अर्थव्यवस्था में, घिरते मूल्यों की स्थिति में निवेश की गति मुंदी पड़ जाती है, उत्पादन या तो स्थिर रहता है या बहुत धीमी दर से बढ़ता है ओर उत्पादन के विभिन्न कारकों के मूल्य तथा माँग भी कम होंगे। इस प्रकार का सम्बंध एक कृषि अर्थव्यवस्था की विशेषता नहीं होती क्योंकि इस तर की अर्थव्यवसी में कृषि–वस्तुओं के मूल्य ही सामान्य मूल्य–स्तर का निध ारिण करते हैं और कृषि–वस्तुओं के मूल्य फसल या उपज के आकार या परिमाण पर ही सामान्यतया निर्भर करते हैं। एक कृषि अर्थव्यवसी में, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र भी छोआ हो, उद्योगों के उत्पादित माल की माँग भी कृषि क्षेत्र में लागों की क्रय–शक्ति पर ही निर्भर करती है। यानि कि औद्योगिक उत्पादों की माँग इस बात पर निर्भर करती है कि किसानों के पास अपने कृषि–उत्पाद की अधिशेष की बिक्री के बाद राजस्व, कर तथा कजों आदि का भुगतार करके कितनी धन–राशि बच जाती है। यह धन–राशि या क्रय–राशि या क्रय–शक्ति इस पर भी निर्भर करती है कि किसान अपने परिवार के उपभोग की जरूरतें पूरी करके कितना उपज का भाग मंडियों में बेच पाता है तथा मंडियों में फसल के उस हिस्सें के उसे कितने दाम प्राप्त होते हैं। १८६० और १९४७ के बीच मूल्यों की गति और रूझान के आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

इस काल में कृषि–वस्तुओं की मंडियों का विस्तार होने कृषि–आय पर कई प्रकार से असर पड़ता हैं। एक, स्थानीय खाद्यान्नों के उत्पादन को गैर–स्थानीय विक्रेताओं को बेचकर ज्यादा आय अर्जित की जा सकती थी। दूसरा, उच्च मूल्य की फसलों जैसे गेहूँ या कपास की मंडियों का भी विस्तार होता है जिससे किसान अब इस तरह की उच्च मूल्य वाली फसलों का उत्पादन बढ़ा सकते थे। तीसरा, जैसे–जैसे आंतरिक मंडियाँ सुविकसित होती हैं वैसे–वैसे भविष्य में फसल के नष्ट के डर से जो किसान अन्न का ही ज्यादा उत्पादन करते थे, वे अब मंडियों में बिक्री के लिए अन्न या दूसरी फसल का उत्पादन करने लगते हैं। यह सब परिवर्तन मंडियों के विस्तार तथा यातायात के खर्चे में कमी से ही सम्भव हो पाता है। १८६५–१९१५ के बीच कृषि में वास्तविक आय की वृद्धि कृषि–वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण और इसके सापेक्ष गैर–कृषि वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण और इसके सापेक्ष गैर–कृषि वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता के कारण आय के पुर्नवितरण से भी सम्भव हो पायी थी।

औपनिवेशिक कृषि–व्यवस्था में मूल्यों का अस्थायित्त्व उस समय पर सबसे अधिक नजर आता है जब मुद्रा की उपलब्धि तथा फसलों की आपूर्ति दोनों ही फसलों के मूल्य पर एक साथ प्रभाव डालते थे। २०वी सदी में इसके उदाहरण देकर हम इसे समझने की कोशिश कर सकते हैं। १६०३–०८, १६१३–१४ तथा १६१६–२० में कृषि–वस्तुओं के मूल्य में असामान्य वृद्धि होती है। इन तीनों ही समय–अवधियों में फसलों के नष्ट होने से कृषि–उत्पादन के मूल्य बढ़ते हैं। १६०२–०४ में ७%, १६०६–०७ में १५%, १६१०–१३ में १४% तथा १६१७–१८ में ३०% कृषि–उत्पादन कम होता है। उत्पादन की कमी मूल्यों में वृद्धि को जन्म देती है। लेकिन इस सभी अवधियों में निर्यात की माँग भी बढ़ने से मुद्रा की अपूर्ति भी बढ़ जाती है। दोनों कारणों ने कृषि–वस्तुओं के मूल्य में अभूतपूर्व वृद्धि होती है। इसके विपरित १६२६–३१ की महान आर्थिक मंदी के समय व्यापार तथा मुद्रा दोनों का एक साथ संकुचन होने से मूल्यों में अभूतपूर्व गिरावट की स्थिति पैदा होती है। १६२० के दशक के शुरू से ही मुख्य औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में उनकी वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग में गिरावट का रूझान दिखाई देने लगता है। इससे उन अर्थव्यवस्थाओं में रोजगार और उत्पादन के स्तरों में भी काफी गिरावट आती है।

इससे विश्व स्तरका व्यापार कम होती है और सब जगह मुद्रा का संकुचन होती है। यह एक प्रकार से स्वर्ण मानक (Glold standard) का ही नतीजा था। मुद्राओं के स्वर्ण–मानक के आधार पर स्थायी निनिमय दरें निर्धारित किय जाने की वजह से, व्यापार या भुगतान में गिरावट से सीधे मुद्रा का सुकुचन होता था, अवमूल्यन नहीं। विश्व स्तर की इस मंदी के दौरान भारत पर दो प्रकार के प्रीााव पड़े। एक भारतीय वस्तुओं, विशेषकर कृषि उत्पादों के निर्यातों का तेजी से संकुचन होतीा है। दूसरे स्वर्ण मानक विनिमय के कारण मुद्रा का प्रसार कम होती है तथा इससे व्याज की दरें बढ़ती हैं।:ब्रिटेन तथा यूरोप के देशों ने स्वर्ण मानक का तयाग करके हुित ही निम्न स्तर पर पहुँच गयी और भारत अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यातों की माँग भी पैदा नहीं कर सकता था क्योंकि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के एक ऐसे पुर्जे के रूप में, भारत को सीयी रूप से गृह–शुल्का (Home Charges) के रूप में, ब्रिटेन को एक नजराने का भुगतान करना पड़ता था। ब्रिटिश सरकार को डर था कि भारत में मुद्रा के अवमूल्यन से अंग्रेज सरकार उन विदेशी भुगतानों को नहीं कर सगेगी जो इसे करने लाजिमी थे। राष्ट्रयवादी नेता इस मंदी के दौरान लगातार रूपये तीा पौंउ के बीच के विनिमय–दर कम करने की (या अवमूल्यन) की माँग करते रहे। परिणामस्वरूप भारत में बहुत गंभीर रूप से मुद्रा का प्रसार कम होता चला गया, इसका प्रीाव सरकारी खर्चों में इस समय कटौती करने से और भी बुरा साबित हुआ। ब्याज की दरें बढ़ने से निवेश पर बुरा असर पड़ता है तथा नीजि ऋणों तथा लगाानों के मूल्य बढ़तें हैं। जैसे–जैसे यह स्थिति विकट हुई वैसे–वैसे कृषक, सम्पत्ति सोना और जमीनें बेचने को विवश हो जाते हैं। इसीलिये ऋणों तथा लगानों का लेकर किसानों में इस समय व्यापक असंतोष भी उभरता है। चूँकि १६२६–३१ के बीच कृषि–उत्पाद के दामों में ४४% गिरावट आती है। इस मंदी का सबसे बड़ा प्रभाव १६३० के प्रारंभिक वर्षों में काफी मात्रा में सोने के निर्यात के रूप में दिखाई पड़ता है १६३१–३२ से १६३४–३५ के बीच सोने के निर्यात का भारत के निर्यात के कुल मूल्य में ३०% था। निस्संदेह यह सब किसानों द्वारा मजबूरी में (कृषि उत्पाद की कीमतें गिरने) किया जा रहा था।

अध्याय - 4

146

जनसंख्या का विकास अनुमान विनगरीकरण विवाद

अंग्रजी काल में भारत की जनसंख्या लम्बे तक स्थिर रहकर बीसवीं सदी में – विशेष कर 1921 के बाद तेजी से बढ़ना शुरू होती है। अंग्रेजी राज के शुरू में भी भारत की जनसंख्या काफी थी हालांकि उसका सही–सही अनुमान लगा पाना बेहद मुश्किल काम है। जनसंख्या का सीधा समबन्ध आर्थिक विकास की प्रक्रिया से भी है। सिद्धांत रूप में जनसंख्या एक उत्पादक साधन के रूप में भी काम कर सकती है और एक बोझ भी साबित हो सकती है। यह एक उत्पादक साधन बन सकती है अगर लोगों की औसत उत्पादकता की संख्या के साथ बढ़े जाने से अन्य उत्पादन के साधनों का पहले से ज्यादा कुशल तरीके से इस्तेमाल करने में मदद मिलने लगे। लेकिन जनसंख्या की वृद्धि अर्थव्यवस्था के लिए एक बोझ भी बन सकती है अगर उत्पादन के दूसरे साधनों का पहले ही अभाव हो और अगर जनसंख्या के साथ–साथ श्रम की उत्पादकता न बढ़ रही हो। औपनिवेशिक काल के संदर्भ में हम अपने देश में पाते हैं कि जनसंख्या इस समय बढ़ना शुरू होती है जब कृषि का विकास धीमा होता जा रहा था। निस्संदेह इससे ग्रामीण अंचलों में गरीबी और भूखमरी की स्थिति और बदतर होती है। यहाँ यह महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि क्या भारत में जनसंख्या की वद्धि का आर्थिक जड़ता से कोई समबन्ध था या नहीं?

जनसंख्या का विकास मुख्यतया निम्नलिखित तीन कारकों से प्रभावित होता है :

(क) छोटे या बड़े परिवार की आर्थिक तर्क संगतता,

(ख) बड़े या छोटे परिवार को अपनाने के पीछे सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ, और

(ग) किसी व्यवस्था में स्वास्थ्य सेवाओं तथा पोषण का स्तर।,

जनसंख्या के लम्बी अवधि के रूझान इन्हीं कारकों से तय होते हैं। जनसांख्यिकेय संक्रमण (Demographic transition) के सिद्धांत के अनुसार, पूर्व–आधुनिक या औद्योगिक काल में अकाल तथा महामारियों के कारण जनसंख्या तेजी से नहीं बढ़ पाती थी क्योंकि मृत्यु–दर की अधिकता उसे नीचे खीच लाती थी। इसव प्रकार की स्थिति में ज्यादा बच्चे पैदा करके जन्म दर को उच्च स्तर पर रखना भी आर्थिक रूप से तर्क संगत होता था। जनसंख्या का विस्तार इस स्थिति में या तो धीमा होता था या नहीं के बराबर। प्रजनन की उच्च दर को धार्मिक विश्वास, नैतिक में या तो धीमा होता था या नहीं के बराबर। प्रजनन की उच्च दर को धार्मिक विश्वास, नैतिक मूल्यो, सरकारी कानूनों, प्रथाओं, विवाह तथा परिवार की संरचना में ढूंढ जा सकता था। लेकिन जैसे–जैसे औद्योगीकरण तथा नगरीकरण होना शुरू होता है। वैसे–वैसे मृत्यु दर, विशेष कर औद्योगीकृत पश्चिम के देशों में कम होनी शुरू होती है। इसका सीधा सम्बन्ध सुधरती स्वास्थ्य सेवाओं तथा पोषण के स्तर से था। उच्च प्रजनन की दर को बनाये रखने वाले 'सामाजिक–सांस्कृतिक' मूल्य तथा संस्थाओं की अब आर्थिक तर्क संगतता के रूप में अब जरूरत नहीं थी। लेकिन ये मूल्य लोगों के अंर्तमनों पर छाये हुए थे इसलिये जन्म दर उतनी तेजी से कम नहीं होते। मृत्यु दर के गिर जाने से तथा प्रजनन दर स्थिर रह जानेके कारण जनसंख्या का तेजी से विस्तार होता है। लेकिन तीसरे चरण में बड़े परिवारों की आर्थिक लागत को देखते हुए प्रजनन की दर कम हो जाती है। पश्चिमी देशों में यह औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा स्त्रियों के श्रम–शक्ति में उत्पादक दृष्टि से भागीदारी के साथ–साथ होता है। शिक्षा का विस्तार तथा रवैये में बदलाव से भी लोग अब छोटे परिवार को पसंद करना शुरू कर देते हैं। इससे इन देशों में जनसंख्या के विस्तार की गति फिर धीमी हो जाती है। अल्प–विकसित तथा उपनिवेश देशों में जनसंख्या के संक्रामक का प्रथम भाग तो पूरा हो जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत में बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं के कारण मृत्यु दर काफी तेजी से कम होती है लेकिन जन्म दर में कोई कमी नहीं आती। सामाजिक सांस्कृति जीवन मूल्यों के प्रभाव के कारण तथा जन–शिक्षा के अभाव में प्रजनन की दरें ज्यादा बनी रहती हैं जिसके कारण जनसंख्या का तेजी से विस्तार तो होता है लेकिन अंतिम चरण में जनसंख्या का निम्न प्रजनन दर पर ठहराव नहीं हो पाता। जनसंख्या की तेज वृद्धि दर सार्वजनिक सोवाओं, प्राकृतिक संसाधनों की प्रति–व्यक्ति उपलब्धता तथा संसाधनों के उपयोग करने की विधियों को भी प्रभावित करता है।

जनसंख्या विस्तार का आर्थिक प्रभाव

पहले मालथस के सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता था कि जनसंख्या बढ़ने से प्रति व्यक्ति खाद्य–सामग्री की उपलब्धता कम हो जाने से अकाल तथा महामारियों के रूप में इसका परिणाम सामने आयेगा। जिससे जनसंख्या का स्तर वापस कम हो जायेगा। दूसरे अनय कई आर्थिक परिवर्तनों के कारण मालथस की भविष्यवाणी सच नहीं हुई। जनसंख्या बढ़ने से अगर किसी देश में प्रति–व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धि कम भी हो जाती है तब भी यातायात के खर्चे कम हो जाने से तथा विदेश–व्यापार के विस्तार के कारण विश्व स्तर पर खाद्यान्नों के वितरण की स्थिति सुधर जाने से अन्न की आपूर्ति कम नहीं हुई। दूसरे खाद्य–पदार्थों की उपलब्धता कम होने पर भी जनसंख्या इससे समायोजन कर लेती है – भले ही इसका नतीजा बाल और स्त्री कुपोषण के रूप में आये (मृत्यु–दर की वृद्धि में नहीं) हालांकि बढ़ी जनसंख्या का सम्बन्ध केवल खद्य–सामग्री से नहीं होता। अगर जनसंख्या के अनुपात में पूँजी या भूमि भी कम हो जाये तो इसका नतीजा भी आर्थिक संसाधनों के उचित उपयोग में बाधक हो सकता है। इससे मजदूरी की दरें कम हो सकती हैं तथा भूमि को उत्पादकता पर भी बुरा असर पड़ सकता है। यही भारत के संदर्भ में हुआ भी – बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही भारत में कृषि और भूमि की उत्पादकता कम हो रही थी या जड़वत् बनी हुई थीं इसके साथ मजदूरों की वास्तविक मजदूरी की दरें भी कम हो रही थी। यह बात पूर्वी भारत के बारे में बहुत सच थी क्योंकि यहाँ 1901 के बाद से ही जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत ज्यादा था। उन्नीसवीं सदी में सिंचाई के विस्तार से कृषि का विस्तार हुआ और बंजर भूमियों को कृषि–योग्य बनाया गया था। बीसवीं सदी में यह कृषि–योग्य भूमि भी कम हो गयी तथा सामूहिक चारागाहों आदि की भूमियाँ भी खत्म होने लगी। प्रति–व्यक्ति भूमि की उपलब्धता कम हाने का मतलब था कि औसत किसान परिवार के पास कम साधन रह जाना। इससे कृषि में निवेश की सम्भावनायें तथा उत्पादकता सुधारने की गुंजाइश भी कम हो गयी। सामूहिक भूमियों के खत्म होने से जल संसाधनों की उपलब्धता तथा वन की उपलब्धता भी कम हो गयी। इससे भी प्रतयक्ष या अप्रतयक्ष रूप से भूमि की उत्पादकता कम हो गयी। तेजी से बढ़ती जनसंख्या का सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं जैसे यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के ऊपर भी अनावश्यक बोझ बढ़ जाता है।

जनगणना अर्थिक इतिहास का एक औजार है। जन्म–मृत्यु, जनसंख्या की क्रमिक वृद्धि, औसत आयु, जीविका, गाँव और नगरों का अनुपात, ये सब चीजें इतिहासकारों के काम आती है, हमारे देश में और भी ज्यादा, क्योंकि अन्य आर्थिक सूचनाओं या आँकड़ों के अभाव में इन चीाजों को प्रमाण लिया जाता है। और हमारे देश में 1872 से (ठीक–ठीक कहा जाए तो 1881 से) जिस तरह की व्यवस्थित और क्रमिक जनगणना होती रही है वैसी अल्पविकसित देशों में कम ही दिखाई देती है। जनगणना का हिसाब–किताब इतने प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है कि उसे लेकर बड़ी आसानी से लंबे–चौड़े आलेख तैयार किए जा सकते हैं, पर हम यहाँ उतना ही लेंगे जितने से देश की आर्थिक नीति को समझने में हमें सहायता मिले।

जनसंख्या

ब्रह्मा के आशीर्वाद से प्रजावृद्धि का उल्लेख एक समय हमारे देश में राजा की प्रशस्ति का एक बँधा–बँधाया तरीका था। किसी गरीब देश में जहाँ भूख और बीमारी से मरने वालों की संख्या थोड़ी ज्यादा होती है, ऐसा होना स्वाभाविक है। लेकिन इस आधार पर महारानी विक्टोरिया का प्रशस्ति–पत्र लिखना बुत मुश्किल काम है। महारानी का शासन आरंभ होने के 15 वर्ष बाद हुई जनगणना से लेकर उनकी मृत्यु के समय अर्थात 1901 तक का हिसाब देखा जाए तो उसमें ब्रह्मा के आशीर्वाद का विशेष योगदान दिखाई नहीं देता। इस अवधि में उनकी भारतीय प्रजा की संख्या केवल तीन करोड़ के आसपास बढ़ी थी। अकाल में मरने वाले लोगों की संख्या एक करोड़ बाईस लाख थी (सरकारी आँकड़ों के हिसाब से)। अकाल, तरह–तरह की महामारी और शिशु–मृत्यु की ऊँची दर आदि कारणों से 1871–1881 के बीच भारतीय प्रजा की औसत अनुमानित आयु (Life expectancy at birth) 24.6 और 1891–1901 के बीच 23.8 वर्ष। यह औसत आयु सरकारी आँकड़ों के अनुसार है, हालांकि अनेक विशेषज्ञ मानते हैं कि औसत आयु और भी कम थी। (जैसे प्रोफेसर विसारिया के अनुसार 1891–1901 के बीच औसत आयु 20.2 वर्ष थी)।

इसके बाद के बीस वर्षों में (1901–1921) जनसंख्या कोई खास नहीं बढ़ी। बीस वर्षों में दो करोड़ के आसपास बढ़ी। इस बीच प्लेग की महामारी से (1904–07) 31 लाख लोग मरे। अकाल से (1905–08) अढ़ाई लाख से ज्यादा और इन्फ्लुएंजा की महामारी से (1918–20) कुछ गणनाओं के अनुसार एक करोड़ से ज्यादा लोग मरे। संक्षेप में, 1921 तक किसी भी दशक में वार्षिक जनसंख्या वृद्धि की दर एक प्रतिशत तक भी नहीं पहुँची, दो–एक दशकों में एक प्रतिशत के दसवें हिस्से के बराबर थी।

भारत की जनसंख्या (वर्तमान भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश)

	सरकारी जनगणना के अनुसार		डेविस के संशोधित आँकडे	
	संख्या (करोड़ में)	**औसत वृद्धि (वार्षिक)**	**संख्या (करोड़ में)**	**औसत वृद्धि (वार्षिक)**
1867–72	20.34	–	25.52	–
1881	25.02	2.07	25.74	0.09
1891	27.96	1.11	28.21	0.92
1901	28.39	0.15	28.53	0.11
1911	30.03	0.65	30.30	0.60
1921	30.57	0.09	30.57	0.09
1931	33.82	1.01	33.82	1.01
1941	38.90	1.40	38.90	140

(स्रोत : किंग्स्ले डेविस : 'पापुलेशन ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान', 1951)

1921 से जनसंख्या वृद्धि उसी ऊँची दर से शुरू हुई जो हमारे लिए अब परिचित है। 1921–1931 के दशक के 10.5% । जहाँ देश की जनसंख्या वृद्धि की दर 1871–1921 के बीच औसत वार्षिक 0.37% थी, वहाँ 1921–41 के बीच बढ़ कर 1.22% पर पहुँच गई। इसमें विभिन्न अंचलों के अंतर को लीला बिसारिया ने बड़े सुंदर ढ़ंग से विश्लेषित किया है।

आंचलिक जनसंख्या वृद्धि की औसत वार्षिक दर, प्रतिशत में

	पूर्व	**पश्चिम**	**मध्य**	**उत्तर**	**दक्षिण**	**अखिल भारतीय**
1867/72–1921	0.52	0.14	0.47	0.19	0.47	0.37
1921–1941	1.37	1.30	1.29	1.25	0.92	1.22

(स्रोत : लीला व प्रवीण बिसारिया : 'केंब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया', 1983

इसे पता चलता है कि शुरू के सत्तर वर्षों में पूर्वांचल में (अर्थात तत्कालीन बंगाल, बिहार, उड़ीसा और आसाम प्रदेशों में) सारे देश की औसत जनसंख्या–वृद्धि की तुलना में कहीं अधिक जनसंख्या–वृद्धि हुई थी। इस अंचल में 1871 से 1943 के बीच कोई बड़ा अकाल नहीं पड़ा था। दूसरी ओर पश्चिमी अंचल (बंबई प्रांत, बड़ौदा आदि पड़ोसी देशी राज्य) में बहुत कम जनसंख्या–वृद्धि 1921 तक दिखाई पड़ती है। इसका कारण 1870 और 1890 के दशक में पड़ने वाले अकाल हैं। यही हाल उत्तरी अंचल का था (वर्तमान उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, दिल्ली, और जम्मू–कश्मीर); दक्षिण अंचल में (वर्तमान तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश के सीमांतवर्ती जिले, कर्नाटक और केरल) तथा मध्य अंचल में (मध्य प्रदेश और हैदराबाद) जनसंख्या–वृद्धि की दर 1921 तक अकाल इत्यादि के बावजूद, पूरे भारत की औसत जनसंख्या–वृद्धि की तुलना में ज्यादा थी। इसके बाद 1921 से अखिल भारतीय जनसंख्या–वृद्धि की दर के साथ इन दो अंचलों की जनसंख्या–वृद्धि कदम मिलाकर चलने लगी।

संक्षेप में, 1921 से जनसंख्या वृद्धि की दर बढ़ने लगी। 1871–1921 की अवधि में मृत्यु की दर प्रति हजार 40 से 50 के बीच पहुँच गई थी। शिशु–मृत्यु की दर उससे भी ज्यादा थी – हजार में 278 से 295 के बीच। "हम दुर्भिक्ष में नहीं मरे/हमने महामारी को अपने घर में बसाया" यह सिर्फ कविता नहीं है, इसमें तथ्य भी है। 1921–31 के बीच के संख्याएँ क्रमशः नीचे उतर कर 37.3 और 245 पर जा पहुँचीं। 1931–41 के बीच और भी नीचे आकर 31.5 और 227 पर आ गई। इसका कारण पहले ही बता चुका हूँ। 1908 से 1943 के बीच ये कोई बहुत बड़ा अकाल नहीं पड़ा। और इससे भी बड़ी बात यह है कि अकाल की दूसरी साथी महामारी का जोर विभिन्न टीकों के प्रचलन के कारण कम हो गया। रोग से मृत्यु की दर को और अधिक तथा

व्यापक रूप से कम करना संभव था किंतु स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए सरकार के पास पैसा ही नहीं होता था। 1869 में कई प्रदेशों से सेनेटरी कमीशन नियुक्त हुए, जिनका काम मूलतः सेना की स्वास्थ्य–रक्षा के लिए व्यवस्था करना था। इसके फलस्वरूप 1882 में सेना के बीच मृत्यु की दर कम होकर प्रति हजार 15 (1881–91 के बीच जनसाधारण की औसत मृत्यु दर हजार में 40) थी। इसी से समझा जा सकता है कि रोग से मृत्यु दर को सरकारी आयोजन के द्वारा कम करना संभव था। किन्हीं मामलों में साधारण लोगों के लिए भी सरकार ने आयोजन किए थे, जैसे 1869 कलकत्ता या अन्य बड़े नगरों में पानी की व्यवस्था, किंतु आमतौर पर ब्रिटिश शासन के अंतिम दो तीन दशकों के पहले कोई खास प्रयास इस दिशा में नहीं किए गए। इसका कारण चाहे इसमें लगने वाली बड़ी रकम थी अथवा सरकार का रूख जनसाधारण के प्रति लापरवाही का था।

औसत आयु

मृत्यु की ऊँची दर, विशेषकर शिशु–मृत्यु की औसत मृत्यु–दर देखकर समझा जा सकता है कि औसत आयु कम हुई थी। ब्रिटिश कालीन भारत में यह कितनी कम थी, इसे नीचे की टेबल में देखा जा सकता है।

औसत आयु का हिसाब (Life expectancy at birth)

वर्ष	जनगणना के सरकारी	संशोधित आँकड़े आँकड़े
1871–81	27.6	–
1881–91	25.1	25.5
1891–1901	23.8	24.3
1901–11	23.0	23.5
1911–21	20.2	23.1
1921–31	26.7	24.8
1931–41	31.7	29.3
1941–41	32.1	32.6

(स्रोत : किंग्स्ले डेविस, पृथ्वीश दास गुप्त)

उपरोक्त तथ्यों का बहुत बड़ा महत्त्व है। राष्ट्रवादी नेताओं ने इसी प्रकार के औसत आयु के आँकड़ों का प्रयोग यह प्रमाणित करने के लिए किया था कि अंग्रेज शासन के फलस्वरूप देश की उन्नति में गिरावट नहीं आई है। जहाँ राष्ट्रीय आँकड़े उपलब्ध नहीं थे, मजदूर के वेतन अथवा किसान की आय के आँकड़े नहीं थे, खाने–पहनने के खर्चे के ब्यौरे नहीं थे, जहाँ पर अर्थनीतिक स्थिति के सूचक रूप में 'प्राक्सी' अथवा प्रतिनिधि का इस्तेमाल होता था, और दूसरे आँकड़े–जैसे जनगणना पंजीकरण, जेलखाने के दफ्तर में नत्थी किए गए जन्म–मृत्यु के खाते, मनुष्य की औसत लंबाई और वजन, औसत आयु इत्यादि जहाँ उपलब्ध नहीं थे वहाँ 'प्राक्सी' से काम चलाने के सिवा उपाय क्या था। महारानी–शासनकाल के आरंभ के 70 वर्ष अथवा तीन पीढ़ी बाद भी भारतीयों की औसत आयु 27.7 वर्ष (एक अन्य मत के अनुसार 24.8 वर्ष) थी। यह एक आश्चर्यजनक सूचना है।

शिशु अवस्था में अथवा कम उम्र में मृत्यु–दर होने के कारण औसत आयु कम होने से एक बात निश्चित रूप से सामने आती है। 'समर्थ आयु' के आदमियों की तुलना में शिशु और किशोर उम्र के लोगों की संख्या ज्यादा होगी अर्थात् स्वावलंबी तथा उत्पादन में सक्षम लोगों की संख्या की तुलना में कम उम्र के परावलंबी लोगों की संख्या ज्यादा होगी। इसके विपरीत औसत आयु जितनी बढ़ेगी उतना ही अधिक लोग उत्पादन में सक्षम आयुवर्ग में होंगे, अर्थात् कम औसत आयु होने का अर्थ है एक विशेष प्रकार के आयुवर्ग का ढाँचा (age structure), जिसका रूप अधिकांशतः चिपटे पिरामिड जैसा होगा : नीचे के तल्ले से। (14 वर्ष तक की उम्र के) अनेक लोग, जिनमें से ज्यादातर बीच के तल्ले में (15 से 59 वर्ष तक) पहुँचने के पहले ही मर जाते हैं और सबसे ऊपरी तल्ले में (60 वर्ष से अधिक उम्र) स्वभावतः सबसे कम लोग बचे रहते हैं। यह तस्वीर 1881 से प्रायः बदली नहीं। इसीलिए चीचे टेबल में केवल तीन वर्षों का हिसाब दिया गया है।

विभिन्न आयु के लोगों की संख्या का अनुपात

(कुल जनसंख्या का शतांश)

उम्र	1881	1901	1921	1941
0–14 वर्ष	38.9	38.6	39.2	38.5
15–51 वर्ष	55.8	56.3	55.5	57.1
60 और उससे अधिक वर्ष	5.3	5.1	5.3	4.4
परावलंबन का सूचक	79.1	77.6	80.1	75.1

(**स्रोत** : प्रवीण बिसारिया, पूर्वोल्लिखित)

पूर्वांकित सारणी में परावलंबन का सूचक (dependency ratio) अर्थात् 15–59 वर्ष की आयु के सौ लोगों की तुलना में 0–14 वर्ष की आयु और साठ से ऊपर की आयु के मनुष्यों की संख्या दी हुई है। सभी अल्पविकसित देशों में परावलंबन–सूचक आँकड़े काफी अधिक हैं और भारत की तरह सभी अल्पविकसित देशों में उत्पादन की क्षमतावाली आयुवर्ग के मनुष्यों की संख्या उत्पादन में अक्षम और असमर्थ लोगों की तुलना में कम है। इसके विपरीत आर्थिक रूप में विकसित देशों में मनुष्य की औसत आयु–दर ऊँची है और उत्पादनशील मनुष्यों का अनुपात पूरी जनसंख्या में बढ़ा है। औपनिवेशिक, अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का एक राष्ट्रीय लक्षण ऊँचे परावलंबन–सूचक को माना जा सकता है। इन क्षेत्रों में राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन में जो लोग हिस्सा ले रहे हैं उनका एक बड़ा भाग उत्पादन नहीं कर रहा है, अतएव यह भाग राष्ट्रीय आय की दर को कम कर रहा है।

एक मामले में भारत की यह विशेषता देखी गई है कि जो आर्थिक अल्पविकास, औपनिवेशिकता आदि से संबंधित नहीं है वह हमारे अपने आर्यावर्त के गौरव के इतिहास का फल है। मतलब यह है कि मोटे तौर पर लड़कियों को कम खाना देकर,उनकी उपेक्षा करके अथवा शिशु–अवस्था में उनका गला घोट देने के फलस्वरूप जनसंख्या में पुरूष और स्त्री के अनुपात में अंतर है। प्रणवर्धन, सी. एन. गोपालन, लीला बिसारिया तथा अन्य कई विशेषज्ञों ने इस विषमता की ओर इंगित किया है। टेबुल देखा जा सकता है कि यह विषमता यानी पुरूषों की संख्या में अधिकता, जो उत्तरी और पश्चिमी अंचलों में विशेष रूप से दिखाई देती है (आंचलिक विभाजन में कौन प्रदेश किस अंचल में आता है, यह टेबल के प्रसंग में पहले ही बताया जा चुका है), पूर्व और मध य अंचल में अपेक्षाकृत कम है और दक्षिण अंचल में एकदम नहीं है। और देखा जाता है कि इस गौरवमय इतिहास को हमने इस प्रकार पकड़ रखा है कि लड़कियों को कत्ल करने की दर 1881 से 1941 तक के साठ वर्षों में कम नहीं हुई है; कहीं–कहीं लगता है बढ़ी ही है।

पुरूष/स्त्री अनुपात

(प्रति एक हजार स्त्रियों की संख्या)

अंचल	1881	1901	1921	1941
पूर्व	995	1005	1031	1080
पश्चिम	1067	1058	1029	1098
मध्य	1040	1019	1029	1032
उत्तर	1115	1102	1135	1125
दक्षिण	978	982	985	998

(**स्रोत** : लीला बिसारिया)

क्या यह संभव है कि स्त्रियों की कम संख्या, जो कारण बता रहे हैं, उस कारण नहीं बल्कि किसी अन्य कारण से है? शायद नहीं। पहले, बहुत से देशों के जनसंख्या–विशेषज्ञों ने गणना करके देखा है कि स्त्री/पुरूष के जन्म का अनुपात 100/104 से बढ़कर हद से हद 100/107 के बीच होता है। भारत में इस सिद्धांत से कोई बहुत बड़ा अपवाद होने के कारण समझ में नहीं आता। दूसरे, ऐसा भी हो सकता है कि 1881 में अथवा 19वीं शताब्दी की अन्य जनगणनाओं में अनेक स्त्रियों को गणना में शामिल नहीं किया गया, जिनका कारण पर्दा प्रथा वगैरह थे। अगर ऐसा है तो निश्चय ही बीसवीं शताब्दी में इसमें परिवर्तन आना जरूरी

है। अगर पर्दा प्रथा इत्यादि कम हुई हे तो संख्या की यह विषमता कम होनी चाहिए। परंतु टेबल में देखा जा रहा है कि यह विषमता बढ़ी है। अतएव यह व्याख्या कसौटी पर खरी नहीं उतरती। दूसरे ओर देखा जाता है कि जिन सब स्थानों पर, जैसे उत्तरी अंचल में, जहाँ स्त्री–शिशु–हत्या (female Infanticide) 19वीं शताब्दी में प्रचलित थी, वहाँ 1881–1951 तक पुरुष और स्त्री के बीच संख्या की यह विषमता सबसे ज्यादा है। कार्य कारण संबंध स्पष्ट है, और फिर दक्षिणी अंचल में जहाँ अनेक स्थानों पर स्त्रियों की सामाजिक मर्यादा और स्थिति उन्नत है तथा संपत्ति में भी उन्हें उत्तराधिकार मिला हुआ है वहाँ स्त्री और पुरुष की संख्या में यह विषमता नहीं है। और सबसे अंत में यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि कानूनी तौर पर स्त्री–शिशु की हत्या दंडनीय है। इसके अलावा हमारे समाज में अवहेलना और भूखा रखने के द्वारा भी विषमता की सृष्टि की जाती है।

पेशा

अगर उपजीविका के आँकड़े पाए जा सकें तो जनगणना से राष्ट्रीय अर्थनीति के ढाँचे एवं रुझानों का अंदाजा किया जा सकता है अर्थात् कितने लोग खेती के काम में लगे हैं, कितने उद्योगों में और कितने व्यापार में, इत्यादि। हमारे देश में ये आँकड़े अनेक कारणों से बहुत विश्वास योग्य नहीं है। डैनियल थार्नर के अनुसार पश्चिमी ढंग का श्रेणी विभाजन अथवा वर्गीकरण इस देश में जनगणनाओं में अनुचित तरीके से हुआ था, क्योंकि इसका आधार उन्नत पश्चिमी पूँजीवादी देशों का श्रम विभाजन (division of labour) था, जो पिछड़े हुए औपनिवेशिक भारत में लागू नहीं होता, कम से कम प्रारंभिक काल में। अगर कारीगर खुद माल तैयार करके बिक्री करता है, फेरी लगाता है, आट में बैठता है तो 'इंजीनियरी' अथवा 'व्यापार' किस वर्ग में उसे स्थान दिया जाएगा। इसके अलावा इस कारण भी विभ्रम की सृष्टि हुई है कि विभिन्न जनगणनाओं में सरकारी अमलों के भिन्न–भिन्न मतानुसार भिन्न–भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, जिसके फलस्वरूप एक दशक के आँकड़ों के साथ दूसरे दशक के आँकड़ों की तुलना करना कठिन है। ओर एक मौलिक समस्या यह है कि शुरू के दिनों में जनगणना का आधार था कि उक्त व्यक्ति "किस उप–जीविका पर निर्भर है," पर बाद में, 20वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में की गई जनगणनाओं में वर्गीकरण का आधार यह बनाया गया कि "उक्त व्यक्ति किस उपजीविका में नियोजित है।" फलस्वरूप तुलनात्मक निष्कर्ष एकदम ठीक नहीं हो पाते। उपजीविका का अत्यंत सूक्ष्म विभाजन करने में अनेक मामलों में गड़बड़ियाँ हुई हैं, जैसे 'कृषि श्रम' 'साधारण श्रम' (general labour) नाम से आरंभिक जनगणनाओं में तीन प्रकार के विभाजन किए गए थे और आखिरी में एक और गड़बड़ी यह हुई है कि औरतों की आजीविका से संबंधित आँकड़ं परूषों के तद्नुरूप आँकड़ों की तुलना में बहुत कम निर्भर–योग्य हैं। इसका कारण यह है कि अधिकांश मामलों में स्त्रियों के साथ सीधे–सीधे बातचीत करके उनके बयान लेना हमेशा संभव नहीं था। जनगणना के लिए अधिकांश मामलों में पति अथवा घर के किसी दूसरे पुरूष, जो घर का मुखिया होता था, की आजीविका ही स्त्री की आजीविका मान ली जाती थी। अनेक मर्दुमशुमारियों के परिचालाकों और अमलों ने अपने प्रतिवेदनों मे यह मत व्यक्त किया है कि स्त्रियों की उपजीविका से संबंधित तथ्य निर्भर योग्य नहीं है। इसी समस्या के कारण नीचेक की टेबल में केवल पुरूष–श्रमशक्ति (male work force) को लिया गया है। ऊपर उल्लिखित सीमाओं और गड़बड़ियों को ध्यान में रखते हुए जनगणना के तथ्यों को निम्नलिखित प्रकार से पेश किया जा सकता है:

उपजीविका के अनुसार पुरूष श्रमशक्ति का विभाजन (प्रतिशत में)

प्रथम वर्ग : कृषक, कृषि श्रमिक, साधारण श्रमिक, चाय बागार आदि में कार्यरत, मत्स्य–जीवी, वनज–उपजीवी।

द्वितीय वर्ग : *उद्योग खनिज निष्कासन ओर निर्माण उद्योग में नियोजित।*

तृतीय वर्ग : सौदागरी तथा व्यवसाय परिवहन संचार प्रशासन तथा उन्यान्य उपजीविकाओं पर आधारित।

	1881	1911	1951
प्रथम वर्ग	72.4	73.8	73.2
द्वितीय वर्ग	11.2	10.6	10.9
तृतीय वर्ग	16.4	15.5	15.8

(**स्रोत** : जे. कृष्णमूर्ति)

उपरोक्त टेबल में देखा जा सकता है कि कृषि से संबंधित प्रथम वर्ग में बढ़ोत्तरी अथवा उद्योग से संबंधित द्वितीय वर्ग से ह्रास उतना स्पष्ट है। इसका एक कारण शायद यह है कि 1881 के पहले ही निरूद्योगीकरण के फलस्वरूप पुराने उद्योग की जो क्षति होनी थी, वह हो चुकी थी। इसका एक ओर कारण है जनगणना में उपजीविका के हिसाब में ऊपर लिखित समस्या। फिर भी मोटा–मोटी इससे जो तस्वीर उभरती है वह है औपनिवेशिक काल में देश की आर्थिक गतिहीनता (Stagnation)। बाकी के सात दशकों में कोई बड़ा परिवर्तन इस टेबल के अनुसार दिखाई नहीं पड़ता।

औपनिवेशिक शहरीकरण

औद्योगीकरण के साथ–साथ शहीकरण और कारखानों के निर्माण के साथ–साथ शहरों के विस्तार के बीच एक कार्य–कारण संबंध है, यह बात पश्चिमी देशों की ओर एक नजर डालने से ही स्पष्ट हो जाती है। औपनिवेशिक भारत के शहर ठीक–ठीक आद्योगिक नजर नहीं हैं; फिर भी उद्योग और तथाकथित आधुनिकता के कंद्रों के रूप में शहरों की बात उठती हैं। सामाजिक इतिहास के इस पक्ष को हम सबसे बाद में देखेंगें।

आर्थिक और सामाजिक जीवन में शहरीकरण (Urbanisation) एक बड़ी चीज है। पहली नजर में ऐसा लगता हे कि शहर अंग्रेजी शासनकाल में बढ़े हैं। वास्तविक जनगणना हमें यह दिखाती है कि कुल जनसंख्या की तुलना में 1921 तक शहरवासियों का अनुपात जरा भी नहीं बढ़ा और उसके बाद भी बहुत धीमी गति से बढ़ा है। इसके अलावा अर्थनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से शहरीकरण इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे मामले में काफी खेजबीन हुई हैं। अनेक खेजकर्त्ताओं ने 19वीं 20वीं शताब्दी में विभिन्न भारतीयों नगरों का इतिहास लिखा है। आस्ट्रेलिया में जिन विद्वानों ने इस विषय पर काम किया है, विशेषकर कैनबरा में, उन्होंने शहरी समाज के निहित स्वार्थों (interest groups), सामाजिक दलों और रासायनिक दलों आदि को लेकर काम किया है। (बंबई के बिारे में जिम मैसेलॉस, गॉर्डन और क्रिस्टिन डॉबिन और अहमदाबाद के बारे में केनेथ गिलियन)। इस तरह का शेधकार्य हमारे देश में भी काफी हुआ है। (प्रदीप सिंह और सौम्येन मुखर्जी)। बीसवीं शताब्दी के शहरों के ढाँचों (structure) और बंदरगाहों और प्रशासन के बारे में भी कुछ शेध प्राप्त होते हैं। (दिल्ली के बारे में नारायणी गुप्त और लखनऊ के बारे में वीना ओल्डेनवर्ग)। ये सब शोध विशेष प्रकार के तथ्यों से भरे हुए हैं, किंतु शहरों के ऊपरी तौर पर दिखने वाले वैशिष्ट्य ओर विभिन्नता के अलावा आधुनिक शहरीकरण की प्रक्रिया की एक अशिल भारतीय तस्वीर बनई जा सके, ऐसा कोई सैद्धांतिक आधार इनसे तैयार नहीं होता। औपनिवेशिक शासल काल के शहरों में संस्कृति के साथ उपनिवेशपूर्व के शहरों के सांस्कृतिक अंतर को तुलनात्मक आधार पर मूल्यांकित करने की एकमात्र कोशिश मिल्टन सिंगर और शिकागो के उनके छात्रों ने मद्रास के संदर्भ में की है, मगर वह शहर के सांस्कृतिक पक्ष तक ही सीमित है। तो भी संभवतः औपनिवेशिक शहरीकरीण के कुछ सामान्य लक्षणों को रेखांकित किया जा सकता है।

सर्वप्रथम, जनगणना प्रमाणित होता है कि 1881 से 1941 के बीच औपनिवेशिक महानगरों के निर्माण के साथ–साथ शहरों का प्रसार उसी अनुपात में नहीं हुआ और कुल जनसंख्या के अनुपात के हिसाब से शहरी बाशिंदों की संख्या नहीं बढ़ी, हालाँकि साधारणतया हम देखते हैं कि अंग्रेज शासन–काल में बड़े–बड़े शहर निर्मित हुए। हम इसे ही शहरीकरण कहते हैं, पर जनगणनाविदों के लिए शहरीकरण का अर्थ है ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में शहरी बाशिंदों की आनुपातिक वृद्धि। इस दृष्टि से देखने पर पता चलाता है कि नगरों का विस्तार कुछ खास नहीं हुआ।

भारत में नगरीकरण, 1881-1941

वर्ष	नगरवासियों की संख्या (करोड़ों में)	कुल जनसंख्या के प्रतिशत में नगरवासी
1891	2.67	9.4
1901	2.82	10.0
1911	2.86	9.4
1921	3.11	10.2
1931	3.75	11.1
1941	4.97	12.8

(**स्रोत** : किंग्सले डेविस, 'पापुलेशन ऑु इंडिया ऐंड पाकिस्तान' यहाँ पर भारत के आकलन में वर्तमान पाकिसतान और बांग्लादेश अंतभूर्त हैं।)

जनगणना शुरू होने के साथ–साथ रूझान किधर था, यह कहना कठिन है। 18वीं शताब्दी के अंतिम दशकों से पुराने नगर नहीं बढ़े। अनेक नगरों में जनसंख्या काफी कम हो गई। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं; जैसे – ढाका, लखनऊ, मुर्शिदाबाद और शहरों में जनसंख्या बुरा तरह कम हुई। इरफ़ान हबीब के अनुसार इसे विनगरीकरण (de-urbunisation) कहा जाएगा, किंतु इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि जनसंख्या के अनुपात के हिसाब से यह नगरीकरण हुआ था; बनर देखा जाता है कि पुरानें शासन–केंद्रों अथवा वाणिज्य–केंद्रों के स्थान पर नए केंद्र निर्मित होने लगे। उन सभी शहरों में जहाँ 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से जनसंख्या बढ़ रही थी, अर्थात् केवल ढाका अथवा अहमदाबाद अथवा लखनऊ में जनसंख्या कम होने से विनिगरीकरण प्रमाणित नहीं होता।

इसके अलावा ऐसा सोचने के भी कारण हैं कि पूर्व–औपनिवेशिक काल से शहरों में रहने वाली जनसंख्या को उस काल तक थोड़ा बढ़ाकर ही कूता गया था (हबीब के अनुसार कम से कम 15%), जिसके फलस्वरूप 19वीं शताब्दी की गणनाओं को दखने से लगता है कि विनगरीकरण कम हुआ है। इसके अलावा इसके पीछे एक और रूझान काम कर रहा थाइ – नगरीकरण और उद्योगीकरण का समीकरण बनाकर यह मान लिया गया कि 19वीं शताब्दी के पहले भाग में चूँकि निरूद्योगीकरण का समीकरण बनाकर यह मान लिया गया कि 19वीं शताब्दी के पहले भाग में चूँकि निरूद्योगीकरण हुआ है, अतएव निश्चय ही विनगरीकरण भी हुआ है। चूँकि उस समय के उद्योगों में नियोजित कारीगरों में से अधिकांश ग्रामीण थे, इसलिए निरूद्योगीकरण और विनगरीकरणका यह समीकरण अमान्य हो जाता है। जो भी हो, कमोंबेश ऐसा लगता है कि 1880 तक एक ओर पुराने नगरों की अवनति हो रही थी तो दूसरी ओर अंग्रेजों के व्यापार और प्रशासनके नए–7ए केंद्रों में नगरीकरण के फलस्वरूप जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उससे परवर्ती 70 सालों में नगर/ग्राम जनसंख्या के आनुपातिकहिसाब में कोई प्रगति हमें भ्रमित कर देती है)। कुल मिलाकर जो तस्वीर बनती है वह नगरीकरण की प्रगति की नहीं है, बल्कि प्रायः एक ही जगह कदमताल करने की है।

दूसरे, औपनिवेशिक ढंग का और एक पक्ष है – आद्योगीकरण के बिना नगरीकरण, जो पश्चिमी धारा के ठीक विपरीत है। नए महानगर वाणिजय और प्रशासन के केंद्रों के रूप में उठ खड़े हुए। कल–कारखाने कहीं–कहीं, पर कभी–कभी महानगरों के बीच अथवा उसके आसपास उठ खड़े हुए। 1854 से रेलपथ के प्रसार का एक मूल उद्देश्य था कुछ समुद्रतटों पर स्थित बंदरगाहों (जैसे कलकत्ता, मद्रास, बंबई, करॉंची) और देश के भीतरी हिस्सों के बीच कृषि–उत्पादन की खरीद और वितरण तथा औद्योगिक पदार्थों के विक्रय के क्षेत्रों के बीच पुल का निर्माण करना। इस निर्यात के लिए रेलपथों के लआवा इन महानगरों में विदेशी व्यापारी कंपनियों, बैंकों, बीमा कंपनियों, जहाजरानी कंपनियों के दफ्तरों आदि की भी आवश्यकता थी। इसके अलावा इनमें से किसी–किसी नगर में मुगल शासनकाल से ही अंग्रेजों ने अपनी सुरक्षा के लिए किलों का निर्माण किया था जैसे कलकत्ता और मद्रास में; और 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा तराजू से राजदंड के रूप में रूपांतरित हाने की प्रक्रिया में ये किले प्रशासन के भी केंद्र हो गए। कलकत्ता और बंबई में इसी प्रक्रिया का एक आनुषंगिक रूप था। मतलब यह कि विदेशी निर्यात के लिए परिवहन व्यवसी तथा व्यापारिक सुविधाएँ उपलब्ध होने से इन सब नगरों में जूट, रूई आदि का निर्यात होते रहने से अगर उन्हीं स्थानों पर कारखाने लगाए जाँए तो उनके लिए कच्चा माल आसानी से और सस्ती दों पर पाया जा सकता था। साथ ही दूसरी स्थानीय सुविधाएँ भी उपलब्ध थीं ही। अर्थात् ये सब महानगर औद्योगिकरण विभिन्न स्थानीय कारणों से हुआ – इन तत्यों की ओर हमने बंबई के प्रसंग में इशारा किया है। कलकत्ता, मद्रास और बंबई – ये तीन प्रेसिडेंसी के केंद्र थे। इनके अलावा अपेक्षाकृत छोटे राष्ट्रीय नगर थे, जैसे कानपुर और अहमदाबाद, जो निश्चय ही औद्योगि नकरों के रूप में विकसित हुए थ। यह 19वी शताब्दी के बात है। कृषिजीवी, मत्स्यजीवी और वन–उपजीवी दलों के विकास को अर्थशास्त्री विकास का प्रथम प्रकरण (primary Sector) मानते हैं तथा औद्योगिक उतपादन, खनिज पदार्थों का उत्पादन और भवन निर्माण आदि को द्वितीय प्रकरण (Secondary Sector) का नाम देते हैं; बाकी सब जैसे परिवहन, प्रकरण (tertiary sector) का काम मानते हैं। उपरोक्त धारणा के अनुसार औपनिवेशिक महानगर मूलतः तृतीय प्रकरण वाले कार्यों के केंद्र थे।

अध्याय - 5

पर्यावरण और राज्य

औपनिवेशिक काल में पर्यावरण सम्बंधी परिवर्तन

यहाँ औपनिवेशिक राज्य की उन नीतियों तथा क्रिया–कलापों का वर्णन करेंगे – जिन्होंने स्थायी कृषि – व्यवस्था के बाहर के सामाजिक समूहों जैसे – घूमंतू आदिवासी किसान, पशु–पालन करने वाले समूह तथा वन–वासियों को प्रभावित किया। हम यहाँ यह भी दर्शाने की कोशिश करेंगे कि कैसे औपनिवेशिक राज्य ने व्यापारिक निहित स्वार्थों तथा सैन्य कारणों से प्रेरित होकर देशी वनों का उपयोग करने वाले वर्गों तथा उनके परम्परागत अधिकारों (Customary Rights) का हनन किया। औपनिवेशिक राज्य द्वारा कुछ विशिष्ट घूमंतू तथा आदिवासी समूहों को "अपराधी आदिवासी" ('Criminal tribes') घोषित करना ब्रिटिश राज के शांति स्थापित करने के तरीकों में से ही एक तरीका था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने शासन के शुरू में अपने विजय–अभियान तथा शांति स्थापित करने के प्रयासों में स्थायी कृषि के हासिये पर रह रहे देशी समुदायों का उपयोग करने की कोशिश की थी। यह कोई नया तरीका नहीं था क्योंकि पूर्व–औपनिवेशिक राज्य सत्तायें, खासकर जैसे – मराठा राज्य ने, इस तरह के समूहों का उपयोग किया था और ईस्ट–इंडिया कम्पनी उसी विरासत का उपयोग कर रही थी। जैसे – इंडिया कमपनी ने एक नजराना वसूल करके भील राजाओं को मान्यता दी, १८२३ में एक भीलों की विशिष्ट सेना का निर्माण किया और मेवातियों की भी एक अलग विशेष पुलिस गठित की। औपनिवेशिक राज्य ने ग्रामीण समाजों के बंदोबस्त करने में वन की तथा बंजर जमीनों के महत्त्व को समझ लिया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही लेकिन वनों के विलुप्त होने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। औपनिवेशिक सरकार ने शुरू में सैन्य और सुरक्षा सम्बंधी कारणों से तथा कृषि का विस्तार करके अपने राजस्व–संसाधन बढ़ाने की दृष्टि ने वनों की कटाई को प्रोत्साहन दिया था। ब्रिटिश सरकार का मूल उद्देश्य स्थायी–कृषि को प्रोत्साहन देने का था क्योंकि स्थायी कृषि में लगे किसानों से आसानी से भू–राजस्व वसूल किया जा सकता था और कम्पनी–शासन का शुरू से एक ही लक्ष्य रहा था कि कैसे भू–राजस्व से प्राप्त आय को अधिक से अधिक बढ़ाया जाये। लेकिन साथ ही साथ कम्पनी शासन घूमंतूस तथा पशुपालक समुदायों से भयभीत भी रहता था। यूरोप में ब्रिटिश कुलीन वर्ग का इन वर्गों के साथ अनुभव ही यहाँ कम्पनी प्रशासकों के रवैये को प्रभावित कर रहा था। यूरोप में इन वर्गों को कानून विहीनता, विद्रोह आदि की समस्याओं से जोड़ कर देखा गया था। इसलिये कम्पनी प्रशासन घूमंतू तथा पशु–पालक समुदायों को एक जगह बसा कर अनुशासन में बाँधना चाहता था। वह आदिवासी लोगों को उनकी परम्परागत जीवन शैली से अलग करने की कोशिश कर रहा था। इसके लिए औपनिवेशिक राज्य ने दबाव डाल कर, बलपूर्वक आदिवासियों की उनकी परम्परागत खेती करने की विधि, जंगल को काट कर जला कर जगह बदल–बदल करने (Slash-and-burn / Shifting cultivation) से या खाद्य–सामग्री को इकट्ठा करने या शिकार पर निर्भर करने से आदिवासियों को अलग करने की भरपूर कोशिश की। उन्नीसवीं सदी के अंत तक औपनिवेशिक राज्य अपनी व्यापारिक जरूरतों तथा मुनाफे अर्जित करने के लिए अपने सुव्यवस्थिति, सुसंगठित पर्यावरण के विरूद्ध युद्ध को और भी ज्यादा तेज कर देता है। इस पर्यावरण और वन–सम्पदा के शोषण में देशी महाजन–साहूकार और ठेकेदार भी ब्रिटिश–राज के घनिष्ठ सहयोगी साबित होते हैं लेकिन इसका वैचारिक तथा संसथागत ढाँचा मूलतः औपनिवेशिक ही था। इस संस्थागत–व्यवस्था में अंग्रेज सरकार के वन कानून (Forest Acts), वनों के अधिकारीगण या औपनिवेशिक नौकरशाही तथा 'अपराधी आदिवासी' सम्बंधी कानून तथा 'अपराधी' कबीलों की बस्तियाँ सभी शामिल थे। इसका मतलब हे कि औपनिवेशिक राजय का पर्यावरण के विरूद्ध युद्ध आर्थिक, सामाजिक तथा कानूनी ऐतिहासिक परिवर्तनों की एक लम्बी कड़ी है। इन विभिन्न तत्वों के एक–दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव को समझने से पहले यह भी जरूरी है कि हम पर्यावरण के क्षेत्र में अंग्रेजी राज के पहले की विरासत को भी समझ लें।

पूर्व-औपनिवेशिक विरासत

एलफ्रेड क्रोशबी (१९८६) ने 'पारिस्थितिकी साम्राज्यवाद' (ecological imperialism) की धारणा दी। उनके विचार में, यूरोप के जैविक–विस्तार तथा प्रवासों के साथ–साथ उपनिवेशों में नये खरपतवार, जानवर तथा रोग भी पहुँचते हैं। यूरोप से लाये गये ये नये जैविक अवयव देशी–व्यवस्थाओं के फल, फूल, पौधे तथा मानवीय समाजों को नष्ट करने में अहम भूमिका निभाते हैं और उन देशों की स्थानीय पर्यावरण–व्यवस्थाओं को तबाह कर देते हैं। इस विश्लेषण को आधार बना कर पर्यावरण के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने भारत में उपनिवेशवाद की भूमिका पर नयी रोशनी डाली है। रामचन्द्र गुहा तथा माधव गड़गिल ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति This Fissured Land (1992) में उपनिवेशवाद को भारत में होने वाले पर्यावरण–सम्बंधी परिवर्तनों का

मुख्य कारण माना है। उनके विचार में हाँलाकि ब्रिटिश भारत में देशी जनसंख्या तथा प्राकृतिक संसाधनों को पूरी तरह समाप्त करके यूरोपीय निवासी तथा पर्यावरण को स्थापित करने में सफल नहीं होते हैं लेकिन उन्होंने भारत के मौजूदा खाद्य–सामग्री उतपादन करने की व्यवस्था तथा उसके पारिस्थितिकी के आधार को पूरा बदल डाला। उनके अनुसार उपनिवेशवाद द्वारा भारतीय समाज तथा पर्यावरण में तीन अभूतपूर्व परिवर्तन लाये गये। ये बदलाव इस प्रकार थे :–

(क) उपभोग केन्द्रित संसाधनइकठ्ठा करने तथा खाद्य सामग्री की व्यवस्था की व्यापारिक उत्पादन द्वारा जगह ले लेना।

(ख) स्थानीय समुदायों का विनाश तथा उनकी सामूहिक संस्थाओं की जगह व्यक्तिवादी रूझानों का जन्म, तथा

(ग) संसाधनों के उपयोग में परम्पराओं के दबावों का खत्म होना तथा संसाधनों को प्राप्त करने में मंड़ियों तथा बाजारों की अहम भूमिका।

रिचर्ड एच॰ ग्रोव (१९९८) ने इस तरह के विचारों का खण्डन किया है और कहा हे कि पूर्व औपनिवेशिक पर्यावरण की संतुलित तथा उत्कृष्ट मान लेना एक प्रकार के 'स्वर्ण–युग' की पूर्व धारणा पर आधारित विचार है। उनका कहना है कि उपनिवेशवाद के पूर्व में भी स्थानीय देशी राज्य–व्यवस्थाओं ने वनों पर अपना एकमात्र नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की थी और इसके कारण दक्षिण में भी राज्य–द्वारा संरक्षित वनों के विलुप्त होने की प्रक्रिया शुरु हो चुकी थी। जैसे भारत में ८०० (सन्) से ध्रीरे–धीरे राज्य का वन–संसाधनों के ऊपर नियंत्रण बढ़ रहा थां मुगलों के शासन–काल में इस प्रक्रिया को अधिक बल मिला और उनके उत्तराधिकारी राज्यों में यह प्रक्रिया और ज़्यादा जोर पकड़ती है।

जैसे – मराठा राज्य ने पश्चिमी घाट के जंगलों पर नियंत्रित स्थापित करके वहाँ नये इमारती लकड़ी के पेड़ लगा कर उनका उपयोग समुद्री जहाजों के निर्माणों तथा राजस्व–आय में वृद्धि के लिये किया था। कोचीन तथा त्रेवन्कोर के राज्यों ने भी वन–सम्पदा पर इस प्रकार का एकाधिकार स्थापित कर लिया था। १७७०–१८४० के मध्य में सिंध के अमीरों ने अपनी शिकारगाहों का विकास करने के लिए नये वन विकसित करने तथा वन संरक्षण की नीति अपनायी थी। लेकिन इसका उद्देश्य अमीरों के शिकारगाहों पर एकाधिकार स्थापित करना ही था। लेकिन अंग्रेजी–राज से पहले राज्यों का वन–सम्पदा पर नियंत्रण सीमित था। राज्य किसी खास वन–उत्पाद पर या विशेष जंतु जैसे हाथी आदि पर या शिकारगाहों के रूप में ही वनों पर अपना नियंत्रण प्रदर्शित करता था। कभी–कभी राज्य किसी खास वन–उत्पाद पर अपना अधिकार था। उदाहरण के लिये, टीपू सुल्तान ने चंदन के वनों पर अपना एकाधिकार लागू किया था। पूर्व–औपनिवेशिक राज्यों के लिये, वनों का प्रबन्ध सैन्य कारणों से विशेषकर दुर्गों की रक्षा की दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण था। कई बार कृषि आश्रित साम्राज्यों द्वारा अपनी भू–राजस्व से आय में वृद्धि करने के लिये भी पूर्व–औपनिवेशिक काल में जंगली तथा बंजर पड़ी जमीनों को कृषि–योग्य बनाने तथा वहाँ बस्तियाँ बसाने की कोशिश की जाती है। लेकिन चाहे भले ही औपनिवेशिक काल से पूर्व कई बार व्यापारिक तथा सामाजिक कारणों से वनों को काटा गया हो, उस समय स्थानीय वन–सम्पदा का उपयोग करने वाले समुदायों तथा राज्य के अधिकारों के बीच कोई सीधा और तीखा टकराव नजर नहीं आता। स्थानीय समुदायों के लिये वन परम्परागत एक सामूहिक सम्पदा का साधन थे और उन्हें इनके उपयोग के स्पष्ट परम्परागत अधिकार प्राप्त थे। इनकी इस स्वतंत्रता पर राज्य का कोई प्रतिबंध नहीं था। जैसे कि हम देखेगें कि अंग्रेजी राज के समय इस सम्बंध में स्थिति में महत्त्वपूर्ण बदलाव आ जाता है। यह जरूरी नहीं है कि हम माने कि पूर्व–औपनिवेशिक काल में पर्यावरण, जनसंख्या तथा राज्य के हितों में पूर्णतया सामंजस्य की ही स्थिति थी लेकिन स्पष्ट रूप से यह तो कहा ही जा सकता हे कि अंग्रेजी राज से पहले कृषि–योग्य भूमि की भारतवर्ष में कोई कमी नहीं थी, वनों तथा चरागाहों की भूमियों पर राज्य का नियंत्रण सीमित था तथा कृषि–योग्य भूमि तथा वन–सम्पदा के उपयोग करने में भूमि के निरपेक्ष सम्पत्ति की धारणा की बजाये उपयोग करने वाले लोगों के अधिकारों की एक श्रृंखलाबद्ध कड़ी मौजूद थी।

औपनिवेशिक काल में वन कानूनात तथा पर्यावरण के विरुद्ध युद्ध

अंग्रेजी राज में उन्नीसवीं सदी में बड़े पैमाने पर पेड़ों को काटने का काम शुरू होता है। उस समय यूरोपीय उद्यमियों तथा औपनिवेशिक राज्य की माँगे विस्तृत होती है। फलस्वरूप १८०० से १८३० तक की समय–अवधि में पश्चिमी घाटों पर बम्बई मैरीन की माँग के चलते ठेकेदारों ने काफी सागौन के जंगलों की कटाई की। इसी तरह हैदराबाद में आधारित एक मैनिजिंग एजेन्सी, पाल्मर एंड कम्पनी ने इसी अवधि में बेराड़ क्षेत्र में काफी जंगलों को व्यापारिक माँग की आपूर्ति के लिए नष्ट किया। १८४० के दशक में दक्षिणी भारत के कुछ क्षेत्रों में कॉफी के बागानों के विकास के बागानों के विकास के लिए और असम तथा बंगाल के पहाड़ी क्षेत्र में चाय के बागानों की कम्पनियों ने भी काफी वनों की सफाई करके इस प्रक्रिया को तेज किया। १८६० के शुरू से ही कई कारणों से इमारती लकड़ी की माँग तेजी से बढ़नी शुरू होती है। समुद्री जहाजों के निर्माण, लौह–प्रगलन जैसे उद्योगों में भी लकड़ी की माँग तेजी से बढ़नी शुरू होती है। इन उद्योगों के विस्तार के कारण इंग्लैण्ड के बलूत के जंगल ही बड़े पैमाने

पर नष्ट हो चुके थे। अब इग्लैण्ड ने विश्वभर में लकड़ी के वैकल्पित स्त्रोतों की खोज शुरू कर दी थी। भारत के सागौन की लकड़ी को मजबूती तथा गुणात्मक दृष्टि से काफी अच्छा पाया गया। सागौन की टिकाऊ और मजबूत लकड़ी को समुद्री जहाजों के निर्माण के लिए भी उपयुक्त पाया गया। इसलिये सागौन की इमारती लकड़ी की माँग काफी तेजी से बढ़ती है। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सूरत में तथा मालावार तट पर समुद्री जहाज और नौकायें बनवाने के लिए इस लकड़ी का इस्तेमाल किया था। अब रॉयल नेवी (नौसेना) के लिए समुद्री बेड़ों के निर्माण के लिये भी सागौन की लकड़ी की माँग बढ़ती है। इसके कारण भी बड़े पैमाने पर वनों के विध्वंस करने की प्रक्रिया को बल मिलता है। औपनिवेशिक राज्य की शुरू से ही नीति थी कि स्थायी कृषि का अधिक से अधिक विस्तार हो जिससे राज्य भू–राजस्व के रूप में अधिक से अधिक आय का अर्जन कर सके। इसके लिये भी आवश्यक था कि ज्यादा से ज्यादा जंगलों को साफ कर के नयी भूमियों में बस्तियाँ बसाई जायें। कम्पनी के प्रशासकों तथा बाद के अंग्रेज अधिकारियों की नजर में वन स्थायी कृषि के विस्तार में सबसे बड़ी बाधा थे और अंग्रेजी राज के सामने यह एक बड़ी चुनौती थी कि कैसे ज्यादा से ज्यादा कृषि विस्तार करके भू–राजस्व से होने वाली आय को बढ़ाया जाये। कई बार अंग्रेज सरकार की उपजाऊ भूमियों पर भू–राजस्व की लगातार बढ़ती जा रही दरों ने भी किसानों को विवश किया कि वे जंगलों को साफ करके बंजर पड़ी जमीनों या पहाड़ियों पर खेती करें क्योंकि वहाँ कम उपजाऊ भूमियों पर भू–राजस्व की दरें अपेक्षाकृत कम होती थी। अंग्रेजों को अपने देश में आयरलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड के इलाकों में जंगलों को काट कर कृषि–योग्य भूमि के विस्तार का अच्छा अनुभव था। इस अनुभव का उपयोग उन्होंने भारत में भी किया तथा पर्यावरण के विरूद्ध युद्ध को एक नये स्तर पर पहुँचा दिया। १८६० के बाद उत्तरी भारत में जंगली तथा चारागाहों को साफ करके बड़े पैमाने पर कृषि के लिये तैयार किया जाता है जिसके कारण उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों में तथा पंजाब के दोआब क्षेत्र में तथा पशु–पालकों की अर्थ–व्यवस्था का काफी तेजी से नुकसान होना शुरू होता है।

१८५० के दशक के बाद औपनिवेशिक राज्य अपनी सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप तेजी से रेलवे–निर्माण का काम शुरू करता है। रेलवे का विस्तार भी वनों को व्यापारिक रूप से इस्तेमाल करने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देता है और रेलवे के लिए वनों की लकड़ी का उपयोग भी वनों के विलुप्त होने में एक महत्त्वपूर्ण कारण बन जाता है। रेलवे कम्पनियों के लिए वन–सम्पदा के शोषण में निजी ठेकेदार दोनों देशी यूरोपीय काफी मुनाफे कमाते हैं। रानीगंज की कोयले की खानों के खोले जाने के पहले तक रेलवे के द्वारा जंगली लकड़ियों का ईंधन के रूप में काफी इस्तेमाल होता है। कहीं–कहीं जैसे – उत्तर–पश्चिमी प्रांत में रेलवे १८८० के दशक तक भी जंगली लकड़ी का प्रयोग ईंधन के रूप में कर रही थी। एक अंग्रेज अधिकारी, एच॰ क्लेगहॉर्न ने अपनी एक महत्त्वपूर्ण कृति, **The forests and Gardens of South india** (1860) में मेलघाट तथा उत्तरी आर्कट की पहाड़ियों पर वनों पर रेलवे के प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें उन्होंने वनों के विनाश की प्रक्रिया को रेलवे के विस्तार से सम्बंधित करके देखा है। रेलवे लाइनों की लम्बाई १८६० में १३४६ किलोमीटर से बढ़कर १६१० में ५१,६५८ कि॰मी॰ हो जाती है। इसी अनुपात में ही रेलवे के लिए लकड़ी के स्लीपरों की मांग भी बढ़ती है। भारतीय इमारती लकड़ियों में सागौन, साल तथा देवदार की लकड़ियाँ ही स्लीपरों के लिये ज्यादा उपयुक्त पायी गयी थी। इनमें साल तथा सागौन के जंगल महाद्वीपीय भारत में रेलवे की लाइनों के आस–पास ही उपलब्ध थे और रेलवे निर्माण के प्रारंभिक दौर में इनका व्यापक उपयोग किया गया लेकिन बाद में हिमालय के क्षेत्र में, विशेष कर कुमाऊँ तथा गढ़वाल के क्षेत्र के देवदार के जंगलों का भी रेलवे स्लीपरों को बनाने में खूब उपयोग किया जाता है।

सरकार के वन-विभाग की स्थापना तथा वन-कानूनों का निर्माण

सरकार की वन–सम्पदा में पहले जो हस्तक्षेप की नीति थी, धीरे–धीरे उसकी जगह राज्य के वैध हस्तक्षेप ने ले ली। १८३७ के बाद से ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेवा में काम कर रहे स्कॉटलैण्ड के सर्जन जैसे – अलैक्जैण्डर गिब्सन तथा एच॰ क्लेगहॉर्न ने वनों के विलुप्त होने तथा सूखे की स्थिति के बीच एक गहरा सम्बंध दिखाया था। अब वनों की सुरक्षा को जल आपूर्ति को बनाये रखने तथा कृषि की समृद्धि के लिए जरूरी माना गया। कुछ विद्वान वन–सम्पदा के प्रति इस संरक्षणवादी रवैये के पीछे उपनिवेशवाद के सामरिक तथा व्यापारिक हितों को ही जिम्मेदार मानते हैं लेकिन रिचर्ड ग्रूव का मानना है कि औपनिवेशिक प्रशासकों में इस समय वास्तव में एक गंभीर चिंता का विषय यह था कि कैसे कृषि की समृद्धि जिसके साथ सामाजिक स्थायित्त्व का भी गहरा सम्बंध था, को बनाये रखा जाये और इसी चिंता की वजह से उनकी नीति में बदलाव आता है। इस चिंता के बावजूद, औपनिवेशिक नीति के निर्धारण में साम्राज्य के सामरिक तथा व्यापारिक हितों और आवश्यकताओं भूमिका को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। हाँलाकि औपनिवेशिक प्रशासकों ने समय–समय पर व्यापारियों तथा नीजि पूँजी की वन–सम्पदा के अबाध शोषण के लिए आलोचना तो की लेकिन व्यावहार में राज्य के नियमों तथा नियंत्रण का प्रत्यक्ष प्रभाव छोटे वन का उपयोग करने वाले देशी लोगों पर ही पड़ा। विशेष कर आदिवासी किसानों के द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली कृषि–विधियों पर इसका बुरा असर पड़ता है। पश्चिमी घाटों के क्षेत्रें में **कुमड़ी** कृषि विधि जिसमें आदिवासी किसान जंगल में एक जगह छोड़कर

दूसरी जगह बदल–बदल कर खेती करते थे, उसे ही अंग्रेज अधिकारियों ने वन–सम्पदा के नष्ट होने का मुख्य कारण मान लिया। १८४८ ने इस तरह की जगह बदल–बदल कर की जा रही कृषि के कुर्ग क्षेत्र में बेलगाँव क्षेत्र में प्रतिबंधित कर दिया गया।

१८४७ में बम्बई के वन–विभाग का गठन किया गया था। १८६५ में पूरे भारत के लिए एक वन–विभाग का गठन किया गया तथा इसका एक औपचारिक अखिल–भारतीय नौकरशाही ढ़ाँचा भी तैयार किया गया। इस विभाग के तहत एक विशेष कार्यकारी अधिकारी, वन–अधिकारी का पद बनाया गया तथा इसके माध्यम से सरकार की जंगली–भूमियों पर नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश शुरू की जाती है। सरकार के एकाधिपत्य ने वन–सम्पदा के उपयोग में नीजि पूँजी तथा देशी वनों का प्रयोग करने वाले समुदायों को एक साथ वन–समपदा के उपयोग करने से वंचित कर दिया। लेकिन राज्य का वन–सम्पदा पर एकाधिपत्य एकदम से स्थापित नहीं होता है। वनों पर सरकारी अधिकारी तथा देशी स्थानीय उपयोग करने वाले समुदायों के अधिकारों के दायरे को लेकर एक लंबा वाद–विवाद औपनिवेशिक अधिकारियों के बीच चलता है। १८६५ में सरकार ने एक जर्मन वनस्पति–शास्त्री, डाइटरिख ब्रान्ड्रिस को वनों का मुख्य अधिकारी, इन्सपैक्टर–जनरल नियुक्त किया था। इसी वर्ष भारत में वन कानून, इंडियन फॉरेस्ट एक्ट लागू किया गया था। इस कानून के बनाने के साथ वह कानूनी प्रक्रिया शुरू हो गयी जिसके द्वारा सरकार ने भारतीय ग्रामीण समुदायों तथा आदिवासियों को वन–समपदा का स्वतंत्र उपयोग करने पर प्रतिबंध लगाने शुरू किये। १८६५ से पहले तक अंग्रेज सरकार देशी स्थानीय समुदायों के वन–समपदा में परम्परा गत सामूहिक–सम्पदा के अधिकारों को मानती आयी थी। १८६५ तथा बाद में संसोधित वन कानून (१८७८) ने वन–सम्पदा पर राज्य के एकाधिकार की नींव रखी। १८६५ का जंगलात कानून कवल उन वनों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश करता है जो रेलवे निर्माण में सरकारी आपूर्ति के लिये आवश्यक थे। इसमें भी ग्रामीण समुदायों के मौजूदा परम्परागत अधिकारों को पूरी तरह समाप्त नहीं किया गया था। केवल इन अधिकारों को नियमित तथा नियंत्रित करने का अधिकार वन–अधिकारियों को दिया था। १८७८ के एक्ट से पहले राज्य के नियंत्रण में आने वाले फॉरेस्ट रिजर्व क्षेत्र की सीमित थे और पूरे भारत वर्ष में केवल १४,००० वर्गमील क्षेत्रफल में सरकार के आरक्षित वन थे। हाँलाकि धीरे–धीरे वन अधिकारी केवल इन आरक्षित वनों में नहीं बल्कि गैर–जमींदारी जमीनों पर खड़े वनों पर भी अपनी शक्तियों को बढ़ाते जा रहे थे। जैसे – मार्च, १८६८ में सैन्ट्रल प्रॉविन्स के वन अधिकारियों ने घोषणा की कि सागौन, साल तथा शीशम के पेड़ों को आरक्षित प्रजाति माना जायेगा चाहे भले ही ये गैर–जमींदारी निजी भूमियों पर उग रहे हों।

शीघ्र की वन–सम्पदा का सामूहिक सम्पदा संसाधन का दर्जा औपनिवेशिक प्रशासकों के बीच एक कानूनी विवाद का विषय बन गया। १८७४ में १८६५ के वन–कानून की त्रुटियों को दूर करने तथा एक नया वन कानून बनाने बन–अधिकारियों की एक सभा में अलग–अलग विरोधी मत व्यक्त किये गये। यह विवाद मुख्यतया 'सम्पति' के एक विशिष्ट धारणा के दायरे में हुआ। सम्पत्ति की यह निरपेक्ष धारणा केवल स्वामित्त्व को सम्पति का आधार मानती थी। इस विचार में परम्परागत सामूहिक सम्पदा के अधिकार, विशेषकर जो देशी ग्रामीण समुदायों को वन तथा चारागाहों की भूमियों में प्राप्त थे, सम्पति के इस निरपेक्ष विचार के विरोधी थे। औपनिवेशिक प्रशासकों तथा नौकरशाही के बीच परम्परागत सामूहिक–सम्पदा के अधिकारों को लेकर तीन तरह की वैचारिक धारायें नजर आती हैं। पहली वैचारिक धारा वनों तथा इनकी सम्पदा पर पूरे राज्य के एकाधिपत्य की हिमायत कर रही थी। इनका तर्क था कि वे सब भूमियाँ जिन पर किसान खेती नहीं करते, वे सब राज्य राज्य की ही समपत्ति है। उन्होंने यह भी कहा कि समुदायों के द्वारा वन–सम्पदा का उपयोग करने वाली प्रथायें तथा वनों में उनके परम्परागत अधिकार शासकों की मर्जी पर ही आश्रित रहे हैं। उन्होंने इस संदर्भ में टीपू सुल्तान के उस आदेश का हवाला दिया जिसमें टीपू–सुल्तान ने पेड़ों को काटने पर प्रतिबंध लगाया था। इन अधिकारियों ने इस बात पर भी बल दिया कि वन सम्पदा के उपयोग के वे अधिकार ही मान्य होगें जो राज्य के द्वारा स्पष्ट रूप से ग्रामीण रूप से ग्रामीण समुदायों या व्यक्तियों को प्रदान किये गये थे। बाडेन पावेल तथा कृषि विभाग के उस समय के सचिव, ए॰ ओ॰ हयूम ने यह बात स्वीकार की कि वनों तथा बंजर जमीनों का एकाधिपत्य पूर्वी देशों की प्रभुसत्ता की अविवादित विशेषता रही थी और औपनिवेशिक राज्य को अपने विजय के अधिकार के साथ विरासत में यह एकाधिकार भी प्राप्त हुआ था। इस विचार के ठीक विपरीत मत मद्रास प्रांत के वन–अधिकारियों ने व्यक्त किये। उन्होंने ग्रामीण समुदायों द्वारा उपयोग किये जा रहे परम्परागत अधिकारों को उचित ठहराया और कहा कि ये समुदायिक अधिकारों को उचित ठहराया और कहा कि ये समुदायिक अधिकार ही वैध थे और राज्य को उनके हनन करने का कोई अधिकार नहीं था। इन दो विरोधी खेमों की बीच की स्थिति वन–विभाग के इन्सपैक्टर–जनरल डाइटरिख ब्रान्ड्रिस तथा कुछ अन्य अधिकारियों ने अपनाई। इनका मानना था कि निस्संदेह कुछ मामलों में राज्य के अधिकार अविवादित थे लेकिन साथ ही साथ ग्रामीणों के परम्परागत अधिकारों जैसे – वनों में पशु चराने के तथा लकड़ी काटने आदि को बनाये रखे जाने के पक्ष का इन्होंने समर्थन किया। लेकिन इनका यह भी मानना था कि राज्य इन पर कुछ प्रतिबंध भी लगा सकता था। १८७८ का संसोधित वन कानून पहले के आधार पर ही बना तथा उसमें वन–सम्पदा को राज्य का एकाधिकार ही मान लिया गया। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की जरूरतें, साम्राज्य के सामरिक तथा व्यापारिक हित तथा पराजित देशी प्रजा, इन सब कारणों से ग्रामीण तथा आदिवासी समुदायों के परम्परागत वन–सम्पदा के अधिकार तथा उनके वन से पदार्थों का स्वतंत्र रूप से उपयोग में लाने का अधिकार १८७८ के वन कानून ने पूरी तरह छीन लिया।

१८७८ के फॉरेस्ट एक्ट में वनों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था। एक आरक्षित वन जो राज्य के अधिन मूल्यवान वन थे और जहाँ सरकार ने नीजि अधिकारियों को या तो पूरी तरह समाप्त कर दिया था या अन्य स्थानों पर हस्तांतरित कर दिया था या उनके प्रयोग के अधिकार को अत्यंत सीमित कर दिया था। दूसरी श्रेणी के संरक्षित (Protected) वन थे जो राज्य के अधीन ही थे। इनमं राज्य के तथा दूसरे उपयोग करने वालों के अधिकारों को दर्ज कर दिया गया था। हाँलाकि इनमें भी राज्य का नियंत्रण पूरी तरह लागू किया गया था और इन वनों में विशिष्ट पेड़ों की प्रजातियों के संरक्षण और आरक्षण की पूरी व्यवस्था विस्तृत प्रावधान करके की गयी थी ताकि जब भी वे पेड़ों की प्रजातियाँ (Species) व्यापारिक रूप से मूलयवान हो जायें तब इन वनों को पशुओं के चराने या लकड़ी काटने के लिए बंद किया जा सके। बाद में, बढ़ती हुई व्यापारिक माँग के कारण बहुत से संरक्षित वनों को आरक्षित (reserved) वनों की श्रेणी में बदल दिया गया। वन कानून में गाँव के स्तर के स्थानीय उपयोग के वनों की एक श्रेणी भी बनाई गई थी लेकिन भारतीय महाद्वीप के ज्यादातर भागों में इस तरह के वनों को विकसित नहीं किया गया। १८७८ के जंगलात कानून में वन अधिकारियों को दिये गये कानूनी दंड देने के अधिकार को भी विस्तृत किया ताकि वनों से वन–उत्पाद के प्राप्त करने तथा उसे बाहर भेजने को सही प्रकार नियमित और नियंत्रित यिका जा सके और कोई वन कानूनों तथा नियमों का उल्लंघन करें तो उसे नियमानुसार दंड भी दिया जा सके। वन में विशिष्ट पेड़ों की प्रजातियों के संरक्षण का अर्थ था कि उनसे ज्यादा इमारती लकड़ी प्राप्त कर पाना। उत्पादकता में यह वृद्धि केवल तभी प्राप्त की जा सकती थी जब पेड़ों की उन प्रजातियों को वन से खत्म कर दिया जाये जो व्यापारिक रूप से अधिक मूल्यवान नहीं थी। वन विभाग ने इस उद्देश्य के लिए 'निम्न' प्रजातियों के बीज में विभेद किया। बहु–प्रजातीय पेड़ों वाले वनों के प्रबंधन के लिए 'उच्च' प्रजातियों के पेड़ों का अनुपात, 'निम्न' प्रजातियों के पेड़ो को काट कर तथा उनके स्थान पर 'उच्च' प्रजाति के पेड़ लगा कर, बढ़ाया जाता था। औपनिवेशिक शासन काल में १८६५–१८६५ तक वन अधिकारियों ने जिसे "वैज्ञानिक प्रबंधन" को अपनाया उसके दो प्रमुख आधारभूत नियम थे – पशुओं को जंगलों से दूर रखना तथा जंगली आगों पर काबू पाना। अंग्रेज वन अधिकारियों का यह मानना था कि इससे लकड़ी के पेड़ों की उत्पादकता बढ़ेगी। केवल उन्नीसवीं सदी के अंत में अनुभव से यह साबित हुआ कि इस प्रकार ग्रामीण वनों के उपयोग करने वाले समुदायों को जंगल से दूर रखकर इमारती लकड़ी के पेड़ों की उत्पादकता नहीं बढ़ती थीं यह पाया गया कि पशु के चराने या जंगल में लग जाने वाली आगों से इमारती लकड़ी के पेड़ों पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता था। अब वन–अधिकारियों ने, १६वीं सदी के अंत में नियंत्रण के व्यापक दायरे में रहकर अपने रवैये में थोड़ा लचीलापन लाने की कोशिश की।

भारत में वन–प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी था कि १८७०–१६२५ के मध्य इस विभाग ने नियमित रूप से राजस्व के रूप में भी राज्य की आय में वृद्धि की। इसका अर्थ यह था कि वन–प्रशासन ने केवल स्वयं अपना वित्तिय खर्चा पूरा कर रहा था बल्कि सरकार के लिए आय का एक स्त्रोत भी बन गया था। यह इसलिये सम्भव हो पाया क्योंकि शहरी केन्द्रों में निर्माण कर्यों के लिये इमारती लकड़ी तथा ईंधन के रूप में जंगली लकड़ी आदि वन–उत्पादों की माँग तेजी से बढ़ रही थी तथा यातायात के खर्चों में कमी आ जाने से शहरों में इन भारी–भरकम परिमाण की वस्तुओं की आपूर्ति कर पाना भी सस्ता और सुगम हो गया था। इसके अतिरिक्त बीसवीं सदी में, वन–उत्पाद के कई नये औद्योगिक उपयोगों का इस्तेमाल जैसे – रेजिन, तारपीन का तेल तथा अन्य कई आवश्यक तेल तथा चमड़े को सिझाने (tanning) में काफी बढ़ गया था। इस औद्योगिक उपयोगों से वन–उत्पादों का व्यापारिक मूल्य भी काफी बढ़ गया। संक्षेप में हम देख सकते हैं कि औपनिवेशिक राज्य के लिये भारत की वन–सम्पदा पर नियंत्रण स्थापित व्यापारिक तथा सैन्य जरूरतों की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था। विश्व–युद्धों के समय ब्रिटिश को भारतीय वनों पर यह नियंत्रण बहुत ही मूल्यवान साबित हुआ क्योंकि इस समय भारी मात्रा में इमारती लकड़ी तथा बाँस की आपूर्ति भारतीय वनों से म्यूनिसन बोर्ड (Munition Board) को की गई थी।

औपनिवेशिक वन-निति का देशी समुदायों पर प्रभाव

औपनिवेशिक वन–कानूनों के भारत के बहुत से पशु–पालक तथा घूमंतू समुदायों तथा उन लोगों पर विनाशकारी प्रभाव पड़े जो जंगलों में शिकारी जीवन व्यतीत करते थे वन–पदार्थों के इकठ्ठा करके ही जीवन–निर्वाह करते थे या जंगलों में जगह बदल–बदल खेती करते थे। उन कानूनों से कृषि और वनों के बीच एक अप्राकृतिक विभाजन पैदा हो गया। ग्रामीण समुदायों तथा आदिवासियों के बहुत से परम्परागत अधिकार समाप्त कर दिये और वनों को साम्राज्य के हितों के अनुरूप इस्तेमाल किया जाने लगा। किसानों तथा पशु–पालकों के लिये वनों में अपने पशुओं के चराने पर प्रतिबंध लगा दिया और आदिवासी किसानों का जगह बदल–बदल खेती करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। वनों के उपयोग में किये गये परिवर्तनों का ग्रामीणों तथा वन–वासियों के दैनिक जीवन तथा जीवन–यापन की शैली पर बहुत बुरा असर होता है। वन पर स्थानीय सामुदायिक

नियंत्रण की जगह अब राज्य का और उनके वन–अधिकारियों का नियंत्रण स्थापित हो गया। वनों को राजय के आरक्षण में लाने से वनों की पारिस्थितिकी (ecology) पर भी बुरा प्रभाव पड़ा क्योंकि स्थानीय समुदायों की जरूरत पूरी करने वाले पेड़ों जैसे बलूत तथा बहेड़ा की प्रजातियों की जगह व्यापारिक लाभ दिलाने वाली पेड़ों की प्रजातियों जैसे – सागौन, चीड़ और देवदार आदि लगाई गई। वनवासी तथा कृषक समुदाय चारे, ईंधन, खाद तथा घरेलू एवं कृषि सम्बंधी इमारती लकड़ी पाने के लिये वनों पर ही आश्रित थे लेकिन औपनिवेशिक राज्य की व्यापारिक तथा सामरिक जरूरतों ने उनके इन मूलभूत तथा परम्परागत अधिकारों पर कुठाराघात किया। औपनिवेशिक, प्रशासन ने आदिवासियों की जगह बदल–बदल खेती करने की झूम (Zhum) प्रणाली को प्रतिबंधित करके उन्हें स्थायी कृषि करने पर मजबूर किया क्योंकि अंग्रेज अंधिकारियों का मानना था कि स्थायी खेती से सरकार को राजस्व के रूप में अधिक आय हासिल हो सकती है। उदाहरण के लिए १८६० के दशक में वन–प्रशासन मांड़ला, बालघाट तथा बिलासपुर के आदिवासी बाहुल्य वाले मध्य भारत के क्षेत्रों में बैगा आदिवासी लोगों को जगह बदल–बदल कर खेती करने से दूर हटाने के भरसक प्रयत्न किये। ग्रामीण तथा आदिवासी कबीलों के परम्परागत जीवन–यापन के लिए ही उत्पादन करने की निष्कृष्ट मानने के साथ–साथ वनों के संरक्षण तथा उनकी पारिस्थितिकी को बनाये रखने के परम्परागत ज्ञान तथा विधियों के महत्त्व को भी बहुत कम करके आँका जाने लगा। १८७८ के वन–कानून में देशी शिकारियों के क्रया कलापों पर, विशेष कर निम्न जाति तथा आदिवासी लोगों के जीवन–यापन के आवश्यक प्रोटीन पाने के लिए किये जाने वाले छोटे–छोटे शिकारों पर प्रतिबंध लगा दिया। लेकिन गोरे साहब लोगों में शारीरिक क्षमता तथा नेतृत्व विकसित करने के लिये संगठित 'खेल' (sport) के रूप में शिकार को प्रोत्साहन दिया। शिकार गोरे लोगों के लिए मनोरंजन का ही नहीं बल्कि नस्ल पर आधारित अपने को एक श्रेष्ठ कुलीन वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित करने का तरीका भी था।

ऐसा भी नहीं है कि औपनिवेशिक वन–नीति का सभी देशी वर्गों पर एक जैसा ही प्रभाव पड़ा हों उदाहरण के लिए, सैन्ट्रल प्रॉविन्स में मालगुजार तथा जमींदारों के नीजि–वन कुल जमीन के क्षेत्रफल का २०% हिस्सा थे और इन वनों के उपयोग के अधिकार को लेकर सरकार, राजस्व का अधिकार प्राप्त मालगुजारों, जमींदारों तथा काश्तकारों के बीच एक तिकोना संघर्ष चलता है। औपनिवेशिक राज्य द्वारा सम्पति के अधिकारों की पुर्न व्याख्या करने से वन–विभाग के नियंत्रण में काफी कृषियोग्य खाली पड़ी जमीनें आ जाती हैं। इन इलाकों में बस्तियाँ बसाकर वन–विभाग का अधिकार क्षेत्र विस्तृत होता है। वन–विभाग के अधिकारियों की शक्ति तथा प्रभाव बढ़ जाने से उन्होंने अनेक आदिवासियों से बिना भुगतान बेगारके रूप में श्रम–सेवायें प्राप्त करनी शुरू कर दी। उत्पादन के तौर–तरीके बदल जाने, जीवन–शैली के बदलाव से वन के आदिवासी–बाहुल्य वाले इलाकों में महाजन साहूकार आदि के रूप में देशी–पूँजी की सक्रियता भी इन इलाकों में बढ़ गयी तथा आदिवासी समुदायों की कृषि दासता (agrestic serfdom) भी तेजी से बढ़ती है। मैदानी इलाकों से, औपनिवेशिक शासन के नये सम्पत्ति अधिकारों तथा ऋण–वसूली के नये रूपों से लैस होकर, ये बाहरी शोषक वर्ग इन आदिवासी समुदायों के उत्पीड़न का मुख्य कारण बन जाते हैं। इन सब सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों के कारण, वन–सम्पदा तथा चरागाहों की भूमियों के उपभोग को लेकर तथा स्थानीय समुदायों द्वारा परम्परागत अधिकारों के प्रयोग को लेकर औपनिवेशिक राज्य तथा आदिवासियों और वनवासियों के बीच तनाव और टकराव भी पैदा होते हैं। देशी समुदायों ने औपनिवेशिक राज तथा उसके देशी सहयोगी व्यापारी–महाजनों के वर्ग के विरूद्ध अपनी आर्थिक तथा अन्य परेशानियों को लेकर कई प्रकार के प्रतिरोध के तरीकों को अपनाया। इन प्रतिरोध के तरीकों में खुले विद्रोह या फितूरी से लेकर, अप्रवासन, कानूनी संघर्ष तथा वन–कानूनों की अवज्ञा आदि सभी सम्मिलित थे।

अध्याय - 6

विउपनिवेशीकरण तथा अर्थव्यवस्था

(क) ब्रिटिश राज के भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए परिणाम

पिछले विभिन्न अध्यायों में हमने अंग्रेजी शासनकाल के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में आये उतार–चढ़ावों का विस्तार से अध्ययन किया है, जब हम इस स्थिति में हैं कि संक्षेप में इस बात की चर्चा कर सकें कि अंग्रेजी शासन ने भारतीय जन–जीवन को समग्र रूप से किस प्रकार प्रभावित किया। इसे दुनिया का आश्चर्य ही कहा जाएगा कि व्यापार करने के लिए आई एक व्यापारिक कम्पनी भारत जैसे एक विशाल देश का शासक बना बैठी। किन्तु शासन बन जाने के बाद भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुख्य रूप से व्यापारिक लाभ के दृष्टिकोण से ही काम करती रही। बाद में जब शासन कम्पनी के हाथों में निकलकर ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया तब भी यह व्यापारिक प्रवृत्ति बराबर बनी रही। इस प्रकार अंग्रेजी शासकों ने अपने आपको राजनीतिक शासन तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि इस देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं अर्थव्यवस्था पर गहरे और गम्भीर प्रभाव हुए हैं और इसने भारतीय जन–जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है; यहाँ हम इन प्रभावों का ही विस्तार से अध्ययन करेंगे।

लाभदायक प्रभाव

भारत की अंग्रेज सरकार और उसके समर्थ विद्वान् बराबर यह दिखाने की कोशिश करते रहे कि अंग्रेजी शासन ने भारत के लोगों को अनेक दिशाओं में आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार भारत एक असभ्य एवं सब प्रकार से पिछड़ा हुआ देश था तथा यहाँ के लोग रूढ़ियों एवं परम्पराओं से ग्रस्त थे, अंग्रेजों ने इन्हें एक नया दृष्टिकोण एवं नई संस्कृति प्रदान की जिसने उन्हें उन्नति करने की प्रेरणा दी। अनेक प्रकार के तर्कों के माध्यम से यह भी सिद्ध करने की कोशिश करते रहते थे कि अंग्रेज सरकार जनता के कल्याण एवं आर्थिक प्रगति के लिए अनेक उपाय कर रही है और उसका परिणाम भी आने लगा।

यद्यपि अंग्रेजों की नीति का मुख्य इरादा भारत का विकास करना नहीं था, पर इतना तो सच ही है कि उनके क्रियाकलापों एवं नीतियों के कारण भारत को चाहे अनायास ही सही कुछ लाभ भी हुए थे। यह वास्तव में अभिशाप का वरदान बन जाने अथवा बुराई में भी अच्छाई छिपे होना जैसे ही था। जब हम अंग्रेजी शासन के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में हुए समूचे परिवर्तन अथवा इस पर पड़ने वाले समग्र प्रभावों का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें इसके नकारात्मक पक्ष को ही न देखकर इसके सकारात्मक पक्ष को भी देखना चाहिए। भले ही यह सकारात्मक पक्ष कितना ही छोटा क्यों न हो। अंग्रेज इस सकारात्मक पक्ष को बढ़ा–चढ़ाकर पेश करते थे जबकि कुछ भारतीय नेता इस सकारात्मक पक्ष के अस्तित्व को ही स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। किन्तु एक संतुलित अध्ययन एवं विवेचन के लिए हमें इस पक्ष को अवश्य देखना चाहिए। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकरहम यहाँ उन प्रमुख दिशाओं की ओर संक्षेप में संकेत करेंगे जो भारत–ब्रिटिश शासन के अनुकूल एवं लाभदायक प्रभावों को बताती हैं।

1. **देश का राजनीतिक एवं आर्थिक एकीकरण :** अंग्रेजों के आगमनसे पूर्व देश अनेकों स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयों में बंटा हुआ था और ये आपस में लड़ती रहती थीं। ब्रिटिश शासन के दौरान समूचा भारत एक राजनीतिक इकाई के रूप में उभरकर सामने आया। देश के उस राजनीतिक एकीकरण के कारण वस्तुओं के आने–जाने पर नियंत्रण हटे और बाजार का विस्तार हुआ। एकीकृत सिविल कानून की स्थापना हुई, सम्पूर्ण देश में एक जैसी मुद्रा प्रणाली लागू की गई तथा बैंकिंग व व्यापार सुविधाओं का विस्तार हुआ। इस सबके परिणामसवरूप देश आर्थिक एकीकरण की दिशा में आगे बढ़ा।

2. **परिवहन व संचार साधनों का विकास** – खासतौर से 19वीं शताब्दी के मध्य से भारत में परिवहन व संचार सुविधाओं में काफी सुधार हुआ। रेलों का निर्माण किया गया तथा प्रमुख केन्द्रों को जोड़ने वाली सड़कें भी बनाई गई। बीसवीं शताब्दी में जहाजरानी एवं हवाई सेवा के क्षेत्र में भी प्रगति की शुरुआत हुई। इसी प्रकार, इस दौरान डाक तार जैसे संचार साधनों का भी विकास हुआ।

3. **बैंकिंग एवं मुद्रा प्रणालियों का विकास** – भारत में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास अंग्रेजी शासन के दौरान ही संभव हो सका था। इस प्रकार के बैंकों के निर्माण में अनेक अंग्रेज व्यापारियों ने पहल की थी। अंग्रेजी शासन के दौरान ही 1840 के बाद तीन प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना हुई और बाद में 1921 में इन तीनों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई। इस इम्पीरियल बैंक ने काफी समय तक बैंकों के बीच तालमेल, नोट निर्मन एवं सरकारी बैंक के रूप में काम करके केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा किया। विदेशी व्यापार की सहायता के लिए विदेशी विनिमय बैंक खोले गए।

   1935 में देश में केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की स्थापना का श्रेय भी अंग्रेज सरकार को ही है। इस आधुनिक बैंकिंग प्रणाली ने देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने, व्यापार व व्यवसाय को बढ़ाने और भारत में बाजार अर्थव्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

   इसी प्रकार अंग्रेजों ने आगमन से पूर्व भारत में करेन्सी की दृष्टि से भी काफी अधिक अव्यवस्था एवं भिन्नता थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1835 में एक रुपये का चांदी का मानक सिक्का समूचे देश के लिए निर्धारित करके एकीकृत मुद्रा प्रणाली की नींव रखी। इसे समूचे देश में एकरूपता आई और लेन–देन में काफी सुविधा हुई।

4. **उत्पादन एवं प्रबन्ध की आधुनिक तकनीकों का प्रारम्भ** – इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पादन के क्षेत्र में नई कारखाना प्रणाली का उदय एवं विकास हुआ। इस कारखाना प्रणाली के कारण उत्पादन एवं प्रबन्ध की भी नई तकनीकों का विकास हो रहा था। जब अंग्रेजों ने भारत के कुछ क्षेत्रों में पूंजी का निवेश किया तो उसके साथ उत्पादन व प्रबंध की इन नई तकनीकों की शुरूआत भी स्वाभाविक रूप से ही भारत में हो गई।

5. **नई सामाजिक व्यवस्था का विकास** – अंग्रेजी शासन के दौरान अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध सम्पर्क का यह भी परिणाम हुआ कि हमारी बहुत–सी पुरानी व परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन आने लगा और तर्क व प्रगतिशील विचारों के आधार पर नई सामाजिक व्यवस्था के उदय की दिशा में कदम आगे बढ़ने लगा। जाति प्रथा, छुआछूत, फिजूल खर्ची, अन्ध विश्वासों, सती प्रथा, दहेज प्रथा जैसी कुछ सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध चेतना जगने लगी और इस अवधि में कई सुधारवादी आन्दोलन भी आन्दोलन भी प्रारम्भ हुए। इसी के साथ जहां पहले विनियम एवं अन्य अनेक आर्थिक क्रियाकलापों का निर्णय रीति–रिवाज एवं परम्परा के आधार पर होता था, उनका स्थान अब संविदा एवं प्रतियोगिता ने ले लिया। इस प्रकार आर्थिक निर्णयों के लिए आर्थिक आधारों को भी काम में लिया जाने लगा।

6. **नई विधि-व्यवस्था एवं नई शिक्षा प्रणाली** – अंग्रेजों ने ब्रिटिश पद्धति पर आधारित नये सिविल कानून एवं न्यायालयों की स्थापना की। इसके परिणाम स्वरूप समूचे देश में एक समान कानूनों पर आधारित राज्य का निर्माण हुआ। इस नई विधि व्यवस्था का आपसी लेन–देन एवं साख एवं साख प्रणाली पर भी बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा।

   इसी तरह अंग्रेजों ने शिक्षा प्रणाली में भी आमूलचूल परिवर्तन कर डाला। इस नई शिक्षा प्रणाली का यद्यपि मुख्य उद्देश्य तो अंग्रेजी शासन एवं प्रशासन चलाने के लिए ऐसे शिक्षित भारतीय तैयार करना था जो रंग–रूप में तो भारतीय हों किन्तु दिल–दिमाग से अंग्रेज हों। एक प्रकार से अंग्रेज इस शिक्षा प्रणाली के माध्यम से अंग्रेजों के प्रति वफादार शिक्षित कर्मचारी तेयार करके उन्हीं के माध्यम से भारत का शासन चलाना चाहते थे। इसी उद्देश्य को केन्द्र में रखकर उन्होंने समूची शिक्षा प्रणाली का ढांचा तैयार किया था। अतः इस शिक्षा प्रणाली के अनेक नुकसान हुए और उसकी छाप आज तक भारत पर है। किन्तु इस शिक्षा प्रणाली के अनेक नुकसानों के बावजूद फायदा भी हुआ। इस शिक्षा प्रणाली के माध्यम से विज्ञान एवं दुनिया के अन्य देशों की प्रगति व विचारों की जानकारी भारत को हुई और उनका समूची अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों का तो यह भी मानना है कि शिक्षा प्रणाली के कारण भी भारत के लोगों में राष्ट्र प्रेम जगा और स्वाधीन भारत के निर्माण की चाह उत्पन्न हुई। अपने इस निष्कर्ष के पक्ष में उनका यह तर्क है कि भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के जो प्रमुख नेता रहे वे सभी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से उच्च शिक्षा प्राप्त लोग थे।

7. **बाजार अर्थव्यवस्था एवं पूंजीवेदी उद्यम का उदय** – बाजार अर्थव्यवस्था से तात्पर्य एक ऐसी अर्थव्यवस्था से होता है जिसमें सब प्रकार के लेनदेन एवं विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों के माप के लिए मुख्य रूप से मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में बाजार अर्थव्यवस्था एक मुद्रा अर्थव्यवस्था होती है। अंग्रेजी शासनकाल में चाहे सीमित मात्रा में ही सही किन्तु बाजार अर्थव्यवस्था के उदय ही शुरुआत हो चुकी थी। देश में अनेक कामों जैसे विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य को मापने, हिसाब–किताब रखने, उधार लेने–देने, संचय करने आदि के लिए मुद्रा का अधिक प्रयोग होने लगा था। वस्तु विनिमय के स्थान के स्थान पर मुद्रा द्वारा विनिमय बढ़ते जा रहे थे। आर्थिक क्षेत्र में रीति–रिवाज व परम्परा का स्थान प्रतियोगिता एवं अनुबन्ध लेते जा रहे थे और अब विभिन्न आर्थिक निर्णय आधारों पर होने लगे थे। बाजार का विस्तार होकर राष्ट्रीय बाजार का उदय हो चुका था। भूमि व श्रम दोनों बाजार में खरीदे व बेचे जा सकने वाली जिन्सों के रूप में बदल गए थे। अब उत्पादन केवल मात्र स्व–उपभोग के लिए न होकर बाजार में बिक्री के लिए होने लगा था तथा कृषि का भी काफी कुछ व्यावसायीकरण हो गया था। ये सब तत्त्व इस बात को साबित करते हैं कि भारत एक बाजार अर्थव्यवस्था के रूप में उदित होने लग गया था। इसके अलावा, अंग्रेजी शासनकाल में भारत में पूजीवादी उद्यमों के उदय की भी शुरूआत हो चली थी। कुछ क्षेत्रों में मशीन पर आधारित नये कारखाने भारत में अंग्रेजी शासनकाल में ही प्रारम्भ हुए जैसे – सूती कपड़ा, जूट, लोहा व इस्पात, चीनी, कागज, सीमेंट आदि उद्योग।

8. **स्थिरता, शान्ति एवं सुरक्षा** – अंग्रेजी शासन के दौरान देश में राजनीतिक स्थिरता, शान्ति व सुरक्षा के वातावरण में भी वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप देश में व्यापार व अन्य आर्थिक क्रियाओं को फलने फूलने के भी पर्याप्त अवसर प्राप्त हुए।

हानिकारक प्रभाव

ऊपर हमने ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में आये अनुकूल एवं लाभदायक प्रभावों की चर्चा की है। इन आधारों पर अंग्रेज शासक एवं विद्वान यह सिद्ध करने की कोशिश करते थे कि अंग्रेजी शासन एक कल्याणकारी शासन है। किन्तु भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप भारत के जन जीवन में आये प्रभावों का बड़ी गहराई में जाकर अध्ययन किया था और वे इस नतीजे पर पहुंचे थे कि विश्व के अन्य देश इस अवधि के दौरान जहाँ बहुत आगे निकल गए थे वहां भारत पहले से भी पिछड़ गया था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि अंग्रेजी शासन की किसी भी नीति का इरादा भारत का हित तो रहता ही नहीं था। उन्होंने इस देश में जो भी नीति लागू की अथवा जो भी कार्य प्रारम्भ किए उन सबके पीछे मुख्य रूप से ब्रिटेन को लाभ पहुंचाना ही उद्देश्य रहता था। ऐसी स्थिति में उनके शासन में लाभदायक प्रभावों को मानना अपने आपको धोखा देने के समान ही होगा। कुछ नीतियों एवं कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप ऊपर से जो कुछ लाभ दिखाई देते थे, जब उनके समग्र रूप में देखने का प्रयास किया जाता था तो वे भारत के लिए हानि पहुंचने वाले ही साबित होते थे। अतः यहां हम इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने का प्रयास करेंगे कि अंग्रेजी शासन भारत की साधन–सम्पन्नता के शोषण के लिए क्यों और कहां तक जिम्मेवार था? और यदि था तो उसने इस शोषणके लिए कौन–कौन से तरीके अपनाये? जब हम इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं तो हमें पता चलता है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रकार से नुकसान पहुंचाया है।

1. कम्पनी व उसके कर्मचारियों द्वारा खुली लूट

भारत पर अपनी विजय के प्रारम्भिक चरणों में अंग्रेजों द्वारा किए गए भारत के शोषण को एक अंग्रेज इतिहासकार ने 'खुली एवं निर्लज्ज लूट' कहकर पुकारा है : इस लूट के लिए उन्होंने प्रमुख रूप से निम्नलिखित तरीके अपनाये।

1. **अनिवार्य भेंट व उपहार** – प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों ने बंगाल का नवाब नियुक्त करने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। बार–बार नवाब बदलकर हर नये नवाब से कम्पनी व उसके कर्मचारी भेंट व उपहारों के नाम पर काफी बड़ी रकम वसूल कर लिया करते थे। इस प्रकार की भेंट व उपहारों के नाम पर 1757 से 1766 की आठ वर्षों की छोटी–सी अवधि में ही अंग्रेजों ने 60 लाख पौण्ड की रकम वसूल कर ली थी। यह बंगाल की उस समय की सालाना लगान की राशि का चार गुणा थी। इसके अलावा अंग्रेज अफसर लगान वसूल करने वाले जमींदारों की नियुक्ति पर उनसे भी भेंट वसूल किया करते थे।

2. **कर मुक्त व्यापार** – ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तत्कालीन मुगल बादशाह से 1717 में एक शाही फरमान (आदेश) जारी करवाया गया था। इस फरमान के अनुसार उन्हें बिना कर दिए भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान पर वस्तुओं को व्यापार के लिए लाने ले जाने की छूट मिल गई थी। अंग्रेज अफसरों एवं कर्मचारियों ने इस फरमान का नाजायज फायदा उठाना शुरू कर दिया। उन्होंने चोरी छिपे अवैध रूप से अपने व्यक्तिगत व्यापार प्रारम्भ कर दिए और उस माल पर भी वे उस फरमान के तहत छूट लेने लगे। दूसरे ओर, भारतीय व्यापारियों को उन्हीं वस्तुओं के व्यापार पर कर देना पड़ता था, इससे वे व्यापार में पिछड़ जाते थे। ऐसी स्थिति में भारतीय व्यापारियों ने इस छूट का फायदा उठाने के लिए अंग्रेज कर्मचारियों से जाल प्रमाण पत्र (जिन्हें दस्तक कहा जाता थ) लेने शुरू कर दिए। इन प्रमाण पत्रों के जरिये अंग्रेज कर्मचारी भारतीय व्यापारी के माल को अपना माल घोषित कर देता था और इस प्रकार वह माल कर से बच जाता था। इन जाली दस्तकों के बदले ये अंग्रेज कर्मचारी भारतीय व्यापारियों से अच्छी खासी रकम वसूल करते थे। इसके अलावा, अंग्रेज कर्मचारियों ने कुछ वस्तुओं के व्यापार पर तो अपना एकाधिकार ही जमा लिया। इन वस्तुओं को वे सस्ती खरीदते थे और काफी महंगी बेचकर भारी मुनाफा कमाते थे।

3. **दस्तकारों व नील उत्पदकों का दमन व शोषण** – अंग्रेजों ने अपना दमन चक्र सबसे पहले भारतीय दस्तकारों व बुनकरों पर चलाया उनका स्वतंत्र कारीगर के रूप में अस्तित्व समाप्त कर दिया गया। उन्हें अब यह भी निर्णय करने का अधिकार नहीं रह गया था कि वे किस ओर कितनी वस्तु का उत्पादन करें और उसे कहाँ और कितनी कीमत पर बेचें। अब उन्हें अपने लिए नहीं कम्पनी के एजेन्टों के लिए काम करना पड़ता था। उन्हें इन एजेन्टों की शर्तों तथा उनके द्वारा निर्धारित कीमतों पर माल बनाकर उन्हें ही देने के लिए मजबूर किया जाता था। ये एजेन्ट दस्तकारों को कुछ पेशगी रकम देकर बन्धुआ मजदूरों के तरह उन्हें समझौतों के जाल में फंसा लेते थे। मना करने पर अथवा शर्त के अनुसार माल बनाकर न दे पाने पर इन्हें जुर्माने, कोड़े व कैद तक की सजा दी जाती थी। कच्चा माल ऊंची कीमत पर देकर तथा तैयार माल नीची कीमत पर लेकर इन दस्तकारों का दोहरा शोषण किया जाता था।

   इसी प्रकार, नील का उत्पादन करने वाले काश्तकारों को भी शोषण का शिकार बनाया गया। अतः अंग्रेजों ने इसकी खेती को बढ़ावा दिया। अनेक यूरोपियन नील बागानों में परिष्कर्ता के रूप में काम करने लग गए। ये भारतीय काश्तकारों को अपनी जमीन में नील बोने और उसे परिष्ककृत करने के लिए बहुत ही कम कीमत पर उन्हें बेचने के लिए मजबूर करते थे। इस प्रकार ये नील उत्पादक काश्तकारों का शोषण कर भारी मुनाफा कमाते थे।

4. **फालतू राजस्व को हड़पना** – 1703 के बक्सर के पुत्र विजय के बाद लार्ड क्लाइव ने दिल्ली के मुगल बादशाह से बंगाल की दीवानी अर्थात् राजस्व वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस राजस्व में सब प्रकार से सैनिक व असैनिक खर्चों को पूरा करने तथा बंगाल के नवाब को भत्ता व दिल्ली सम्राट को नजर देने के बाद अंग्रेजों के पास हर साल एक काफी बड़ी रकम बच जाया करती थी। 1765 से 1770 के बीच के छः वर्ष की अवधि में ही बेशी की यह कुल रकम लगभग 40 लाख पौण्ड थी जो शुद्ध राजस्व का लगभग एक तिहाई भाग बैठती थी। अंग्रेजी इस बेशी रकम से उन निर्यात वस्तुओं का मूल्य चुका दिया करते थे जो भारत से बाहर भेजी जाती थी। इस प्रकार इस धन के अंतरण के बदले देश को कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाता था। अतः यह एक प्रकार की लूट ही थी।

   अंग्रेजों द्वारा की गई इस लूट खसोट के देश की अर्थव्यवस्था पर कई गंभीर परिणाम हुए जैसे – भारत के संचित पूंजी भण्डार का ह्रास होने लगा, दमन व शोषण के शिकार दस्तकारों का शहरों गाँवों की ओर पलायन शुरू हो गया; सूरत और मुर्दिाबाद जैसे हस्तशिल्प में मशहूर शहरों की जनसंख्या में तेजी से कमी आना शुरू हो गई, तंजोर जिले के समृद्धि को झटका लगा, भारत के बहुत से शोषित पीड़ित व्यापारी भी अंग्रेजों के गुमास्तों व एजन्टों के रूप में काम करने को मजबूर हो गए।

   कुछ वर्षों बाद जब ब्रिटिश शासन की जड़ें भारत में अच्छी प्रकार जम गई तो खुली व निर्लज्ज लूट के स्थान पर अंग्रेजों ने उपनिवेशी शोषण की धूर्त एवं चालाक साम्राज्यवादी प्रणाली के द्वारा भारत का शोषण करना शुरू कर दिया। शोषण के इस नये तौर तरीकों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था को जो दुष्परिणाम भुगतने पड़े, अब हम उनकी चर्चा करेंगे।

2. गरीबी, गतिहीनता एवं पिछड़ापन

18वीं शताब्दी के मध्य तक जो भारतीय अर्थव्यवस्था दुनिया में काफी संपन्न अर्थव्यवस्था मानी जाती थी, यह 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में धीरे–धीरे पतन की ओर अग्रसर होने लग गयी। अंग्रेजों ने भारत के साधनों का सब प्रकार से जमकर शोषण किया। अंग्रेज सरकार की नीतियों के कारण कृषि या औद्योगिक क्षेत्र में या तो प्रगति हुई ही नहीं और यदि हुई भी तो वह विकृत और बहुत ही मंद गति से हुई इस सबका परिणाम यह हुआ कि भारत के प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा हो गया और वह लगभग स्थिर ही बना रहा। इस प्रकार देश गरीबी, गतिहीनता एवं पिछड़ेपनके जाल में फंस गया। निम्नलिखित तथ्य अंग्रेजी शासनकाल में भारत की गरीबी एवं गतिहीनता को प्रकट करते हैं।

1. **निम्न प्रति व्यक्ति आय** – पिछले अध्याय में हमने उसकाल के राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय के अनुमानों का जो अध्ययन किया है, उसके अनुसार अधिकांश अनुमानकर्ताओं, ने उस जमाने में प्रति व्यक्ति आय को 30 रू. के आसपास ही माना था। कुछ विद्वानों ने तो इसे भी कम माना था। बाद में अनेक विद्वानों ने उस समय के अनुमानों के आधार पर समूचे अंग्रेजी शासनकाल के दौरान प्रति व्यक्ति आय के अनुमानों की श्रृंखला तैयार करने का प्रयास किया है। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेजी शासनकाल में भारत की प्रति व्यक्ति आय का स्तर नीचा ही नहीं था बल्कि समूची अवधि में इसमें इतनी धीमी गति से वृद्धि हुई कि इसे वृद्धि कहा ही नहीं जा सकता। वी.वी. भट्ट औसत निकालकर उन्हें धान के रूप में बदलकर तुलना करने का प्रयास किया है। इस तुलना के आधार पर भी भट्ट ने जो निष्कर्ष निकाला है उसके अनुसार तो 1867 से 1882 के बीच भारत की प्रति व्यक्ति आय लगभग 15 मन धान पर स्थिर रही और बाद में 1895 से 1901 के दौरान यह घटकर 12.7 मन धान रह गई।

   देश के आम आदमी की आय का चित्र तब और भी अधिक भयावह होकर हमारे सामने उभरता है जब हम इस तथ्य पर ध्यान देते हैं कि आय के वितरण में बहुत अधिक असमानता थी तथा आय में काफी बड़ा भाग उद्योगों व व्यवसायों पर आश्रित जनसंख्या के छोटे–से भाग का था। इसका अर्थ है कि देश की उस बहुत बड़ी जनसंख्या की जो कृषि पर आश्रित थी या मजदूरों के रूप में या छोटे–मोटे व्यवसाय करके अपनी जीविका चलाती थी उसकी औसत आय तो बहुत ही निम्न स्तर पर थी। भारत की प्रति व्यक्ति आय का निम्न बने रहना तो भारत की दरिद्रता का प्रमाण था ही किन्तु जब उसकी उस समय के विश्व के अन्य देशों की आय से तुलना की गई तब भी यह पाया गया कि तुलनात्मक रूप से भारत बहुत पीछे है। टर्की जैसे देश भारत की तुलना में दुगुना उत्पादन करते थे तथा भारत इंग्लैण्ड से उन्नीस गुणा पीछे था। इस प्रकार की तुलनाओं से देश में एक व्यापक धारणा बनती जा रही थी कि सभ्य संसार में भारत दरिद्रतम देश हैं

2. **प्रति व्यक्ति व्यय** – भारत में गरीबी एवं अभाव की समस्या को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझने की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने यह महसूस किया कि इस आय की जांच जीवन निर्वाह व्यय के संदर्भ में की जानी चाहिए ताकि यह स्पष्ट हो सके। एक सामान्य भारतीय की आय भी इतनी भी नहीं है कि वह अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके। उस समय प्रति आय के तो कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं थें अतः दादा भाई नौरोजी ने यह दिखाने के लिए कि ब्रिटिश शासन में भारत के लोगों को प्रति व्यक्ति खर्च करनेके लिए कितना कम मिल पाता था, उस समय की प्रति व्यक्ति आय के आंकड़ों की तुलना जेल में प्रति कैदी पर किए जाने वाली खर्च से की थी उन्होंने विभिन्न प्रान्तों के 1867–68 के प्रतिवेदनों के आधार पर जेल में कैदी के भोजन और वस्त्रों पर सरकारी खर्च का गणना इस प्रकार से प्रस्तुत की थी –

सैण्ट्रल प्राविन्सेज	31 रु0
पंजाब	27 रु0 3 आने
नार्थ–वैस्ट प्राविन्सेज	21रु0 13 आने
बंगाल	31 रु0 11 आने
मद्रास	53 रु0 11 आने
बम्बई	47 रु0 7 आने

दादा भाई नौरोजी ने 1867–68 के वर्ष के लिए आय का अपना जो आकलन प्रस्तुत किया था उसके अनुसार प्रति व्यक्ति आय 20 रु0 थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय भारत की औसत प्रति व्यक्ति आय इतनी भी नहीं थी कि वह अपने पर उतना भी खर्च सके जितना जेल में एक कैदी पर होता है। इसका अर्थ है कि भारत के लोगों की हालत कैदी से भी बुरी थी।

3. **अकाल** – अंग्रेजी शासन के दौरान भारत में बार–बार अकाल पड़ते रहे जिनमें लाखों लोगों की मृत्यु हुई। अकालों की विनाश लीला की विस्तृत वर्णन हम अध्याय 4 में पढ़ ही चुके हैं। ऐसा अनुमान है कि 1790 के अकाल में (बंगाल, बिहार और उड़ीसा में) लगभग 1 करोड़ लोगों की और 1943 के बंगाल के अकाल में 15 लाख लोगों की मृत्यु हुई थी।

बार–बार अकालों का पड़ना अंग्रेजी शासनकाल में एक सामान्य–सी बात हो चली थी और इन अकालों की रोकथाम करने एवं अकालों के दौरान लोगों को राहत पहुंचाने की दृष्टि से भी कोई व्यापक, प्रभावी एवं संतोषजनक उपाय नहीं किए जाते थे। ऐसी स्थिति में पहले से ही गरीबी की मार से पीड़ित अपनी सामान्य आवश्यकताओं को भी पूरा न कर सकने वाले भारतीय जनता की गरीबी की समस्या और भी अधिक भयंकर बन जाती थी।

4. **श्रमिकों की दशा एवं मजदूरी का निम्न स्तर** – ब्रिटिश शासनकाल में मजदूर वर्ग की दशा, कार्य की शर्तों एवं मजदूरी स्तर का अध्ययन करने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती हे कि भारत की अवस्था अत्यन्त दयनीय थीं यद्यपि उस अवधि की मजदूरी दरों के बारे में
अधिक विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं तो भी जो भी सामग्री उपलब्ध है उनके आधार पर जे. कुजेन्सकी ने मजदूरी स्तर के सूचकांक के बारे में निम्नलिखित तालिका तैयार की है –

मौद्रिक मजदूरी, जीवन-लागत और वास्तविक मजदूरी की सूची

(1900=100)

वर्ष	मौद्रिक मजदूरी	जीवन-लागत	वास्तविक मजदूरी
1880–1889	87	69	127
1890–1899	94	85	112
1900–1909	107	97	111
1910–1919	135	143	98
1920–1829	211	207	103
1930–1938	184	143	129

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि मौद्रिक मजदूरी में तो प्रथम विश्व युद्ध तक लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रही। किन्तु वास्तविक मजदूरी में अलग तरह से परिवर्तन होते रहे। वास्तविक मजदूरी में अलग–अलग वर्षों में अलग–अलग प्रकार से परिवर्तन

आये किन्तु कुल मिलाकर ता इसमें कमी की ही प्रवृत्ति रही। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरानएवं उसके तुरन्त बाद के वर्षों में मौद्रिक मजदूरी तो तेजी से बढ़ी किन्तु वास्तविक मजदूरी काफी घट गई। विश्वयुद्ध के बाद हमें अधिकांश पूंजीवादी देशों में एक प्रतिक्रिया देखने को मिलती है जिसके अनुसार युद्ध की अवधि में वास्तविक मजदूरी में आई गिरावट के ठीक विपरीत वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हुई। तीस के दशक के दौरान वास्तविक मजदूरी की यह वृद्धि लगातार जारी रही।

किन्तु वास्तविक मजदूरी की यह वृद्धि वास्तविक को प्रकट नहीं कर पाती। क्योंकि उपर्युक्त आंकड़े सकल मजदूरी से सम्बन्धित हैं। अतः ये तीस के दशक के प्रारम्भिक वर्षों के दौरान बेरोजगारी एवं अल्प बेरोजगारी के परिणामस्वरूप मजदूरी में हुई हानि का हिसाब नहीं लगा पाते। यदि हम इस हानि का हिसाब लगाते हुए निवल वास्तविक मजदूरी का सूचकांक निकालें तो पता चलेगा कि तीस के दशक के दौरान वास्तविक मजदूरी का स्तर 1880 के दशक की तुलना में कम हो गया था। डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने भी 1800 से 1938 के बीच की अवधि के लिए संयुक्त प्रांत के श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी का सूचकांक तैयार किया था। इस सूचकांक के अनुसार भी कुशल एवं अकुशल श्रमिकों की मजदूरी में 27 से 29 प्रतिशत तक की कमी आ गई थी।

इसके अलावा जब हम उस समय के श्रमिकों की आवास, पोषण एवं अन्य सुविधाओं का भी ध्यान करते हैं तो हमारे सामने जिस प्रकार के भारतीय मजदूरों का चित्र उभरकर आता है वे ऐसे मजदूर हैं जो आधे भूखे, नंगे तथा हवा, पानी व प्रकरण की सुविधाओं से वंचित कोठियों में जानवर से बुरी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हैं श्री आर.सी देसाई ने 1931–32 से 1940–41 के बीच 1938–39 की स्थिर कीमतों के आधार पर मजदूरों के प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय की जो तालिका तैयार की है उससे पता चलता है कि उसमें लगातार कमी होती रही थी। 1931–32 में प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय 19.9 रु0 था जो घटकर 1940–41 में 46. 3 रुपये रह गया था। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि इस अवधि के दौरान भारतीय मजदूरों के रहन–सहन स्तर में लगातार गिरावट आती जा रही थी। 1939 से 1947 तक की अवधि में भी मजदूरों को वास्तविक मजदूरी में गिरने की प्रवृत्ति के ही लक्षण दिखाई देते हैं। एक अनुमान के अनुसार 1939 की तुलना में 1947 में वास्तविक मजदूरी में 14 प्रतिशत की कमी आ गई थी।

भारत के मजदूरों का उन दिनों अनेक प्रकार से शोषण किया जाता था और रोजगार के अभाव में उन्हें इन सब अत्याचारों को सहना पड़ता था। व्हिटले कमीशन ने अपनी अपनी रिपोर्ट में बताया था कि बमबई जैसे महंगे शहर में आधे से ज्यादा मजदूर प्रति सप्ताह 9 शिलिंग 6 पैंस से भी कम मजदूरी पाते थे। उत्तर प्रदेश के मजदूरों को 4 शिलिंग 6 पैंस तथा मध्य प्रान्त, बिहार, उड़ीसा और मद्रास के मजदूरों को 6 शिलिंग प्रति सप्ताह मजदूरी प्राप्त होती थीं द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले एक मजदूर के औसत परिवार की आय बम्बई में 50 रुपये मासिक, अहमदाबाद में 46 रुपये मासिक, शोलापुर में 40 रुपये मासिक और मद्रास में 37 रुपये मासिक थी। इस मासिक आय का मूल्य विश्वयुद्ध के दिनों में महंगाई के कारण और भी घट गया था।

औद्योगिक क्षेत्रों के मजदूरों से भी ज्यादा बदतर हालत कृषि मजदूरों, बगान मजदूरों एवं कोयला खान मजदूरों की थी। इनकी मजदूरी की दर तो बहुत कम थी ही पर साथ ही इनके कार्य में घंटे बहुत अधिक होते थे और इनसे बड़ी बेरहमी एवं अमानवीय ढ़ंग से काम लिया जाता था। वास्तव में तो इन मजदूरों एवं पशुओं की जिन्दगी में कोई बहुत बड़ा फर्क नहीं रह गया था।

5. **पिछड़ा हुआ व्यावसायिक ढ़ाँचा** – अंग्रेजी शासक काल में हसतशिल्प उद्योगों के पतन के कारण खेती पर जनसंख्या का भार बढ़ गया था। दूसरी ओर, गैर–कृषि क्षेत्र का छोटा और सीमित ही नहीं था बल्कि इसका ढाँचा भी असंतुलित था। जिसे देश के व्यावसायिक ढाँचे में खेती को ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है, वह देश गरीब और पिछड़े देश की श्रेणी में गिना जाता है। डेनियल एण्ड थोर्नर ने' 1818 से 1931 के बीच भारत के व्यावसायिक ढाँचे का अध्ययन किया है। इस अध्ययन के अनुसार भारत में 1881 में कुल श्रमिकों का लगभग 62 प्रतिशत खेती में लगा हुआ था जो बढ़कर 1931 में 71.5 प्रतिशत हो गया। जबकि उद्योगों में लगे श्रमिकों का प्रतिशत 18.3 प्रतिशत से घटकर 9.2 प्रतिशत रह गया था। 1881 से 1951 तक की अवधि में भारत के व्यावसायिक ढाँचे के अध्ययन से पता चलता है कि इस अवधि के दौरान इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। इस समूची अवधि के दौरान कुल मिलाकर काम करने वाले लोगों का कृषि क्षेत्र में लगभग 70 प्रतिशत, विनिर्माण क्षेत्र में 10 प्रतिशत और सेवा क्षेत्र में 15 से 20 प्रतिशत के बीच हिस्सा बना रहा। इस प्रकार देश के व्यावसायिक ढाँचे में लगातार कृषि क्षेत्र की प्रमुखता का बने रहना देश के पिछड़ेपन को प्रकट करता है।

6. **ऊँची जन्म-दर व मृत्यु दर** – ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की जन्म–दर और मृत्यु दर दोनों ही काफी ऊँची रही जो किसी भी अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन को ही सूचित करती है। 1911–21 के दौरान भारत की जन्म–दर लगभग 45 प्रति हजार थी, जो बहुत ऊँची थी। इस प्रकार, 1911–21 के दौरान मृत्यु दर 40 प्रति हजार थी, जिसे ऊँचा ही कहा जायेगा। अंग्रेजी शासनकाल में जनसंख्या की वृद्धि दर में भी काफी उतार–चढ़ाव आते रहे हैं। देश को माल्थस के द्वारा बताये गए प्राकृतिक अवरोधों (जैसे – बाढ़, अकाल, महामारी आदि) का भी सामना करना पड़ता रहा है। ये सब देश के पिछड़ेपन को ही प्रकट करते हैं। बाद में 1931–41 के दौरान मृत्यु दर घटकर 31.2 प्रति हजार हो गई और उसके बाद लगभग उतनी ही बनी रही। इस कारण जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। जनसंख्या की इस वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति आय एवं प्रति व्यक्ति उपभोग स्तर पर प्रतिकूल असर पड़ा।

7. **शहरीकरण का निम्न स्तर** – भारत पहले से ही कृषि प्रधान देश था, अतः इसमें ग्रामीण आबादी ज्यादा थी। अंग्रेजी शासन के दौरान जब हस्तशिल्प उद्योग नष्ट हो गये तो शहरी दस्तकार रोजी–रोटी की तलाश में फिर से अपने गाँव को लौट आये और खेती के काम में लग गए। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण आबादी और भी अधिक बढ़ गई। 1911 में भारत में शहरी आबादी केवल 11 प्रतिशत थी। साधारणतया यह माना जाता है कि जिन देशों में शहरी आबादी कम होती है,वे आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश होते हैं।

8. **अशिक्षा** – अंग्रेजी शासन काल में जनसामान्य के लिए व्यापक शिक्षा प्रणाली की सुविधाओं के निर्माण की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से शिक्षा देकर अपने प्रशासन को चलाने के लिए शिक्षित कर्मचारिकयों का एक वर्ग तैयार करने की दृष्टि से देश के कुछ चन्द लोगों को शिक्षित कर सकने लायक शिक्षा का एक सीमित ढाँचा ही तैयार किया गया था। इसके फलस्वरूप देश के केवल बहुत थोड़े से लोग ही शिक्षा प्राप्त कर पाते थे, अतः अधिकांश आबादी अशिक्षित ही रह गई। भारत में 1941 में केवल 17 प्रतिशत लोग साक्षर थे। ग्रामीण क्षेत्रों और महिलाओं में तो यह प्रतिशत और भी कम था। इस प्रकार, देश की अधिकांश जनसंख्या अशिक्षित होना ही देश के पिछड़ेपन की निशानी थी।

9. **निम्न रहन-सहन स्तर** – कुल मिलाकर जब हम अंग्रेजी शासनकाल के औसत भारतीय की जिन्दगी पर निगाह डालते हैं तो हमें उसका रहन–सहन स्तर बहुत ही निम्न कोटि का दिखाई देता है। उन दिनों के औसत भारतीय की जिन्दगी की आम विशेषतायें इस प्रकार थीं–अपर्याप्त एवं असंतुलित भोजन, आदिकालीन आवास, सामाजिक सुरक्षा एवं सांस्कृतिक सुविधाओं का अभाव, वर्ग एवं जातिगत अत्याचार, भू–राजस्य, लगान एवं ऋण का किसानों पर भारी बोझ, बेरोजगारी आदि। इन सबको देखकर उस समय के भारत के आम आदमी का जो चित्र हमारी आँखों के सामने उभर सकता है वह आधा पेट खाकर, नंगे अथवा अधनंगे बदन वाले और अनेक बीमारियों से ग्रस्त गन्दी और संकरी कोठरियों में रहने वाले इन्सान का ही चित्र उभरता है। 1927–28 में बंगाल के हैल्थ डायरेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में कहा था : "बंगाल में आजतक किसानों का अधिकांश भाग ऐसा भोजन खाने लगा है कि जिसे खाकर चूहे भी पाँच सप्ताह से ज्यादा नहीं रह सकते "अपर्याप्त भोजन मिलने के कारण उनके बदन में इतनी कम शक्ति रह गई है कि वे घातक बीमारियों के संसर्ग में आते ही उसके शिकार हो जाते है" लगभग इसी प्रकार की टिप्पणी–डब्लू–डब्लू हंटर ने अपनी पुस्तक "इंग्लैण्ड्स वर्क इन इंडिया" में इन शब्दों में की थी, "भारत की चालीस करोड़ जनता अपर्याप्त भोजन परजीवन निर्वाह करती है।" इसी प्रकार सर चार्ल्स एलोट ने कहा था कि, "मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आधी खेतिहर जनता पूरे वर्ष के बीतने पर भी एक बार भरपेट भोजन नहीं कर पाती।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों के आने से पूर्व जो देश दुनिया में सम्पन्न एवं समृद्ध माना जाता था वह गरीब, पिछड़ी हुई एवं गतिहीन अर्थव्यवस्था के रूप में बदल गया। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की गरीबी और गतिहीनता को भारत के विद्वानों ने ही नहीं बल्कि अंग्रेज विद्वानों तक ने स्वीकार किया थां एडिनबर्ग में 1879 एवं 1880 के अपने भाषणों के दौरान डब्लू–डब्लू हंटर ने स्वीकार किया था कि "पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त

रिकार्डों में दिए गए तथ्यों की वर्तमान भारत के साथ गहराई से तुलना करने पर मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश होना पड़ा है कि भारत जब हमारे हाथों में आया था उसकी तुलना में अब अधिकांश जगह जीवन जीना अधिक मुश्किल हो गया है।" इस प्रकार इन ऊपर बताये गए विभिन्न संकेतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों के शासनकाल में भारत के आर्थिक विकास की गति पूर्णतया अवरुद्ध हो गई थी और हम आर्थिक गतिहीनता की स्थिति में पहुँच गये थे।

गरीबी एवं गतिहीनता के कारण

यहाँ तक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि डेढ़ शताब्दी तक भारत में आर्थिक गतिहीनता की स्थिति क्यों और कैसे बनी रही? क्या इसका कारण भारत में प्राकृतिक साधनों एवं तकनीकी प्रतिभा की कमी को माना जा सकता है? विचार करने पर लगेगा कि ये कारण नहीं हो सकते। प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से तो भारत प्रारम्भ से ही विश्व में काफी आगे रहा है। यहाँ की उपजाऊ भूमि, सब प्रकार के खनिज पदार्थ, जलवायु आदि आज भी इसे प्राकृतिक दृष्टि से सम्पन्न देश बनाये हुए हैं।

1800 ई0 के पहले भारत की कृषि एवं उद्योगों के क्षेत्र में उन्नति उसकी तकनीकी प्रक्रिया का जीता–जागता प्रमाण रही हैं। यहाँ के व्यक्ति सब प्रकार से कुशल एवं परिश्रमी भी रहे हैं। तो फिर, इस जड़ता के क्या करण हो सकते हैं? इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अलग–अलग मत व्यक्त किए हैं। वीरा एन्सटे, बुकानेन, नावेल्स, डेविस आदि विद्वानों ने भारत की जड़ता के लिए जनसंख्या वृद्धि, धार्मिक दृष्टिकोण, सामाजिक परम्पराओं आदि को उत्तरदायी माना था। दूसरी ओर, भारतीय राष्ट्रीय नेताओं व विद्वानों ने अंग्रेजों की उपनिवेशी शोषण की नीति को ही भारत की गरीबी का प्रमुख कारण माना था। यहाँ हम संक्षेप में इन कारणों की विवेचना करेंगे –

1. **जनसंख्या वृद्धि** – कुछ लोगों ने भारत की गरीबी एवं गतहीनता का प्रमुख कारण तेज से बढ़ती हुई जनसंख्या को बताया था किन्तु दादा भाई नौरोजी ने इसका सटीक एवं तर्कपूर्ण खंडन किया। उनका कहना था कि 19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड और वेल्स की जनसंख्या तीन गुने से भी ज्यादा बढ़ी तो भी उनकी प्रति व्यक्ति आय साढ़े चार गुना बढ़ी, जबकि भारत, की जनसंख्या में इनकी तुलना में बहुत कम वृद्धि होने पर भी यहाँ प्रति व्यक्ति आय कम हुई। 1881 से 1941 के बीच भारत की जनसंख्या 55 प्रतिशत बढ़ी जबकि इसी दौरान जापान की जनसंख्या लगभग दुगुनी हो गई तो भी जापान की प्रति व्यक्ति आय में 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि भारत की प्रति व्यक्ति आय में मुश्किल से 0.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अतः जनसंख्या वृद्धि को भारत की आर्थिक जड़ता का प्रमुख कारण नहीं माना जा सकता।

2. **धार्मिक दृष्टिकोण** – कुछ लोगों का यह कहना था कि भारत में प्रचलित हिन्दु एवं बौद्ध धर्मों ने सांसारिकता से मुख मोड़कर संसार से परे के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर ही अधिक जोर दिया था जिससे विकास में बाधा पड़ी। किन्तु स तर्क को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'एक हाथी भले ही सुई की नोक में से निकल जाये किन्तु अमीर व्यक्ति स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा सकता' यह कहने वाले ईसाई मत से ज्यादा और कौन धर्म असांसारिक हो सकता है। अतः ऐसे ईसाई मत को मानने वाले देश यदि प्रगिति कर सकते हैं तो भारत क्यों नहीं। इसके अलावा, हिन्दू धर्म में जो बहुत सी ऐसी बातों पर जोर दिया गया है जिनसे व्यक्ति को उद्यम एवं परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है। प्रो0 ल्यूइस के अनुसार यह सोचना भी गलत है कि अपनी आत्मा के विकास की धुन में कोई व्यक्ति विकास के अवसरों को खो देता है। भारतीय विद्वानों ने यह भी कहा कि यदि अंग्रेजों के आने से पहले भारत इसी हिन्दू धर्म को अपनाते हुए संसार का सबसे सम्पन्न देश हो सकता था तो अब क्यों नहीं। अतः भारत के धार्मिक दृष्टिकोण को भारत की गरीबी के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

3. **सामाजिक संस्थायें एवं दृष्टिकोण** – कुछ लोगों ने संयुक्त परिवार, विवाह प्रथा, जाति प्रथा आदि सामाजिक संस्थाओं तथा छूआछूत; महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण, शारीरिक श्रम के प्रति दृष्टिकोण, परम्पराओं एवं मान्यताओं पर अधिक विश्वास आदि को आर्थिक जड़ता का कारण बताया। ये भारत के विकास के मार्ग में किसी एक हद तक अवश्य बाधक रही हैं, किन्तु इन्हें भी भारत की गरीबी का प्रमुख कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि लगभग ऐसी ही सामाजिक संस्थाओं वाला देश जापान प्रगति कर सकता था तो भारत क्यों नहीं। वस्तुतः पश्चिमी यूरोप में आज की प्रचलित सामाजिक संस्थायें एवं दृष्टिकोण उनके आर्थिक विकास की देन हैं, वहाँ पर भी पहले पिछड़ी हुई ही सामाजिक संस्थाये थीं। अतः सामाजिक

संस्थाओं में तो आर्थिक विकास होने पर अपने आप ही परिवर्तन आता चला जाता है। इसके अलावा, यह मानना भी गलत होगा कि भारत की सभी सामाजिक संस्थायें विकास के प्रतिकूल ही थीं।

4. **ब्रिटिश शासन की उपनिवेशी शोषण की नीति** – ब्रिटिश शासन काल में भारत की गरीबी व गतिहीनता के लिए जिम्मेवार जिन कारणों का ऊपर उल्लेख किया है; वे प्रमुख नहीं हो सकते। दादा भाई नौरोजी, रमेश दत्त, डा॰ वी॰ वी॰ भट्ट आदि विद्वानों ने भारत की इस गरीबी के लिए प्रमुख रूप से ब्रिटिश शासन एवं उसकी नीतियों को ही उत्तरदायी माना था। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन की भारत के विकास के प्रति उपेक्षापूर्ण एवं माना था। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन के प्रति उपेक्षापूर्ण एवं विकास–विरोधी नीति ही प्रमुख कारण था जिससे डेढ़ शताब्दी के दौरान भारत की प्रगति रुक गई और दुनिया के अन्य देशों की तुलना में भारत की स्थिति पिछड़ गई।

भारत पर पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने और बाद में सीधे ब्रिटिश सरकार ने राज किया। इसके कारण भारत स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त होकर वह ब्रिटेन का उपनिवेश बन गया। उपनिवेश के रूप में भारत का अंग्रेजों ने अनेक प्रकार से शोषण किया। उसने इस प्रकार की नीतियाँ अपनाई जिससे भारत का शोषण कर उससे प्राप्त साधनों को ब्रिटिश आर्थिक हितों को बढ़ाने में लगाया जा सके। रोस्टो दीर्घकालीन आर्थिक विकास के लिए सरकार की प्रभावी एवं अनुकूल नीतियों को आवश्यक शर्तें मानता है। विभिन्न देशों के आर्थिक विकास का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि उनके विकास के प्रारम्भिक चरणों में सरकार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। सोवियत, रूस, मैक्सिको और जापान इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। अधिकांश अल्पविकसित देशों की मन्द गति का कारण उनकी परतन्त्रता तथा सरकार द्वारा अनुकूल नीतियों को न अपनाया जाना ही रहा है। 19वीं शताब्दी में भारत के पास प्राकृतिक सोधन, तकनीकी प्रतिभा, परिश्रमी लोग आदि सब कुछ होने के बावदूद भी भारत प्रगति नहीं कर सका इसका कारण सरकारी नीतियाँ ही रही हैं। ब्रिटिश सरकार भारत के विकांस के प्रति तटस्थ ही नहीं रही बल्कि उसने भारत के विकास के विपरीत नीतियाँ बनाई। अतः यहाँ हम अंग्रेज सरकार की भूमिका तथा उसके द्वारा अपनाई गई विभिन्न नीतियों का विस्तार से विवेचन कर यह देखने का प्रयास करेंगे कि इसने किस प्रकार भारत के विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की थीं।

(i) कृषि सम्बन्धी नीतियाँ

हपविच

18वीं शताब्दी के अन्त में अंग्रेजों ने नई भू–धारण प्रणाली लागू कर जमींदारी, महालवाड़ी एवं रैयतवाड़ी प्रथा शुरू कर दी। इस नई प्रणाली के कारण धीरे–धीरे भू–स्वामी एवं भूमिहीन काश्तकार के रूप में दो वर्गों का निर्माण हो गया। अब जमींदार के रूप में एक नये सामंती वर्ग का उदय हो गया। यह काश्तकारों का खूब शोषण करता था। किसानों से लगान के रूप में मनमानी रकम वसूल की जाती थी। कई बार तो किसान को अपनी उपज का 60 प्रतिशत भाग तक लगान के रूप में देना पड़ता था। इससे किसान के पास गुजर करने लायक तक भी उपज नहीं बच पाती थी।

अंग्रेजी शासन के दौरान सिंचाई सुविधाओं के विस्तार एवं तकनीकी सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जो कुछ थोड़ा–बहुत कृषि पर ध्यान दिया भी गया तो उसका मुख्य उद्देश्य ब्रिटेन को कृषि उपज का निर्यात करना था। कृषि अब स्व–उपभोग के लिए न की जाकर बाजार के लिए की जाने लगी थी। कृषि का व्यावसायिकरण हो गया। कृषि में नकद फसलों का महत्त्व बढ़ गया। इस प्रकार अब भारतीय कृषि ब्रिटेन को कच्चे माल का निर्यात करने वाली बना दी गई।

चाय, कॉफी एवं नील बागानों का विकास विदेशी पूँजी एवं विदेशी स्वामित्व में हुआ। इन बागानों में मजदूरों का शोषण होता था। इन बागानों की उपजों के निर्यात के द्वारा भी अंग्रेज व्यापारी ही लाभ कमाते थे।

कुल मिलाकर देश के कृषि क्षेत्र में उत्पादकता काफी घट गई और किसान अभाव की जिन्दगी जीने लगे। उन पर कर्ज का बोझ भी लगातार बढ़ता जा रहा था।

कृषि में खाद्य फसलों के उत्पादन घट जाने तथा इसके विकास की ओर समुचित ध्यान नदिए जाने के कारण देश में बार–बार अकाल पड़ने लगे थे। इन अकालों की मार भी सबसे ज्यादा गरीब किसानों पर ही होती थी।

(ii) औद्योगिक एवं व्यावसायिक नीतियाँ

अंग्रेजों की औद्योगिक एवं व्यावसायिक नीतियों का मुख्य उद्देश्य भारत से सस्ती दरों पर कच्चा माल प्राप्त करना और ब्रिटिश उद्योगों में बने माल को ऊँची दरों पर भारत में बेचना था। इस प्रकार इन्होंने भारत का दोहरा शोषण किया। अंग्रेजों की इस नीति के मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन पक्ष थे –

(क) हस्तशिल्प उद्योगों का पतन – अंग्रेजी शासनकाल में भारत का एक बहुत बड़ा नुकसान यह हुआ कि उसके विश्व प्रसिद्ध परम्परागत हस्तशिल्प उद्योग नष्ट कर दिए गए। इन उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का चरित्र ही बदल गया। इन हस्तशिल्प उद्योगों में बने माल को विश्व भर में निर्यात करके जो भारत साधन सम्पदा का भरपूर अर्जन करता था उसे इंग्लैण्ड के उद्योगों में बने माल को खरीदने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। इन हस्तशिल्प उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण भारत में बेरोजगारी की समस्या भी खड़ी हो गई और कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ गया। जिससे कृषि क्षेत्र में अनेकों समस्याएँ उत्पन्न हो गई।

(ख) आधुनिक उद्योगों के विकास के मार्ग में बाधाएँ – अंग्रेज सरकार ने भारतीय उद्योगों को समायता देना तो दूर रहा बल्कि उनके मार्ग में अनेक ऐसी बाधाएँ खड़ी की जिनके कारण वे पनप ही नहीं सके। अंग्रेज सरकार द्वारा काफी लम्बे समय तक भारत के नये पनप रहे उद्योगों को संरक्षण मना करते रहना, भारत के सूती कपड़े पर ब्रिटेन में बहुत ऊँची दरों पर आयात कर लगाना, ब्रिटिश सामान पर प्रतिबन्धात्मक आयात कर लगाने में आनाकानी कररना, भारतीय जाहजों पर माल लाने ले जाने के लिए प्रतिबन्ध लगाना, सरकारी भण्डारों के लिए खरीद में ब्रिटिश माल को प्राथमिकता देना, वित्तीय व बैंकिंग संस्थाओं के विकास पर प्रर्याप्त ध्यान न देना, आधुनिक उद्यमों की स्थापना के लिए भारतीय उद्यमियों को प्रोत्साहित न करना, आदि कई ऐसी नीतियों के कारण भारत औद्योगिक विकास न कर पाया। इस प्रकार देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ गया।

(ग) असमान व्यापार नीति – भारत और अंग्रेजों के बीच व्यापार समान पार्टियों के बीच व्यापार नहीं था, अतः अंग्रेजों की व्यापार नीति को असमान व्यापार नीति कहा जाता है। इसके निम्नलिखित है :

(अ) ईस्ट इण्डिया कम्पनी और अंग्रेज व्यापारी भारत से माल अपनी शर्तों और अपनी ही कीमतों पर लेते थे जबकि दूसरी ओर, भारत को ब्रिटिश वस्तुएँ खरीदने के लिए भी उन्हीं की शर्तें माननी पड़ती थीं।

(ब) अंग्रेजों को तो सरकारी संरक्षण व सहायता प्राप्त रहती थी जबकि भारत के व्यापारियों पर तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाए गए थे। इस प्रकार अंग्रेज व्यापारी और भारतीय व्यापारियों के बीच जो प्रतियोगिता होती थी उसमें अंग्रेज व्यापारी भारी पड़ते थे।

इस असमान व्यापार नीति के कारण भारत का आयत और निर्यात दोनों में शोषण ही होता था।

(iii) ब्रिटिश पूँजी व उद्यम के प्रभाव

लगभग 19वीं शताब्दी के मध्य से अंग्रेजों ने भारत में प्रमुख रूप से जिन क्षेत्रों में पूँजी निवेश किया था वे थे : रेलवे, बन्दरगाह, संचार, जहाजरानी, बिजली, कोयले व सोने की खानें पेट्रोलियम, बैंकिंग, बीमा, वित्त और व्यापार आदि। इस प्रकार ब्रिटिश पूँजी ने भारत में प्रवेश करके धीरे–धीरे यहाँ के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर अपना अधिकार व नियन्त्रण कर लिया। फिर इस नियन्त्रण के बलबूते पर उन्होंने इस देश की अर्थव्यवस्था को अपनी इच्छा के अनुसार अपने हित में चलाया। ब्रिटिश पूँजी निवेश व उद्यम ने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रमुख रूप से दो दिशाओं में नुकसान पहुँचाया।

(अ) भारत के श्रम व प्राकृतिक साधनों का शोषण – विदेशी पूँजी ने भारत के श्रम व प्राकृतिक साधनों का बड़ी बेरहमी से शोषण किया। इस शोषण का सबसे दर्दनाक और दर्दनाक और भीषण रूप चाय बागानों और कोयला खानों में देखा जा सकता था। यूरोपीय बागान–मालिकों ने चाय बागानों में काम करने वाले गरीब मजदूरों के जैसा और जिस प्रकार का अमानवीय शोषण किया था उसका उदाहरण हतिहास में मिलना कठिन है।

खानों से खनिज पदार्थ निकालने की विधियाँ भी बहुत ही अपव्ययपूर्ण थीं। अंग्रेज भारतीय खानों का अन्धाधुन्ध प्रयोग करते थे। इससे देश की खनिज सम्पदा काफी बड़ी मात्रा में वैसे ही नष्ट हो जाया करती थी। उन्होंने इस खनिज सम्पदा के संरक्षण एवं दीर्घकालीन उपयोग के बारे में कोई चिन्ता नहीं की। इसी प्रकार कृषि व बागानों के क्षेत्र में भी भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

(ब) विकृत विकास संरचना – ब्रिटिश पूँजी मुख्य रूप से उन्हीं उद्योगों में लगाई गई जिनसे भारत की बजाय ब्रिटेन का हित ही अधिक हो सकता था। अंग्रेजों ने उन्हीं व्यवसायों में पूँजी लगाई जो ब्रिटेन के उद्योगों के पूरक थे तथा उन उद्योगों में पूँजी लगाने से जानबूझकर बचा गया जो ब्रिटेन के उद्योगों से प्रतियोगिता कर सकते थे। इसलिए ब्रिटिश पूँजी मुख्य रूप से रेलवे, बन्दरगाह, संचार के साधन, बिजली उत्पादन, सिंचाई के साधन, बागानों, कोयला खानों, बैंकिंग, बीमा आदि में लगाई गई। ब्रिटिश पूँजी ने उन मूलभूत उद्योगों के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जो किसी भी आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था के केन्द्र बिन्दु होते हैं जैसे लोहा व इस्पात, मशीन निर्माण उद्योग आदि। इसी प्रकार उन उद्योगों के विकास की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया जिनका कच्चा माल भारत में ही मिलता था, किन्तु जो ब्रिटिश उद्योगों के प्रतियोगी थे जैसे कपड़ा व जूट उद्योग आदि। इस प्रकार अंग्रेजी शासन के दौरान भारत में विदेशी पूँजी निवेश के तौर–तरीकों ने विकास की विकृति संरचना को जन्म दिया।

(iv) आर्थिक निकास

आर्थिक निकास से तात्पर्य अंग्रेजी शासन के दौरान भारत से इंग्लैण्ड को होने वाले साधनों के ऐसे हसतांतरण से था जिनके बदले भारत को कुछ नहीं मिलता था। आर्थिक निकास की इस धारणा को सबसे पहले दादा भाई नौरोजी ने स्पष्ट किया था और इसके द्वारा यह बताया था कि अंग्रेज बड़ी ही चालाकी से देश की काफी बड़ी साधन सम्पदा को देश से बाहर ले जा रहे हैं और इसके परिणामस्वरूप देश गरीब होता जा रहा है। नौरोजी के अनुसार 1835 से 1872 के बीच ही लगभग 50 करोड़ पौण्ड के बराबर आर्थिक निकास हुआ। एक अन्य अनुमान के अनुसार 1757 से 1939 तक भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 2 प्रतिशत से 3 प्रतिशत तक निकास के रूप में ब्रिटेन को जाता रहा। यह आर्थिक विकास मुख्यतः निम्नलिखित रूपों में होता था :

(अ) भुगतान–संतुलन की अदृश्य मदों के घाटे को पुरा करने के लिए आयातों की तुलना में वस्तुओं का अधिक निर्यात।

(ब) निजी पूँजी निवेश पर इंग्लैण्ड को दिया गया ब्याज, लाभांश तथा यूरोपियन अफसरों के वेतन, भत्ते, पेन्शन आदि।

(स) युद्धों व भारत पर विजय के सैनिक व प्रशाशनिक खर्चों की रकम जिनका भुगतान भारत को करना पड़ा।

(iv) ब्रिटिश रोजगार नीति

अंग्रेजों ने रोजगार देने में भारत के साथ भेदभाव बरता और इस माध्यम से भी देश का शोषण किया। सेना की कई टुकड़ियाँ ऐसी थीं जिनमें केवल अंग्रेजों को ही भरती किया जाता था। जहाँ तक सेना में कमीशन्ड अफसरों का सवाल था उन पर तो अंग्रेजों को ही नियुक्त किया जाता थां सिविल प्रशासन में भी सब प्रकार के ऊँचे पदों पर केवल अंग्रेज अफसरों को ही नियुक्त किया जाता था। सबसे मजेदार बात तो यह थी कि इन अंग्रेज अफसरों को भारतीयों की तुलना में बहुत ऊँचे–ऊँचे वेतन व भत्ते आदि दिए जाते थे तथा इन्हें अधिकार भी अधिक दिए जाते थे। इस नीति के दो मुख्य दुष्परिणाम हुए –

(अ) भारत के लोगों के लिए रोजगार के अवसर घट गए। खासतौर से ऊँचे पदों पर तो उनका जाना लगभग असम्भव–सा ही बना दिया गया था।

(ब) अंग्रेज कर्मचारी अपने वेतन के एक लाभ को इंग्लैण्ड में अपने बच्चों की शिक्षा अथवा खर्च के लिए भेजते थे तथा रिटायर होने पर अपने साथ पेन्शन व अन्य बचत की रकम को ले जाते थें इससे देश के भुगतान–संतुलन पर दबाव पड़ता था।

(vi) परिवहन व संचार साधनों का प्रभाव

अंग्रेजों ने भारत में परिवहन साधनों का विकास भी इसी दृष्टिकोण से किया जिससे कि देश के विभिन्न इलाकों से कच्चे माल को इकट्ठा करके बन्दरगाहों तक पहुँचाया जा सके तथा बन्दरगाहों से इंग्लैण्ड से आए माल को देश के विभिन्न इलाकों तक पहुँचाया जा सके। इसके अलावा इन साधनों का उपयोग भारत पर अंग्रेजी प्रशासन की पकड़ मजबूत करने एवं स्वतंत्रता संघर्ष को दबाने के लिए किया गया।

भारत में रेलों का निर्माण का ठेका इंग्लैण्ड की प्राइवेट कम्पनियों को न्यूनतम लाभ की गारण्टी पर दिया गया। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर करों का बोझ बढ़ गया। रेलों के लिए पटरियां भी इंग्लैण्ड से ही मंगाई गई। इससे इंग्लैण्ड के लोहा व इस्पात उद्योग का तो विकास हुआ जबकि भारत का लोहा–उद्योग अविकसित ही पड़ा रहा।

(vii) विश्व युद्धों का प्रभाव

ब्रिटिश शासकों ने भारत में पूंजीगत उद्योगों के निर्माण पर कोई ध्यान नहीं दिया था। दूसरी ओर, विश्व युद्ध के दौरान जब भारतीय माल की मांग काफी बढ़ गई तो भारत के उद्योगों को अपनी क्षमता से भी अधिक दिन–रात काम करना पड़ा। युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मशीनरी व उपकरणों का बहुत प्रयोग किया। इसके परिणामस्वरूप घिसाई व टूट–फूट की समस्या खड़ी हो गई। इस टूट–फूट की क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती। इसके फलस्वरूप देश की भौतिक परिसम्पत्ति में कमी आ गई। उत्पादकों एवं व्यापारियों के पास इन्वेण्टरीज के स्टाक की मात्रा भी घट गइ। इस प्रकार विश्व युद्धों के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था एक क्षत–विक्षत अर्थव्यवस्था बनकर रह गई थी।